उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-116
रीडर - एक
हिन्दी उपन्यास -
I - प्रेमचन्द्र का विशेष अध्ययन

प्रेमचंद : विवेचना

(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

सहयोग
संजीब कुमार

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
प्रो. निर्मला जैन
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
प्रो. असगर वजाहत
प्रो. गोपाल राय
प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र
प्रो. ललिताम्बा

संकाय सदस्य
प्रो. वी. रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

फरवरी, 2004 (पुनः मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2002

ISBN-81-266-0534-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित :

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2025

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा० लि०, 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड, प्रयागराज।

NFT-024

अनुक्रम

क्र.सं.	लेख का शीर्षक	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
	भूमिका		4
1	उपन्यास	प्रेमचंद	7
2	आदर्श और यथार्थ	रामविलास शर्मा	14
3	प्रेमचंद की उपस्थिति	निर्मल वर्मा	24
4	प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना	नित्यानंद तिवारी	35
5	प्रेमचंद और मध्यवर्ग	नलिन विलोचन शर्मा	43
6	प्रेमचंद की कला	रामविलास शर्मा	49
7	भूमि संबध, किसान आंदोलन और प्रेमचंद	कुँवरपाल सिंह	62
8	प्रेमचंद का नारी परिप्रेक्ष्य	जवरीमल्ल पारख	80
9	टूटी हुई नारी की बिखरी हुई छाया	शैलेश ज़ैदी	94
10	प्रेमाश्रम	रामविलास शर्मा	116
11	एक उपन्यास का अर्थ-ग्रहण असहयोग के दौर में 'प्रेमाश्रम'	वीरभारत तलवार	134
12	'रंगभूमि' : एक राजनीतिक उपन्यास	गोपाल	149
13	'रंगभूमि' : आत्माहुति की दारुण गाथा	शशिभूषण सिंहल	177
14	रंगभूमि : पराजय में मानवीय विजय की कथा	शंभुनाथ	190
15	गबन : मध्य वर्ग का अंतर्विरोध	शंभूनाथ	206
16	'गबन	कृष्णचन्द्र लाल	218

भूमिका

एम.ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम - 14 'हिन्दी उपन्यास - 1 (प्रेमचंद का विशेष अध्ययन)' से संबद्ध पाठ्य सामग्री के रूप में प्रस्तुत आलेख संग्रह तैयार किया गया है। अब तक आपने पाँच खण्डों में प्रस्तुत प्रेमचन्द तथा उनके चार प्रमुख उपन्यासों से संबंधित 18 इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। प्रत्येक खंड के अंत में हमने उस खण्ड के विषय तथा खंड में पढ़ाए जा रहे उपन्यास के विशेष अध्ययन के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची भी दी है। विषय विशेष की अधिक जानकारी के लिए संभव है आपको सभी उपयोगी पुस्तकें या ग्रंथ उपलब्ध न हो सकें। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह आलेख-संग्रह तैयार किया गया है। खण्डों तथा अतिरिक्त अध्ययन सामग्री के अध्ययन से पूर्व हमारी आपसे यह अपेक्षा थी कि आप प्रेमचंद के उन चार उपन्यासों को अवश्य पढ़े जिन्हें हमने इस पाठ्यक्रम में शामिल किया है। ऐसा करने पर ही आप उपन्यास के सभी पक्षों पर विस्तार से विचार कर सकेंगे।

प्रस्तुत 'आलेख संग्रह' को तैयार करते समय हमारी यह कोशिश रही है कि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व तथा उनके उपन्यासों से संबद्ध जो भी सामग्री हम इस पुस्तक में शामिल करें उनसे आपको इस पाठ्यक्रम के विषयों को समझने में अधिक सहायता मिले। यही नहीं हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि इन आलेखों से प्रेमचंद के लेखन के कुछ विशिष्ट पक्षों को उनके समग्र साहित्य को पृष्ठभूमि में आप समझ सकें तथा अपनी एक दृष्टि निर्मित कर सकें।

इस संग्रह का पहला निबंध प्रेमचंद द्वारा लिखित 'उपन्यास' है। इस निबंध को संग्रह में शामिल करने का हमारी उद्देश्य आपको प्रेमचंद के 'उपन्यास' संबंधी दृष्टिकोण से परिचित कराना है। प्रेमचंद उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र मात्र' समझते हैं। आलेख में आगे उन्होंने इस विषय पर विस्तार से उदाहरण देते हुए चर्चा की है। इसी आलेख में उन्होंने 'आदर्शवाद' और 'यथार्थवाद' पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका मानना है कि आदर्शवाद हमको निराशावादी बना देते हैं, हमें चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है। लेकिन आदर्शवाद हमारा ऐसे चरित्रों से परिचय करवाता है जो 'सांध्र प्रकृति' के होते हैं। प्रेमचंद उसी उपन्यास को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं जहाँ आदर्श और यथार्थ का समन्वय हो। आलेख के अन्त में वे नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि वे 'मानव-शास्त्र' के ज्ञान के बिना लेखन प्रारम्भ न करें। इस क्रम में दूसरा आलेख डॉ. रामविलास शर्मा का 'आदर्श और यथार्थ' है। इस आलेख में रामविलास जी ने प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ संबंधी मान्यताओं की व्याख्या की है। उनका यह भी मानना है कि जीवन के हर पक्ष की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न प्रेमचंद ने अपने साहित्य में किया है। चाहे हम उनके परिणामों से सहमत न हों लेकिन उन समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रेमचंद से अधिक यथार्थ आधार अन्यत्र दुर्लभ है। संग्रह का तीसरा आलेख निर्मल वर्मा का है। इस निबंध में निर्मल जी साहित्यकार प्रेमचन्द के लेखन के विविध आयामों से परिचित कराते हैं। निर्मल जी के अनुसार प्रेमचंद के अंतिम

उपन्यास और कहानियों में एक दूसरे प्रेमचंद की झलक दिखाई देती है, जिसमें निर्मल जी के शब्दों में 'सत्य का एक अखंडित बोध परिलक्षित' होता है और यही सत्य इतने वर्षों बाद भी उनकी उन रचनाओं में अपनी जीवंतता के साथ दृष्टिगत होता है। आगे चलकर लेखक जी ने प्रेमचंद के अंतिम उपन्यासों एवं कहानियों की कुछ अन्य उपलब्धियों की भी चर्चा की है। उनका मानना है कि आधुनिक कथा साहित्य का पूरा साहित्य तो नहीं लेकिन एक बड़ा अंश प्रेमचंद के 'कफन' से ही निकलकर आया है। अंत में उनका कहना है कि प्रेमचंद को स्वयं प्रेमचंद की परम्परा से ही बाहर करना आवश्यक है क्योंकि वे स्वयं अपने को पीछे छोड़कर नए बनते गए हैं और इस प्रक्रिया में उनका पिछला छोड़ा हुआ अंश भी मिला हुआ है। यही कारण है कि उनकी प्रासंगिकता आज भी कायम है।

चौथा आलेख नित्यानंद तिवारी जी का है। इस आलेख में उन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यासों की संरचना पर विचार किया है। उन्होंने प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना पर उठने वाले विविध प्रश्नों पर सोदाहरण चर्चा की है। इस संदर्भ में वे जिस विशेष प्रसंग में चर्चा करते हैं वह है- संरचनावादी आलोचकों द्वारा दिया गया भाषा को आत्यंतिक महत्व। इस बिन्दु पर विचार करते समय वे जैनेन्द्र के त्याग पत्र के संदर्भ में जैनेन्द्र और प्रेमचन्द की भाषा की तुलना करते हैं। अगला आलेख 'प्रेमचन्द और मध्यवर्ग' का है। इस आलेख में लेखक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग की स्थिति का अवलोकन किया है। उनके उपन्यासों में मध्यवर्ग का कौन सा वर्ग किस रूप में परिणति पाता है इसकी चर्चा भी लेखक ने की है। छठा आलेख डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा लिखा गया है। यह आलेख प्रेमचंद के साहित्य से संबद्ध है। उन्हें प्रेमचंद के कथा साहित्य की संवेदना और अभिव्यंजना पर विचार किया है। सातवाँ आलेख कुँवरपाल सिंह का है। इस आलेख में लेखक ने भूमि संबंधों और किसान आंदोलनों की चर्चा की है तथा प्रेमचंद के उपन्यासों में उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है, इसका विवेचन किया है। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के अध्ययन में लेखक द्वारा किसान आंदोलनों और अंग्रेजों द्वारा की गई भूमि व्यवस्था की जानकारी आपके लिए उपयोगी होगी। अगला आलेख जवरीमल्ल पारख जी का है। इस आलेख में लेखक ने प्रेमचंद युगीन नारी आंदोलनों की चर्चा करते हुए प्रेमचंद के कथा साहित्य में नारी जीतन के अनेक रूपों के चित्रण पर विचार किया है। 'सेवासदन' तथा 'गबन' का नारी चित्रण नारी जीवन के अलग-अलग आयामों को प्रस्तुत करता है। इन्हें समझने और इनका विश्लेषण करने के लिए यह जरूरी है कि आप प्रेमचंद के कथा साहित्य में प्रस्तुत नारी जीवन के विविध पहलुओं को समग्रता में जानें। इसी आशय से हमने यह आलेख संग्रहीत किया है।

उपर्युक्त आठ आलेख प्रेमचंद के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की समग्र चर्चा से संबद्ध थे। आगे के आलेख उनके उन उपन्यासों पर आधारित हैं, जिनका अध्ययन आपने पाठ्यक्रम में किया है। इस क्रम में संग्रह का नवाँ आलेख 'सेवासदन' उपन्यास से संबद्ध है। इसके लेखक शैलेश ज़ैदी हैं। इस आलेख में लेखक ने 'सेवासदन' के विविध पक्षों और उसकी प्रासंगिकता पर विस्तार से विचार किया है। उनकी मान्यता है कि आज के संदर्भों में भी 'सेवासदन' की

उपयोगिता और प्रासंगिकता है। इसमें सुमन की तपस्या समाज की खुली पराजय है। अगले दो आलेख 'प्रेमाश्रम' के विविध पक्षों से संबंधित है। इनमें से एक डॉ० रामविलास शर्मा का है। इसमें लेखक ने एक उपन्यास की विशेषताओं के आधार पर प्रेमाश्रम का मूल्यांकन किया है। उन्होंने इसमें प्रेमाश्रम की विषय वस्तु, जमींदार – किसान संघर्ष के विविध आयामों, चरित्रों की विशिष्टताओं आदि पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। दूसरा आलेख वीरभारत तलवार का है। लेखक ने इस आलेख में असहयोग और किसान आंदोलन के संदर्भ में प्रेमाश्रम पर विचार किया है।

अगले तीन आलेख प्रेमचंद के 'रंगभूमि' उपन्यास से संबंधित हैं। इस क्रम में पहला आलेख श्री गोपाल का है। लेखक ने राजनीतिक उपन्यास के रूप में रंगभूमि का मूल्यांकन किया है। इस आलेख में रंगभूमि की रचना के समय की राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए लेखक ने रंगभूमि में अंकित समकालीन राजनीति के कई पक्षों पर विचार किया है। अगला आलेख डॉ० शशिभूषण सिंहल का है। डॉ० सिंहल ने रंगभूमि में प्रेमचंद के 'परिवार प्रयोग' पर चर्चा की है। साथ ही उन्होंने सूरदास जैसे विलक्षण चरित्र के कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर भी विचार किया है। इस क्रम में अंतिम आलेख श्री शंभुनाथ का है। इस आलेख में उन्होंने रंगभूमि को पराजय में मानवीय विजय की कथा माना है। यह पराजय सूरदास की है जिसमें लेखक के अनुसार मानवीय विजय का संदेश निहित है। इस विवेचन में उन्होंने सूरदास के चरित्र के विशिष्ट बिन्दुओं की चर्चा करते हुए अपने विचार दिए हैं।

अंतिम दो आलेख 'गबन' उपन्यास से संबंधित हैं। इस क्रम में पहला आलेख श्री शंभुनाथ जी का ही है। उन्होंने इस आलेख में मध्यवर्ग के उस अन्तर्विरोध की चर्चा की है जो गबन में चित्रित है। लेखक के अनुसार प्रेमचंद चाहते थे कि मध्यवर्ग अपने अंतर्विरोधों पर विजय पाकर अपनी ऐतिहासिक भूमिका को पहचाने और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'रमानाथ' के चरित्र का निर्माण किया। लेखक के अनुसार 'गबन' में केवल आभूषण की समस्या ही नहीं है अपितु मध्यवर्गीय नारी-मुक्ति की भी समस्या है। इसके साथ ही लेखक ने रमानाथ के चरित्र के कुछ अन्य पहलुओं पर भी चर्चा की है। अगला आलेख कृष्णचन्द्र लाल का है। इस आलेख में लेखक ने माना है कि गबन 'मध्यवर्गीय मनुष्य के आत्मप्रवंचना पूर्ण चरित्र की करुण गाथा' है जिसे प्रेमचन्द जी ने मनोवैज्ञानिक सच्चाई के साथ चित्रित किया है। इन दोनों आलेखों के अध्ययन से आप पर समग्रता में 'गबन' की विशिष्टताओं पर विचार कर सकेंगे।

स्थान की सीमा के कारण हम चाहते हुए भी और आलेख नहीं दे पाए हैं फिर भी हमारी कोशिश रही है कि हम उन आलेखों का संग्रह करें जिनके विषय विशेष पर आपकी एक दृष्टि बन सके। हम आपसे अपेक्षा करते हैं कि पाठ्यक्रम के विविध खण्डों के साथ ही आप इस आलेख संग्रह का अध्ययन करें। हमें आशा है कि खण्डों में दी गई पाठ्यसामग्री को अधिक गहन और विस्तार से समझने में यह पुस्तक आपकी सहायक होगी।

शुभकामनाओं के साथ !

स्मिता चतुर्वेदी

1. उपन्यास

प्रेमचंद

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की परिभाषाएँ नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती हैं उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। इसी चरित्र-समानता और विभिन्नता, अभिन्नता और भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। सन्तान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ है, उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान पर मर मिटता है, उनके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता से, अनुचित रूप से धन संग्रह नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता, जिस तरह भी हो कुछ धन संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भांति अन्य मानवीय गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है

कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देंखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है; वह भी संतान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है, जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर यह सारी बुरी आदतें छोड़ देता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए; यहीं से उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गये हैं, एक Idealist या आदर्शवादी दूसरा Realist या यथार्थवादी। Realist चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है, उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा; उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उल्टा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए Realism हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में Realism हमको Pessimist बना देता है, मानव चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए Realism अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना जह वास्तव में है। लेकिन जब Realism दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से

नजात मिले, वह भूल जाय कि चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ है; जहाँ उसे सजीव, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है तो फिर ऐसी पुस्तकें पढ़ें ही क्यों। अंधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें। इस कमी को Idealist पेज पूरा करता है। Idealism हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है। जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु-प्रकृति होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें व्यावहारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन काँइयेपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञानविहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है। Realism यदि हमारी आँखे खोल देता है, तो Idealism हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ Idealism में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए हम वही उपन्यास उच्च कोटि के समझते हैं जहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया हो। उसे आप Idealistic Realism कह सकते हैं। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी के हैं। चरित्रों को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हों। महान से महान पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती है। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हम Idealist हैं। हमारे प्राचीन साहित्य पर Idealism की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य

मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा हैं। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

उपन्यास-साहित्य पर थोड़ी-सी विवेचना करने के बाद अब हम अपने हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। पाठकगण यह तो जानते ही हैं कि उपन्यास एक पश्चिमी पौधा है जो भारतवर्ष में लगाया गया है। हमारे यहाँ उपन्यास-काल से पहले ऐसे किस्से-कहानियों का बहुत प्रचार था जिनमें प्रेम और विरह के वर्णन ही प्रधान होते थे। प्रेमी एक निगाहे माशूका का 'कुश्तए नाज' हो जाता था। माशूका अपनी सहेलियों से अपनी विपत्ति कहानी सुनाती थी, आशिक साहब आहें भरते थे, सिर धुनते थे, घर पर खबर होती थी, यार समझाने के लिए जमा हो जाते थे, हकीम दवा करने जाते थे, पर इश्क के बीमार पर किसी दवा या समझाने-बुझाने का असर न होता था। दोनों महीनों, बरसों जुदाई की तकलीफे झेलने के बाद किसी हिकमत से मिल जाते थे। अक्सर किस्सों में तिलिस्म और ऐयारी के विचित्र दृश्य होते थे, जिससे कुतूहल बढ़ता था। उर्दू में 'तिलिस्म होशरुबा' बड़े-बड़े पृष्ठों के सत्ताइस जिल्दों में खत्म होता था और 'वोस्ताने ख्याल' सात जिल्दों में। उस वक्त तक हिंन्दी में उपन्यास का मैदान प्राय: खाली था। दो एक अनुवाद अवश्य निकल गये थे पर कोई उपन्यास-लेखक न पैदा हुआ था। उर्दू में तो उसके पहले 'फसाना आजाद' के रचयिता पंडित रतननाथ दर 'सरशार', मौलवी अब्दुल हलीम शरर, मौलाना मुहम्मद अली आदि कई अच्छे उपन्यासकार हो गये थे। बँगला में भी बंकिम बाबू के उपन्यास निकल चुके थे, लेकिन हिन्दी में मैदान खाली था। उस समय स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना हुई और वह हिन्दी में अनोखी, एकदम नयी चीज

थी। हिन्दी पाठक टूट पड़े और 'चन्द्रकांता' की खूब धूम हो गयी। यद्यपि 'चन्द्रकान्ता संतति' 'तिलिस्म होशरुबा' का अनुकरण मात्र है, लेकिन हिन्दी से आशिक-माशूक की जो कथाएँ छपतीं थीं, जिनमें न कोई भाव होता था न कोई प्रभाव, उन पाठकों के लिए चन्द्रकांता ही गनीमत थी। समझ में नहीं आता कि जब अन्य भाषाओं से ऐसे-ऐसे उपन्यासकार पैदा हुए जिनका जोड़ अब तक पैदा नहीं हुआ तो हिन्दी में क्यों यह मैदान खाली रहा।

'चन्द्रकान्ता' के बाद देवकीनन्दन ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें उपन्यास के अंकुर मौजूद थे। ऐयारी की ऐसी हवा बँधी कि उनके बाद भी बहुत दिनों तक ऐयारी के किस्से निकलते रहे। उसके बाद जासूसी उपन्यास निकलने शुरू हुए जो अधिकांश European detective stories के अनुवाद होते थे। कुछ दिनों तक जासूसी उपन्यासों की खूब धूम रही और बहुत संभव था कि उसके बाद मौलिक उपन्यासों की बारी आती, लेकिन इसी बीच में बंगला उपन्यासों का रेला शुरू हुआ और वह अभी तक जारी है। बंगला में अच्छे-बुरे जितने उपन्यास मिल सकते हैं उनका बिना कुछ सोचे-समझे अनुवाद कर लिया जाता है। किसी अन्य भाषा के रत्नों से अपना भंडार भरना आपत्ति की बात नहीं। सम्पन्नतम भाषाओं में अन्य भाषाओं के अनुवाद होते रहते हैं, लेकिन वह भाषा ही क्या जहाँ सब कुछ अनुवाद ही हो और अपना कुछ न हो। इस पहलू से देखिए तो 'चन्द्रकान्ता संतति' का महत्व बहुत कुछ बढ़ जाता है। कम से कम अपनी वस्तु तो है। हमारा ध्येय है कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनायें। क्या अनुवादों से राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया जा सकता है? एक मित्र से इस विषय पर वार्तालाप होने लगा तो उन्होंने कहा, 'हम यह मानते हैं कि अनुवाद से भाषा का महत्व नहीं बढ़ता लेकिन, जिन लोगों के लिए अनुवाद जीविका का प्रश्न है उन्हें आप क्या कह सकते हैं। इसका आशय यह हुआ कि जो लोग और किसी उपाय से जीविका का अर्जन नहीं कर सकते वे ही अनुवाद किया करते हैं। मगर इसी तरकीब से तो किसी त्याज्य विषय की रक्षा की जा सकती है। चोर के लिए चोरी भी तो जीविका ही का प्रश्न है फिर चोर को सजा क्यों दी जाती है? फिर, जब हम देखते हैं कि हिन्दी जानने वाला आदमी एक महीने में बंगला का इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि बंगला की साधारण पुस्तकें समझने लगे, तो बंगला से अनुवाद करने के लिए और भी कोई उज्र नहीं रह जाता। अगर अनुवाद ही करना है तो उन भाषाओं से किया जाये जो बंगला से

कहीं संपन्न हैं। हमने अभी तक जिन गिने-गिनाये French या Russian पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है, अंग्रेजी अनुवादों से किया है। हमारे युवकों को, जिनका विचार साहित्य-सेवा करने का हो, उनको उचित है कि वे योरोपियन भाषाएँ सीखें और उनके रत्नों से हिन्दी का भंडार भरें। वह हमें कोई ऐसी चीज़ दे सकेंगे जिन्हें प्राप्त करने के हमारे यहाँ बहुत कम साधन है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। Art for Art's Sake के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, अनुराग और विराग, दु:ख और लज्जा - यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत ही में नहीं, योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका Interest क्षणिक होता है। ह्यूगो का ला मिजरेबुल, टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की हैं और अब तक उनका Interest कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख्याल है कि कुशल कलाकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उनसे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। Art for Art's Sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनैतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े

हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनायी देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का दिल न दहल उठे। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पावे, वरना उपन्यास नीरस हो जायगा।

अन्त में हम अपने सहृदय नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि यदि आप उपन्यास लिखना चाहते है तो पहले तैयारी कीजिए। बिना मानव-शास्त्र का उचित ज्ञान प्राप्त किये, कभी न कलम उठाइये। यों तो जिन्हें रचना की ईश्वरदत्त शक्ति प्राप्त है, वह आप ही आप लिख लेंगे, लेकिन मन में वीरभाव होने पर भी तो शास्त्रों का कुछ ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे प्रधान मनोवृत्ति है। एक बार किसी प्रसिद्ध चित्रकार से एक शरीफ ने पूछा कि 'ऐसे सुन्दर रंग आप कहाँ से लाते हैं?' चित्रकार ने मुस्कुराकर उत्तर दिया, 'जनाब, अपने दिमाग से।'

2. आदर्श और यथार्थ

रामविलास शर्मा

प्रेमचंद ने साहित्य की किसी हद तक वही व्याख्या की है जिसे हम भारतीय कहने के आदी हैं। साहित्य का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से है जो हमारे ऊपरी इंद्रियज्ञान से परे है, जो अनेकों में व्याप्त होते हुए भी एक और अनंत है। साहित्य की यह रहस्यात्मक कल्पना भारतीय विचारधारा की कोई अनोखी देन नहीं है, न वह पश्चिम के कलाकारों के लिए ही अश्रुत और अपूर्व है। फिर भी इस युग में हम उस दृष्टिकोण को भारतीय कहने के आदी हैं और प्रेमचंद का साहित्य की इस प्रकार की व्याख्या करना उन पर इस युग के और उसकी भारतीयता के प्रभाव को बताता है। 'हंस' में उन्होंने लिखा था, "साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस ज़ाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति, छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है, जहाँ **Reality** अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है।" इससे मालूम होता है कि साहित्य का ध्येय, उसे व्यक्त करना नहीं है, जो है, बल्कि उसे, जिसे होना चाहिए। मनुष्य ने आपस में तमाम भेद-भाव कर लिये हैं; साहित्य इन्हीं का चित्र खींचने से संतुष्ट नहीं,-वह उनके परे मनुष्य-मात्र की उस एकता का चित्र खींचना चाहता है जो अब भी है, पर छिपी हुई है और जिसे हमारे समाज में व्यक्त होना चाहिए। हमें यथार्थ से मतलब नहीं क्योंकि मनुष्य यथार्थ इन्हीं भेद-भावों को समझ बैठा है; हमें उस सच्चे यथार्थ से मतलब है जो निर्मल निष्पाप इस ऊपरी यथार्थ के नीचे छिपा हुआ है। इस सच्चे यथार्थ को हम आदर्श कह सकते हैं क्योंकि हम उस तक पहुँचना चाहते हैं। और व्यक्त रूप में अभी वह हमारे पास नहीं हैं।

साहित्य की प्रति उनका एक दूसरा दृष्टिकोण भी हमारे सामने आता है। जिसे हम विदेशी और पश्चिमी कहने के आदी हैं। इसके अनुसार साहित्य किसी परोक्ष यथार्थ-जो निर्मल, सनातन और अखंड है-को नहीं व्यक्त करता वरन उसकी सृष्टि ही दो तत्वों के द्वंद्व से होती है जो हमेशा बदलने वाले हैं। सत्य और असत्य का संघर्ष ही साहित्य है और ये 'सत्य' और असत्य' सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं,-उनकी कोई स्वतंत्र, अमर सत्ता नहीं है। जैसा उन्होंने लिखा था, "सत्य और असत्य का संघर्ष रामायण और महाभारत-काल से लेकर बीसवी, सदी तक बराबर चला आता है और जब

तक एक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी, यह संघर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा।'' एक चिरंतन सत्य में संघर्ष असम्भव है; संघर्ष उनमें होता है जो परिवर्तनशील हैं। इसलिए साहित्य का सम्बन्ध उस यथार्थ से है जिसने मनुष्य को मनुष्य से जुदा कर रखा है और जो बदलने वाला है। यह जुदा करने वाली वस्तु आदर्श नहीं है; इसलिए उसे यथार्थ कह सकते हैं। और यहीं से प्रेमचंद में हम इन दोनों का संघर्ष देख सकते हैं।

साहित्य में जो प्रचलित यथार्थवाद है, उसकी प्रेमचंद ने अनेक स्थलों पर निंदा की है और साहित्यिकों को उससे बचने के लिए सचेत किया है। यथार्थवाद मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण है और इस प्रकार का चित्रण मनुष्य को दुर्बलताओं की ही ओर ले जा सकता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर कहता है, ''यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी (इच्छाओं और प्रवृत्तियों की) नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यंत भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें, तो संसार नरक-तुल्य हो जाय।'' एक भयंकर यथार्थ 'है', इससे नाहीं नहीं की जा सकती; अपने क्षेत्र में वह भी एक सत्य है। परंतु साहित्य में तो हम एक आदर्श उपस्थित करते हैं; इस यथार्थ को हम आदर्श कैसे मान सकते हैं? आगे चक्रधर कहता है कि दुर्बलताओं की ओर मनुष्य का मन अपने आप दौड़ता है; उसे उधर दौड़ाने की जरूरत नहीं। अगर दुर्बलताओं का चित्रण किया जाय तो उनमें भी सत्य और सुंदर की खोज की जाना चाहिए। प्रेमचंद यहाँ एक मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में यह बात मान लेते हैं कि दुर्बलताओं के चित्रण से मनुष्य का मन उनकी ओर खिंचता ही है; इसकी विरोधी बात को कि दुर्बल को देख मनुष्य स्वयं सबल बनने की चेष्टा करता है, वह एकदम अस्वीकार करते हैं। फिर इसी का क्या सबूत कि दुर्बलताओं में सत्य और सुंदर को पाकर मनुष्य उस सत्य और सुंदर को छोड़ दुर्बलताओं की ही ओर अधिक झुकेगा? तब तो उसकी आत्मा को संतोष होगा कि दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ अच्छाइयाँ उन्हीं के साथ लिपटी हुई उनके अंदर मौजूद हैं। साहित्य का ध्येय मनुष्य का पतन न होकर उत्थान ही है; एक ऐसा साहित्य भी हो सकता है जो नग्न यथार्थ का चित्रण करते हुए भी मनुष्य के उत्थान के लिए हो—इसकी ओर अभी प्रेमचंद ध्यान नहीं देते।

प्रेमचंद को यथार्थवाद से इसलिए भय है कि वह भयंकर है और मनष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है। उनका यह दृढ़ विश्वास, कि मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है

और उसकी कमज़ोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है, उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल कारण है। यदि हम किसी आदमी को उठाना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम यह दिखावें कि वह कितना ऊपर उठ सकता है न कि वह कितना नीचे गिर सकता है या गिर चुका है। स्वभावत: जब हम साहित्य को कटु अनुभव के क्षेत्र से खींच ले जाएँगे तो वह एक प्रकार का काल्पनिक स्वर्ग बन जायेगा जहाँ हमारे संग्राम-भीरु हृदय को सांत्वना मिलेगी। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि प्रेमचंद ने इस काल्पनिक स्वर्ग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वह कहते हैं, "मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले-वह भूल जाय कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों?" काल्पनिक स्वर्ग के निर्माताओं की यह पुरानी दलील है कि मनुष्य साहित्य या कला में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं देखना चाहता। इससे उल्टा दूसरा सिद्धांत है कि मनुष्य स्वभावत: साहित्य में यथार्थ की नकल करना चाहता है,-कुछ लोग तो कला की सृष्टि ही इस प्रवृत्ति से मानते हैं। दूर जाने की जरूरत नहीं; स्वयं प्रेमचंद ने लिखा है, "कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।" इससे मालूम होता है कि कला यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है परंतु वह एक काल्पनिक स्वर्ग की रचना नहीं करती। यदि मनुष्य साहित्य में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं चाहता, तो फिर यथार्थ का यह भ्रम खड़ा करने की क्या ज़रूरत है? यथार्थ से भागने वाले के लिए जैसे यथार्थ वैसे उसका भ्रम,-बल्कि भ्रम से शायद उसे ज्यादा भय हो क्योंकि जीवित मनुष्य से मनुष्य का भूत ज्यादा भयकारी होता है।

वास्तव में कल्पनावादियों को यथार्थ के चित्रण से जो चिढ़ है वह इसलिए नहीं कि कला में उसकी पुनरावृत्ति मनुष्य को भाती नहीं बल्कि इसलिए कि यथार्थ का सामना करने का उनमें साहस नहीं। शायद कोई कल्पनावादी इस बात को ईमानदारी के साथ स्वीकार न करेगा क्योंकि इससे उसकी कमज़ोरी साबित होती है, परंतु प्रेमचंद के संघर्ष में

कल्पनावाद के विरोधी तत्त्व ने उनसे इस कमज़ोरी को साहस के साथ स्वीकार कराया है। वह मानते हैं कि यथार्थ इतना कटु है कि हमें निराशा से बचने के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग रचने की ज़रूरत होती ही है। "यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है-यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई नज़र आने लगती है।"

इस निराशावाद से बचने के लिए आदर्शवाद की ज़रूरत पड़ती है। वास्तव में यथार्थ से भागने पर निराशा का रंग और गहरा ही हो जाता है; काल्पनिक स्वर्ग में दुबकने की आशा टिकाऊ नहीं होती। आशा तो संघर्ष से ही उत्पन्न होती है, जब हम लड़ते रहते हैं और आशा करते हैं कि आगे विजयी भी होंगे।

यहाँ पर आदर्शवाद को साहित्य में लाने के लिए प्रेमचंद यथार्थवाद की सहायता भी ज़रूरी समझते हैं लेकिन सिर्फ इसी हद तक कि पढ़ने वाला भुलावे में आ जाय और यह न जानने पाए कि लेखक सरासर झूठ बोलकर उसका मन बहला रहा है। इस आदर्शवाद और यथार्थवाद के सम्मिश्रण को वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं जो हमें स्टैलिन के समय के कुछ रूसी साहित्यिक आंदोलनों की याद दिलाता है जिनमें आदर्शवाद के साथ फिर समझौता किया गया है। लेखक मनुष्य की कमजोरियों का चित्रण करे लेकिन हमेशा यह दिखावे कि उसने उन पर विजय पाई है। साहित्यकार हमारे भीतर सद्भावनाओं का संचार करे, इसके लिए "ज़रूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, तो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ; बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसे; बल्कि, उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें।" इस तरह यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचंद समझौता करते हैं; भयंकर होने पर भी जब यह दिखाया जायेगा कि आदर्शवाद उसकी गर्दन पर सवार है तो लोगों का भय दूर हो जायगा और वे आदर्शवाद पर श्रद्धा करने लगेंगे।

एक तरह से प्रेमचंद ने यथार्थवाद को मनुष्य की कमज़ोरियों का पर्यायवाची मान लिया है। लेकिन यथार्थ में सच्चे साधु पुरुष भी तो होते हैं जिनके अंदर कमज़ोरियों से अधिक शहज़ोरियाँ होती हैं? अपनी ही व्याख्या से जैसे चिढ़कर वह पूछते हैं, "क्या

यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा, क्या उसके सेवामय, तपमय जीवन का चित्रण मंगलकारी नहीं है? "यह यथार्थ से दूसरा समझौता है; यथार्थ के भीतर आदर्श से जो कुछ मिलता-जुलता है, उसे हम लेने के लिए तैयार हैं। लेकिन आगे चलकर वह साहित्य में असुंदर को भी लेने के लिए तैयार हैं, इस शर्त पर कि सुंदर की सुंदरता बिगड़ने न पाए। यह वही पहले की बात है कि आदर्श को हमेशा यथार्थ की गर्दन पर सवार रखा जाय। असुंदर के सहयोग से सुंदर और भी चमक उठता है। "साहित्य में असुंदर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिए कि सुंदर को और भी सुंदर बनाया जा सके।'' यथार्थवाद का ऊँट आदर्शवाद के तम्बू में थोड़ी और गर्दन ढकेलता है। यथार्थवाद की नग्नता तो भयंकर होती है लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भर कर दिया जाए तो एक नया ही सौंदर्य पैदा हो जाता है। "कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और रहस्यों में आकर कविता बन जाती है, अपने स्पष्ट या नग्नरूप में वीभत्स हो जाती है।... ऊषा की लाली में जो सौंदर्य है, वह सूरज के सम्पूर्ण प्रकाश में हर्गिज़ नहीं।'' लेकिन ज़िंदा रहने के लिए ऊषा का प्रकाश ही काफी नहीं: हमें सूर्य के पूर्ण प्रकाश की भी ज़रूरत है। और कला का ध्येय जब तक मनुष्य का कल्याण है जब तक वह गुलाबी संकेतों से संतुष्ट नहीं रह सकती।

सुंदर और असुंदर का भेद तो वास्तव में मनुष्य के दृष्टिकोण पर निर्भर है। खोजने वाले के लिए 'वीभत्स में सुंदर और सत्य मौजूद हैं।' आगे चलकर इस वीभत्स का चित्रण ही कला का लक्ष्य बन जाता है। अपने आदर्शवादी रूप को लक्ष्य कर प्रेमचंद कहते हैं, "उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है,-उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है,-उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियों पड़े हुए होंठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ?'' लेकिन जीवन में इसी ग़रीबी और भोंड़ेपन से हम परेशान रहते हैं; साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर हम चिढ़ेंगे नहीं? क्या उससे हमारा मनोरंजन सम्भव है? जो मेहनत करते हैं उनके गाल सूखे हैं, ओठों पर पपड़ियाँ पड़ी हैं और जो उनकी कमाई से महल में बैठे मौज करते हैं उनके गालों और ओठों पर रंगीनी है, -क्या यह चित्र हमें निराश न बना

देगा? क्या साहित्यकार को यह न दिखाना चाहिए कि मेहनत करने पर रंगीनी इन ग़रीबों के ही चेहरे पर है और महल में आराम करने वाली के गाल सूख गए हैं? क्या आदर्शवाद की रक्षा ऐसे ही चित्रण से न होगी और आदर्शवादी दृष्टिकोण से क्या उन्नति भी इसी मार्ग से सम्भव नहीं है? आदर्शवादी की उन्नति वास्तव में अवनति है; यथार्थ से भागकर काल्पनिक स्वर्ग में शरण लेने वाले आशावाद का ज़ोरों से खंडन करते हुए प्रेमचंद कहते हैं, "उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दु:खावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंत-र्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गए, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।" साहित्य का यह लक्ष्य मान्य और हमारी चेष्टाओं को अपनी ओर केंद्रित करने योग्य है। साथ ही वह प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को भी भली भाँति स्पष्ट कर देता है।

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष से मिलता-जुलता हृदय और मस्तिष्क तथा कला और उपयोगिता का झगड़ा है। प्रेमचंद बुद्धिवाद से साहित्य को वैसे ही बचाना चाहते हैं जैसे उसे यथार्थवाद से। इसका कारण भी बहुत कुछ वही पुराना भय है कि बुद्धिवाद उन्हें संसार के कटु सत्यों का सामना करने के लिए बाध्य करेगा। वह कहते हैं "सच पूछिए तो कला-और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी ही ज़रूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाए।" साहित्य में भावुकता एक बहुत सस्ती चीज़ है जिसका अभाव ही आजकल साहित्य को ऊँचा बनाता है। जो चीज़ मीठी-मीठी दिल को लुभाने वाली लिखी जाती है उसे बचकानी कहकर हम टाल देते हैं। लेकिन प्रेमचंद का मतलब इस सस्ती भावुकता से नहीं। वे भावुकता के अंतर्गत मनुष्य की उन सभी प्रवृत्तियों को लेते हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित पूरी समाज के हित के लिए हैं। भावुकता की श्रेष्ठता दिखाने को वह एक विचित्र उदाहरण देते हैं। मान लीजिए एक स्त्री को कुछ लम्पटों ने घेर लिया और आप अकेले उसकी रक्षा नहीं कर सकते। यहाँ बुद्धिवाद कहेगा, अकेले पाँच से कैसे जीतोगे, चलो। आगे चलो। लेकिन भावुकता कहेगी, एक स्त्री की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है; चाहे प्राण चले जाये, लेकिन उसे इन दुष्टों के हाथ से बचाना होगा। ऐसी परिस्थिति में भावुकता मनुष्यता है; बुद्धिवाद वहाँ कायरता बन जाता है। प्रेमचंद भावुकता का सम्बन्ध हृदय से मानते हैं। और मनुष्य के हृदय में सत्कर्म की प्रेरणा स्वभावत: मौजूद है। इसलिए जब वह भावुकता का सहारा लेगा तो अवश्य सत्कर्म की ओर प्रेरित होगा। वास्तव में

यदि वीरता का भाव हृदय से उत्पन्न होता है तो वहीं से कायरता के भी उत्पत्ति माननी होगी। एक ही के लिए हृदय उत्तरदायी नहीं हो सकता। ऊपर के उदाहरण के विपरीत हमारे सामने बैरगिया नाला के ठगों की कथा है; वहाँ भावुकता से कथित दु:साहसी न हुए वरन बुद्धि से काम लेकर-एक-एक पर तीन-तीन मिलकर वार करने लगे और इस तरह से बुद्धि द्वारा विजयी हुए। प्रेमचंद को बुद्धिवाद से इसलिए भय नहीं है कि वह कायरता है वरन इसलिए कि वह उनके आदर्शवाद की भावुक कल्पना को ढहा देता है।

जब साहित्य हृदय की वस्तु हो जाती है तो उसका ध्येय भी आनंद उत्पन्न करना रह जाता है। साहित्य से रस की सृष्टि, उसका ध्येय आनंद मात्र होना, प्रेमचंद की 'भारतीयता' का प्रमाण है। विदेश में भी रोमांटिक कवियों ने साहित्य का ध्येय आनंद माना है और जब उपयोगितावादियों से संघर्ष हुआ है तो उन्होंने आनंद की ही उपयोगिता सिद्ध की है। साहित्य का आनंद ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसे सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है। इसका एक उदारहण शेली की 'डिफेन्स ऑव पोएज़ी' में है। एक जगह प्रेमचंद कहते हैं कि सत्य से मनुष्य का तीन प्रकार का सम्बध होता है। एक जिज्ञासा का, जो दर्शन का विषय है; दूसरा प्रयोजन का, जो विज्ञान का विषय है और तीसरा आनंद का जो साहित्य का विषय है। सत्य की उपयोगिता, इस तरह विज्ञान का विषय बन जाती है। जहाँ साहित्य में प्रयोजन होगा, वहाँ वह उतना ही वैज्ञानिक और भावुकता से रहित होगा। उसका सम्बन्ध हृदय से न होकर मस्तिष्क से जुड़ जायगा। परंतु बाद में वह इसी आनंद में उपयोगिता की भी खोज करते हैं। उपयोगिता का प्रश्न जब एक रोमांटिक को बुरी तरह झकझोरता है तब वह आनंद को ही उपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसी तरह प्रेमचंद भी कहते हैं। मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वत: एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दु:ख भी।... प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनंद मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।'' बात वही पुरानी है; आनंद हममें आगे बढ़ने और विकसित होने की क्षमता उत्पन्न करता है। मनुष्य को कर्म के

लिए प्रेरणा हृदय से मिलती है; आनंद इस प्रेरणा-केंद्र को ही प्रभावित करता है और इसीलिए मनुष्य में सत्प्रेरणाओं का भी जन्म होता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास की रामायण का आनंद ले एक व्यक्ति राजनीति के समर में कूद सकता है क्योंकि साहित्यिक आनंद उसके अंदर दूसरों के दुख समझने की क्षमता और उन्हें दूर करने का साहस उत्पन्न करता है।

साहित्य का मुख्य ध्येय अब भी आनंद उत्पन्न करना ही है-उपयोगिता उसी के साथ गौण रूप से आती है। लेकिन साहित्य के प्रति जैसे प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही न रह यथार्थवादी भी हुआ, वैसे ही उपयोगिता आनंद के क्षेत्र में गौणरूप से समाई न रही वरन उसने ही प्रमुखता ले ली और आनंद गौण बन बैठा। साहित्य की सृष्टि के लिए वह आनंद की भावना को नहीं, वरन उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी बताते हैं। ''साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। तो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।'' साहित्य में उपयोगिता छिपाई जाती है तो इसलिए कि साहित्य अधिक उपयोगी हो सके। उपयोगिता अपने निरावरण रूप में लोगों को चौंका देगी। इसलिए उसे आनंद के वस्त्र पहनाना ज़रूरी है। फिर जैसे यथार्थ और जीवन के संघर्ष को प्रेमचंद ने ज़ोरदार शब्दों में साहित्य का ध्येय घोषित किया था, वैसे ही वह साहित्य की सिद्धि आनंद नहीं, उपयोगिता के सूत्र से करते हैं। वह कहते हैं, ''मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।'' आखिर पलड़ा ही उलट गया। यही नहीं कि साहित्य का ध्यये प्रचार है, अपितु प्रचार का वह सर्वश्रेष्ठ साधन भी है।

ऊपर दिए गए उद्धरणों से प्रेमचंद का संघर्ष भली भाँति समझ में आ जाना चाहिए। एक ओर उनमें बीते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक-ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है; दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल उसकी वीभत्स नग्नता को हमारे सामने ला खड़ा करता है। इसी कारण वह पुराने युग की विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी नए युग के साथ हैं; उनकी गिनती उन लेखकों में है जो एक युग की भावना

को अपने भीतर केंद्रित कर दूसरे युग के लिए मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं। अपने आदर्शवाद के कारण कहीं-कहीं वह समस्याओं का उचित निराकरण नहीं कर पाते; उनकी भावुकता उन्हें एक कल्पित समझौता ढूँढ़ निकालने के लिए बाध्य करती है। कहीं-कहीं समस्याओं को उनकी पूरी जटिलता के साथ वह पेश भी नहीं करते। परंतु यह दूसरा दोष, जो आदर्शवादी लेखकों की खास कमज़ोरी है, प्रेमचंद पर सबसे कम आरोपित किया जा सकता है। वास्तव में उनका आदर्शवाद उनकी बुद्धि का परिणाम था,-बुद्धिवाद का एक परिवर्तित रूप। जिस बुद्धिवाद से उन्हें भय था, और जिससे वह साहित्य की रक्षा करना चाहते थे, वही आदर्शवाद के विकृत रूप में उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है। उनकी आंतरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी। इसका प्रमाण यह है कि अन्य आदर्शवादियों की भाँति उन्होंने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए अपने आधार को ही नहीं तोड़ा-मरोड़ा। उदाहरण के लिए यदि वह किसान और ज़मीदारों में वर्ग-संघर्ष नहीं चाहते थे, वरन सोचते थे कि उनमें समझौता हो जायगा तो इसीलिए उन्होंने किसानों पर ज़मींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी पूर्ण भयानकता के साथ, उन्होंने किया है। दूसरा आदर्शवादी लेखक अपना निश्चित परिणाम सिद्ध करने के लिए यथार्थ के आधार को ही विकृत कर देता।

प्रेमचंद की रचनाओं में अध्ययन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण यही समस्याएँ हैं। हमारे जीवन का शायद ही कोई पहलू छूटा हो जिसकी गुत्थियों को प्रेमचंद ने सुलझाने की चेष्टा न की हो। हम उनके परिणामों से सहमत न हों, लेकिन नए युक्तिसंगत परिणाम निकालने के लिए यहाँ से अधिक यथार्थ आधार अभी दूसरी जगह न मिलेंगे। प्रेमचंद भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों से परिचित थे और उनका-सा परिचय हमें अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक की कृतियों में नहीं मिलता। नए प्रगतिशील लेखक साहित्य में अपने मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं लेकिन जितना सुबोध उनके लिए समस्या का परिणाम है, उतनी समस्या नहीं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न अंगों से अभी उन्हें वह परिचय नहीं प्राप्त हुआ जो प्रेमचंद की कृतियों में मिलता है। इसलिए यथार्थवाद का एक विशिष्ट आवरण पढ़ने हुए भी ये नए लेखक वास्तव में प्रेमचंद से अधिक आदर्शवादी हैं। प्रेमचंद ने हमारे जीवन की समस्याओं की छानबीन की है-जीवन की कटुता का सामना किया है; इसलिए निराशावादी न होकर जब वह हमारे सामने एक आदर्श रखते हैं; तब रूखे से रूखे आलोचक के निकट भी उनका आदर्शवाद क्षम्य हो जाता है। नए लेखकों को प्रेमचंद से सीखना है कि जीवन के कितने

अंगों का विस्तृत ज्ञान उन्हें प्राप्त करना है और परिणाम नहीं तो, कम से कम समस्या को किस प्रकार यथार्थवादी ढंग से साहित्य में पेश करना चाहिए। क्योंकि प्रेमचंद का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है, वह है समस्या से एक सुंदर परिणाम निकालने वाला। परंतु उनके अंतर में बसा हुआ यथार्थवादी समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है। जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, या समस्या को ही सामने रखकर संतोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।

समाज के जिन-जिन अंगों पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाला है, उनका अध्ययन करना अपने सारे सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करना है। उनकी कृतियों की विवेचना से हम समस्याओं से ही परिचित न होंगे वरन परिणाम खोजने में उनकी अतार्किकता और आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझकर आगे के लिए सचेत भी हो सकेंगे।

3. प्रेमचंद की उपस्थिति

निर्मल वर्मा

प्रेमचंद की मृत्यु को चार दशक से अधिक बीत चुके हैं। हर दशक के कथाकारों ने उन्हें अपनी-अपनी कसौटी पर परखा है, स्वीकारा है या अस्वीकारा है। ऐसे समकालीन लेखक भी हैं, जिन्हें शायद प्रेमचंद का नाम ही निरर्थक जान पड़े - क्योंकि उनकी सृजन-यात्रा में वह उन्हें किसी भी रूप में प्रासंगिक नहीं जान पड़ते; किंतु ऐसे कथाकारों की रचनाओं में भी हमें प्रेमचंद की अदृश्य छाया मिल जाती है। एक क्लासिक लेखक की यह अद्‌भुत विशेषता है कि हम उसके आविष्कारों को बिना उसके प्रति आभारी महसूस हुए भी अपना लेते हैं - शायद सबसे गहरा प्रभाव वह होता है, जब हम यह तक भूल जाएँ कि इस प्रभाव को हमने कहाँ से, किस स्रोत से प्राप्त किया है। हम अपनी स्वतंत्रता में एक ऐसी परंपरा का अनुकरण करते हैं, जो हर जगह है और किसी जगह दिखाई नहीं देती। क्या आज भी प्रेमचंद हमारे बीच अदृश्य-रूप से उपस्थित हैं? मैं आपका ध्यान इस प्रश्न की ओर आकर्षित करना चाहूँगा और यह भी कि एक लेखक की उपस्थिति से हमारा क्या अभिप्राय है?

यहाँ सबसे पहले मैं उस भ्रांति की ओर संकेत करना चहूँगा, जिसे एक अर्से से हमारे आलोचकों ने पोषित किया है - वह है किसी लेखक की उपस्थिति या प्रभाव को उसके विचारों या विश्वासों में खोजना, जबकि सत्य यह है कि साहित्य में किसी लेखक के विश्वास उसकी रचनाओं में अलग कोई हैसियत नहीं रखते। मैने जानबूझकर 'साहित्य में' कहा है, क्योंकि उसके बाहर उसके विश्वासों का अवश्य महत्व होता है, लेकिन बाहर भी अलग से उनके बारे में हमारी जिज्ञासा नहीं जाग पाती, यदि पहले से ही हम उसकी रचनाओं में एक विशिष्ट यथार्थ से साक्षात्कार नहीं कर पाते। शायद मैं अपनी बात को उलझाकर कह रहा हूँ, वास्तव में बात बहुत सरल है - यदि आज हम अपने बीच प्रेमचंद की उपस्थिति महसूस करते हैं - तो उनके प्रगतिशील विचारों या यथार्थवादी आदर्शों (या आदर्शवादी यथार्थ - आप जो भी कहना चाहें) के कारण नहीं - बल्कि उनकी रचनाओं में निहित मनुष्य, एक भारतीय मनुष्य की मानसिक बनावट के कारण, जिसे पगने, फूलने में सैंकड़ों वर्ष लगे थे - एक स्थिर व्यक्तित्व का चेहरा, जिसका दर्शन हमें पहली बार उनकी कहानियों - उपन्यासों में हुआ था। एक चेहरे का सत्य नहीं, बल्कि ऐसे सत्य का चेहरा, जिसे उन्होंने शहरी, ग्रामीण, कस्बाती चेहरों के बीच गढ़ा था - औपनिवेशिक स्थिति में रहने वाले एक हिंदुस्तानी की आर्कीटाइप छवि जो उनसे

हमारे साहित्य में नहीं थी। किंतु इससे ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों के लिए भी वह छवि अपनी उड़ानों के लिए एक स्थायी आधार-बिंदु, एक जमीन, एक तरह की 'बेस-कैंप' बन गई थी। इस कैंप से ऊपर जाते हुए अनेक लेखक-पर्वतारोही अपने भीतर प्रेमचंदीय संसार की तस्वीरें अपने साथ ले गये थे; यात्रा के दौरान इन तस्वीरों में अनेक मोड़-सलवटें, विकार और विकृतियाँ दिखाई दी थीं-बड़े घर की बेटियाँ अकेली पड़ती गईं पंच-परमेश्वर की जगह नकली 'जूडास' आ विराजे, बेकारी और बेरोजगारी के दिनों में बड़े भाई साहब का उत्साह इतना मंद पड़ गया कि अपने छोटे भाई के साथ गुल्ली-डंडा खेल सकें; प्रेमचंद का विश्वास कि एक भारतीय मनुष्य-वह किसान हो या एक निम्न मध्यवर्गीय कस्बाती अर्ध शिक्षित क्लर्क या कर्मचारी-अपनी पुराई खोई हुई खुशी को खोज सकता है-वह बाद के वर्षों में धीरे-धीरे एक मरीचिका-सा बनता गया। यह एक भारतीय लिबरल बुद्धिजीवी की मरीचिका थी, जिसकी झलक पहली बार बीसवीं शती के शुरू में दिखाई दी थी। हमें हैरानी होगी कि प्रेमचंद ही नहीं, भारत के अनेक शहरी बुद्धिजीवी-जिनमें स्वयं गांधीजी शामिल थे-(उनके 'हिंद स्वराज' के बावजूद) एक समय में भारतीय समाज की मुक्ति बाहर के दुश्मनों से छुटकारा पाने में खोजते थे-वह चाहे गाँधीजी की आँखों में विदेशी सत्ता हो, या प्रेमचंद की आँखों में समाज की कुरीतियाँ और अंधविश्वास हों; आशा यह थी, कि एक बार इनसे छुटकारा पाने के बाद हम दैन्य और दरिद्रता के आँसू भारतीय चेहरे से पोंछ सकेंगे। यह कुछ वैसा ही भ्रम था, जैसे कोई बीमार आदमी यह सोचे कि उसके रोग का कारण उसके मैले-कुचैले कपड़ों से जुड़ा है-एक बार हिम्मत जुटाकर वह अपने चिथड़ों को उतार फेंके और तब अचानक पहली बार देखे, कि समूची देह कोढ़ के जख्मों से अटी है; रोग कपड़ों में नहीं था, उल्टे उन्होंने ही रोग को अपने भीतर छिपा रखा था। वे सिर्फ बाहर से ही 'दुश्मन' प्रतीत होते थे, भीतर का दुश्मन कहीं और बैठा था।

भीतर का दुश्मन? आपमें से कुछ लोग सोचेंगे कि मैं आपको किसी टेढ़े-मेढ़े रास्ते से अस्तित्ववादी दर्शन की ओर ले जा रहा हूँ; कुछ दूसरे प्रबुद्ध, आधुनिक लोगों को शायद लगेगा कि मैं किसी भीतरी 'पाप' की ओर संकेत कर रहा हूँ, जिसका उल्लेख अक्सर हमें पश्चिम के अस्तित्ववादी कैथलिक लेखकों में मिलता हैं, किंतु यदि आपको मेरी बात से कर्म की जिम्मेदारी और पाप की जवाबदेही का हल्का-सा अहसास हो जाता है, तो मेरे लिए यह काफी है। आपको शायद यह भी महसूस होगा, कि इन मुहावरों में कुछ शब्द आपके जाने-पहचाने हैं, कर्म, पाप आदि; हम चाहे इनका दार्शनिक अर्थ ठीक-ठीक

न समझें, तो भी एक भारतीय किसान से लेकर एक करोड़पति भी इन शब्दों में कहीं-न-कहीं अपने संस्कारों की झलक पाता है; लेकिन जिम्मेदारी? जवाबदेही? इन शब्दों को पढ़कर हम तुरंत भड़क भी न जाएँ, तो भी कुछ परेशानी में पड़ जाते हैं; क्या इनसे 'विदेशी दर्शनों' की बू नहीं आती? यदि अपने कर्मों के कारण कोई गरीब भूखा रहता है, तो उसके प्रति हमारी जवाबदेही का क्या मतलब? कहने की जरूरत नहीं मैं इन विश्वासों को कुछ ज्यादा ही सरलीकृत ढंग से - एक पैरोडी-की तरह प्रस्तुत कर रहा हूँ; लेकिन इससे शायद कोई इनकार नहीं करेगा, कि जाने-अनजाने हम भारतीय अक्सर इन तर्कों की आड़ में अपने कर्मों की जिम्मेदारी से हाथ धो लेते हैं, लेकिन यदि हमारी जीवन प्रणाली में 'जिम्मेदारी' का स्थान नहीं, या बहुत नगण्य है, तो फिर स्वाभाविक प्रश्न उठता है-उसमें नैतिकता का स्थान कहाँ है? दूसरे शब्दों में-क्या बिना 'दायित्व बोध' के नैतिकता की चर्चा करना अपने में एक गहरा विरोधाभास नहीं है, जिसके रहते भारतीय मनीषा में शताब्दियों से ऊपर से नीचे तक एक काली दरार आ पड़ी है। क्या प्रेमचंद ने भारतीय आत्मा के बीच खिंची इसी खाई, खाई के अँधेरे और, इस अँधेरे में पनपनेवाले अंतर्विरोधों को देखा था?

अब आप पाएँगे, कि यह प्रश्न एक तरह 'अस्तित्व' का प्रश्न है, दूसरी तरफ संस्कृति का। यह सही है कि हम अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न को केवल अपने समय के तकाजों के संदर्भ में ही परिभाषित कर सकते हैं-लेकिन खुद समय के तकाजों के झूठ-सच को समझने के लिए हमारे पास केवल अपने अस्तित्व के अलावा कोई दूसरी कसौटी नहीं है। मुझे इस प्रश्न में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है कि प्रेमचंद कितने 'आधुनिक' थे, किंतु यदि आधुनिकता का मतलब अपने समय में अपने को परिभाषित करना है, तो अनिवार्यत: हमें इतिहास द्वारा खींची उस दरार या खाई का सामना करना पड़ेगा जो भारतीय चरित्र और मनीषा में पिछले दो सौ वर्षों से गहरी होती गई है। अंतत: क्या आधुनिक संदर्भ में प्रेमचंद की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता की समस्या इसी प्रश्न के साथ नहीं जुड़ी है? प्रेमचंद मनुष्य की बुनियादी अच्छाई में विश्वास करते थे-एक सुशिक्षित भारतीय लिबरल का आशावादी दृष्टिकोण उन्होंने अपने जीवन में सहज रूप से अपनाया था। लेकिन यह दृष्टिकोण एक उच्चवर्गीय यूरोपीय शिक्षित हिंदुस्तानी से काफी अलग था-भारतीय किसान के सहज जीवन की अंतरंग समझ और सहानुभूति के बल पर 'अच्छाई' की एक परिभाषा बनी थी, जो सीधे-सीधे एक भारतीय मनुष्य के 'धर्म' से जुड़ी थी। यहाँ मैं धर्म शब्द का प्रयोग ठेठ भारतीय संस्कारों के संदर्भ में कर रहा हूँ,

आध्यात्मिक आस्था के अर्थ में नहीं बल्कि दायित्वबोध के अर्थ में - जहाँ हर व्यक्ति अपने सामाजिक, पारिवारिक रिश्तों के परिवेश में अपनी जगह पहचानता है और उसमें रहकर ही अपनी सुविधा, सुरक्षा और अस्मिता महसूस करता है, जिसे हम शुद्ध रूप में - आत्म स्वाभिमान (sense of honour) मान सकते हैं। एक जमींदार का ऑनर किसानों के प्रति उसके दायित्व में उतना ही निहित है जितना एक ऋणी किसान का ऑनर इसमें है, कि वह भूखे रहकर भी अपनी सात पीढ़ियों तक महाजन का ऋण चुकाने में जुटा रहे। पंच की गद्दी के प्रति वफादार रहकर जिस तरह एक साधारण मनुष्य परमेश्वर बन जाता है, उसी तरह जीवन के हर क्षेत्र में अपनी जगह-चाहे वह 'जगह' वर्ण-व्यवस्था में ही निहित क्यों न हो, के प्रति निष्ठा रखने में ही मनुष्य का देवत्व छिपा रहता है। मनुष्य की जवाबदेही यहाँ भी है-किंतु वह व्यक्ति के स्वतंत्र से संकल्प से उत्पन्न नहीं हुई-वह एक 'दी हुई' पूर्व-निर्धारित, जिम्मेदारी है, समाज के प्रति, जाति के प्रति, परिवार के प्रति-इसलिए मनुष्य की पीड़ा उन विवशताओं से उत्पन्न होती है, जो उसे अपनी बुनियादी 'अच्छाई' से स्खलित करती है-उसे अपनी परंपरागत जगह से उन्मूलित करती है। प्रेमचंद अपने अधिकांश लेखन में कभी इस अच्छाई पर शंका नहीं प्रकट करते, क्योंकि उस पर शंका करने का मतलब होगा, एक हिंदुस्तानी के व्यावहारिक धर्म और दायित्वों पर शंका प्रकट करना। वह यदि अपनी आरंभिक कहानियों और उपन्यासों में समाज सुधार की बात करते हैं, तो इसलिए नहीं कि उन सुधारों के कारण मनुष्य सामंतवादी रिश्तों के भीतर एक स्वतंत्र, गरिमापूर्ण सत्ता उपलब्ध करेगा - बल्कि इसलिए कि वह इन रिश्तों के भीतर पुन: अपने धर्म और दायित्व को निर्विघ्न संपन्न करने की सुविधा पा सकेगा। उन्हें मनुष्य के सामाजिक रिश्तों में अदम्य विश्वास था -व्यक्ति उन्हीं के भीतर अपना धर्म निभा सकता है; किंतु वह 'धर्म' स्वयं मनुष्य की निजी वैयक्तिक आकांक्षाओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं के रास्ते में बाधा बन सकता है-इसकी पीड़ा और विवशता को वह अपनी आरंभिक रचनाओं में अधिक नहीं देख पाते थे। इसलिए उनमें एक सरलीकृत किस्म का सुधार का आदर्श छिपा था, जिसका रिश्ता समूचा भारतीय-समाज की बीहड़ आत्म-उन्मूलन की व्यथा से नहीं बैठ पाता था। यदि ये आरंभिक उपन्यास कमजोर हैं, तो इसलिए नहीं कि उनके आदर्श में कोई खोट है, बल्कि असली कमजोरी इसमें है कि उन लिबरल, सुधारवादी आदर्शों का भारतीय यथार्थ की कटु विभीषिका से कोई लेना देना नहीं था। यह विभीषिका क्या थी?

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों के अंग्रेजी राज ने युग-युग से चली आती किसानों की आत्म-निर्धारित मर्यादाओं, रिश्तों, खुद सामंतवादी समाज के भीतर इन रिश्तों को जोड़नेवाली धार्मिक कड़ियों को छिन्न भिन्न कर डाला था। यदि एक व्यवस्था किसान और उसकी जमीन के बीच शाश्वत, पवित्र रिश्ते को भंग कर देती है (जैसा कि अंग्रेजों की भूमि संबंधी व्यवस्था-जमींदारी व्यवस्था ने किया था) तो किसान के तमाम दूसरे रिश्ते भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत हो जाते हैं। प्रेमचंद इस विकृति को देख पाते थे-किंतु स्वयं यह 'सामाजिक विकृति' एक भारतीय किसान की आत्मा के भीतर अँधेरी दरार खींच सकती है......इस ओर यदि उनका ध्यान और अंतर्दृष्टि जा पाती, तो वह भारतीय किसान का चित्रण उतनी ही संपूर्णता और संवेदना के साथ कर पाते, जैसा उन्नसवीं शती में तोलस्तोय ने रूसी 'मज़िक' (गरीब किसान) की अभिशप्त आत्मा को अपने लेखन में दर्शाया था। तोलस्तोय के बारे में कहा जाता है कि पहली बार उनके उपन्यासों में रूसी किसान के दर्शन होते हैं; प्रेमचंद के उपन्यास में भी पहली बार किसान के दर्शन होते हैं-किंतु वह 'औपनिवेशिक किसान' था, उसके नीचे दबे भारतीय किसान का मूलचरित्र संस्कृति, धार्मिक आस्था (जो 'व्यावहारिक धर्म' से अलग है), मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के बारे में उसके परंपरागत विश्वास-उनके सृजन की रोशनी में ऊपर नहीं आते। प्रेमचंद ने भारतीय किसानों की 'ऐतिहासिक विकृति' को देखा था-किंतु उस चीज का मूल सांस्कृतिक टेक्सचर अपने गैर-ऐतिहासिक रूप में क्या था-जो विकृत हुआ था, उसकी अंतर्दृष्टि प्रेमचंद में नहीं मिलती। प्रेमचंद अक्सर उस पक्ष को अनदेखा कर देते हैं, जिसमें भारतीय किसान की सांस्कृतिक विरासत छिपी थी-यह विरासत उसके व्यावहारिक, सामाजिक 'धर्म' से कहीं ज्यादा गहरी और महत्वपूर्ण थी - एक शब्द में कहें - तो उसकी आध्यात्मिक विरासत। अँग्रेजी राज ने इस विरासत को जिस तरह आहत किया था, उसकी पीड़ा का आयाम प्रेमचंद के उपन्यासों में नहीं दिखाई देता-इसलिए उनके लेखन में उन्नसवीं शती के रूसी उपन्यासकारों का 'आध्यात्मिक अंतर्द्वन्द्व' नहीं मिलता, जो सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न होकर भी महज 'सामाजिकता' में नहीं चुक जाता। इस दृष्टि से प्रेमचंद सच्चे और बुरे अर्थों में 'तीसरी दुनिया' के लेखक थे, यह उनकी 'ऐतिहासिकता उपलब्धि' और कलात्मक सीमा थी, सीमा इसलिए, क्योंकि कला में हर लेखक की दुनिया पहली दुनिया होती है-खासकर एक भारतीय लेखक के लिए-जिसका अतीत, परंपरा और जीवनदृष्टि-बाकी दुनियाओं से मूलत: भिन्न रहे हैं। इतिहास का यह धर्म है कि वह हर देश को किसी-न-किसी दनिया के कटघरे में खडा कर सके: कलाकार का धर्म है कि वह हर

कटघरे से मुक्ति पाकर अपनी प्राथमिक और मौलिक दुनिया में प्रवेश करने का साहस जुटा सके।

यह साहस-कहना न होगा-उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में विवेकानंद ने जुटाया था; स्वयं प्रेमचंद के समकालीन गाँधी ने बड़ी सतर्कता से औपनिवेशिक दबावों और विकृतियों को भारतीय जीवन की मूलधारा और विकृति के संदर्भ में विश्लेषित करने का प्रयत्न किया था। ये लोग-खासकर गाँधीजी-चूँकि पश्चिमी संस्कृति के आलोचक थे, उन मार्क्सवादियों से बहुत अलग थे, जो एक तरफ औपनिवेशिकता की निंदा करते थे, दूसरी तरफ पश्चिम के विज्ञान और औद्योगिक शक्तियों को भारत-जैसे पिछड़े समाज में प्रगति का सूचक भी मानते थे। मैं आपका ध्यान 1930 के आसपास के जमाने की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा, जब उन्नीसवीं शती के बंगाल रेनेसेंस के बाद पहली बार भारतीय बौद्धिक संसार में एक बार नए सिरे, सिद्धातों, आदर्शों और मतों में मुठभेड़ हुई थी-यह वह समय था, जब भारतीय राजनीति में वामपंथी रेडिकलिज्म ने पहली बार-कमजोर ढंग से भले ही लेकिन स्पष्ट रूप से हस्तक्षेप करना शुरू किया था। यह.वह समय भी था, जब प्रेमचंद अपनी सृजनात्मक-शक्ति के चरम-शिखर पर थे और उन्होंने अपने अंतिम उपन्यास और कहानियाँ लिखी थीं।

प्रेमचंद के अंतिम उपन्यास और कहानियों में जहाँ हम उनके समस्त पुराने गुणों से परिचित होते हैं-वहाँ दूसरी तरफ सहसा एक आश्चर्यजनक बोध भी होता है, यह वही प्रेमचंद हैं, जिन्होंने गबन, निर्मला और रंगभूमि जैसे रोचक, सीधे-सादे, मार्मिक उपन्यास लिखे थे-किंतु उसके परे एक दूसरे प्रेमचंद की भी झलक दिखाई देती है, जिसे हमने पहले कभी नहीं देखा था। हल्की-सी नाराजी, कुछ दबा हुआ-सा आक्रोश, एक बेचैन-सी हताशा, जो पिछली कहानियों की पस्त और पराजित निराशा से अलग थी-और अनुभव के इन खंडित टुकड़ों के पीछे सत्य का एक अखंडित बोध परिलक्षित होता है, जो शायद स्वयं प्रेमचंद की जीवन-यात्रा में एक आश्चर्यजनक खोज थी। वह कौन-सा सत्य था, जो इतने बरसों बाद भी उनकी अंतिम रचनाओं में इतने जीवंत और ज्वलंत रूप से विद्यमान है और जिसकी प्रतिध्वनि को प्रेमचंद की आनेवाली हर नई पीढ़ी ने बहुत विस्मय, ध्यान और चिंता से सुना है?

शायद इसका उत्तर हमें जैनेंद्र के एक संस्मरण से मिलता है, जो उन्होंने प्रेमचंद की याद में लिखा था। एक जगह वह अपने और प्रेमचंद के बीच अंतर को स्पष्ट करते

हुए कहते हैं 'मैं अपने को बुद्धि का दुश्मन मानता हूँ, जबकि प्रेमचंद के संबंध में कह सकता हूँ कि वह धन के दुश्मन थे।' (मैं स्मरण से उन्हें उद्धृत कर रहा हूँ, शब्द शायद भिन्न हों, आशय यही था) दरअसल हम जिस व्यवस्था में रहते हैं, वहाँ देर-सबेर धन से दुश्मनी अनिवार्यतः 'बुद्धि' से दुश्मनी की ओर अग्रसर होती है-क्योंकि 'बुद्धि' स्वयं धन अर्जित करने के लिए एक हथियार और औजार की तरह इस्तेमाल की जाती है। हमारे युग में 'बुद्धि का राक्षसी रोल' धन की आसुरी शक्तियों से अलग नहीं किया जा सकता। पैसा यदि मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से ही वंचित करता है, तो बुद्धि, जिसकी अभिव्यक्ति हमारे युग में अनेक मतवादी विचारधाराओं में हुई, मनुष्य को अपने विवेक और ज्ञान से ही वंचित कर देती है, जिससे वह अपने 'खोखलेपन' को भी नहीं देख पाता। मनुष्य के आत्म उन्मूलन में बुद्धि की आक्रामकता ने उतना ही भयावह रोल अदा किया है, जितना धन की पिपासा ने जो मनुष्य को मात्र 'वस्तु' में परिणत कर देती है।

शायद आप भांप गए होंगे, मैं आपको किस बिंदु की ओर ले जा रहा हूँ- प्रेमचंद के अंतिम सत्य की ओर-जो 'धन' के साक्षात्कार से जाग्रत हुआ था। यह सत्य भी प्रेमचंद को औपनिवेशिक संदर्भ में ही उपलब्ध हुआ था-खुद अपनी आँखों से उन्होंने भारतीय समाज में उन सब मूल्यों को विषाक्त होते देखा था, जिनके प्रति अपने आरंभिक उपन्यासों में उन्होंने इतना गहरा लगाव और निष्ठा प्रगट की थी-मनुष्य का व्यावहारिक धर्म, ईमानदारी, दायित्व की भावना जो सामंती ढाँचे के भीतर भी मनुष्य के आपसी रिश्तों में मानवीयता सँभालकर रखते थे। अक्सर औपनिवेशिक व्यवस्था के विरोध में कहा जाता है कि वह 'तीसरी दुनिया' सामंती शक्तियों से गठजोड़ करती है - लेकिन यह अध सत्य है। वह यदि सामंती सत्ता से गठजोड़ करती है, तो दूसरी तरफ उसी व्यवस्था में पलनेवाले परंपरागत मानवीय रिश्तों को भ्रष्ट भी करती है-और नष्ट करने की यह प्रक्रिया पैसे के रिश्तों से आरंभ होती है-और यह पूरा सत्य है। महाजनी सभ्यता का भयानक और विषैला सत्य, जिसे एक बार देख लेने के बाद प्रेमचंद की दुनिया पहले जैसी नहीं; न्याय, धर्म, संस्कार और जातीय दायित्व में उनके भोले विश्वासों पर एक काली, लंबी छाया-सी आ पड़ी; यही छाया मनुष्य की आत्मा के बीचों-बीच खिंची हुई अँधेरी खाई, जिसकी क्रूर किंतु अत्यंत शक्तिशाली अभिव्यक्ति हमें गोदान और उससे भी अधिक कफन-जैसी कहानियों में दिखाई देती है। पहली बार उन्होंने भ्रम के परदे के पीछे हिंदुस्तानी यथार्थ का घिनौना और वीभत्स चेहरा देखा था। एक छलाँग में वह न

केवल सामंती आदर्शों को लाँघ गए थे, किंतु-और यह तथ्य महत्वपूर्ण है-उन्होंने महाजनी संस्कृति की भौतिक विडंबनाओं को भी भेद डाला था। यह छलाँग आदर्शवाद से यथार्थवाद की तरफ नहीं थी, जैसा कि हमारे हिंदी विभागों के प्रोफेसर और आलोचक मानते हैं-कोई भी सच्चा यथार्थ आदर्श से शून्य नहीं होता जैसे कोई भी आदर्श नहीं बदले, सिर्फ यथार्थ से उनका संबंध बदल गया। वह अब भी मनुष्य की अच्छाई में विश्वास करते थे-लेकिन इस अच्छाई के सामने उन्होंने पहली बार बुराई या पाप से भी साक्षात्कार किया-जिसे हम 'ईविल' कह सकते हैं। पैसा अपने में पाप है। यह बोध सहसा प्रेमचंद को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर देता है, जिस मोड़ पर बिल्कुल दूसरे रास्ते से गाँधी आए थे।

मैंने शुरू में गाँधी और विवेकानंद को आधुनिक सभ्यता का आलोचक माना था-उन्होंने भारतीय समाज में औपनिवेशिक दूषण को अपनी संस्कृति और अतीत के संदर्भ में आँका था और उसी को कसौटी मानकर आधुनिक सभ्यता की अमानवीय और भौतिक बीमारियों को परखने की कोशिश की थी, जरा देखिए, प्रेमचंद भी अपने अंतिम उपन्यासों, कहानियों में महाजनी सभ्यता के घोर आलोचक बने थे-लेकिन भारतीय-संस्कृति के आधार पर नहीं-प्रेमचंद ने गाँधी की तरह कभी गीता से कर्म की प्रेरणा प्राप्त नहीं की-बल्कि उनका रास्ता बिल्कुल दूसरा था, जिसे अगर आप नाम देना चाहें तो कह सकते हैं, एक हिंदुस्तानी की गरीबी और यातना का रास्ता; प्रेमचंद ने औपनिवेशिक तंत्र के भीतर पलती हुई एक हिंदुस्तानी की यातना और मजबूरी में आधुनिक भौतिक संस्कृति का खोखलापन देखा था; सत्य वही था, जिसे तोल्स्तोय और गांधी ने देखा था-लेकिन उसका सामाजिक स्रोत और अनुभव-यात्रा बिल्कुल अलग थी। जिस औपनिवेशिक दृष्टि की सीमाओं ने प्रेमचंद की आरंभिक कहानियों और उपन्यासों को सतही और भावुक बनाया था, उसी औपनिवेशिक तंत्र के भीतर हिंदुस्तानी यातना ने उन्हें एक विशिष्ट दृष्टि दी थी।

मुझे नहीं लगता प्रेमचंद से पहले या बाद के किसी कहानीकार में गरीबी, खास हिंदुस्तानी गरीबी का इतना ठंडा, तटस्थ और तीखा वर्णन मिलता है, जो अगली पीढ़ी के प्रगतिशील लेखकों के शहरी, दिखाऊ बनावटी रोमांटिसिज्म से बिल्कुल अलग था। एक शहरी प्रगतिशील लेखक स्वयं धन की सुविधाओं से जुड़ा रहता है, उसके मन में गरीबी सिर्फ दया जगाती है, जो क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म का दूसरा पहलू है-प्रेमचंद चूँकि स्वयं धन को संदेह की दृष्टि से देखते थे, गरीबी के प्रति उनका रुख दया, नफरत और विरोध जैसी भावुक प्रतिक्रियाओं से बिल्कुल अलग था। धन का अभाव अपने में वरदान

हो सकता है, अगर वह ऐसी गरीबी को जन्म न दें, जिसमें मनुष्य स्वयं अपने धर्म और दायित्व बोध से ही वंचित हो जाता है। इस स्तर पर प्रेमचंद का महाजनी-व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश एक गहरी नैतिक पीड़ा लिए है-एक ठेठ परंपरावादी हिंदुस्तानी की पीड़ा-जिसकी जरा सी झलक भी हमें उनके बाद आनेवाले पश्चिमी शिक्षा से लैस प्रगतिवादियों में नहीं दिखाई देती। विडंबना यह है कि यही पश्चिमी संस्कृति में पले लोग जिनका एक औसत हिंदुस्तानी की औपनिवेशिक पीड़ा से दूर का रिश्ता भी नहीं था, अपने को 'प्रेमचंद की परंपरा' का सबसे वफादार अनुयायी मानते हैं।

प्रेमचंद के अंतिम उपन्यासों; कहानियों की एक बड़ी उपलब्धि है-अब यह हिंदुस्तानी किसान को सिर्फ औपनिवेशिक चौखटों में ही नहीं देखते-बल्कि वह उसे सीधे-सीधे आधुनिक स्थिति की विडंबनाओं में ले आते हैं-स्थिति अब भी औपनिवेशिक जड़ता और उत्पीड़न में डूबी है-लेकिन प्रेमचंद उसे अब एक ऐसे संकट के संदर्भ में देखते हैं, जो महज 'तीसरी दुनिया' के बाहरी उपादानों द्वारा अनुशासित नहीं है; बल्कि अब वह व्यक्ति और समाज के बीच रिश्तों में घुन की तरह चिपका है-स्वयं मनुष्य की आत्मा में साँप की तरह विराजमान है। लेकिन इस साँप से डरने की जरूरत नहीं; कफन तक आते-आते अचानक प्रेमचंद के पात्रों को अहसास होता है, जिसे वह सर्वग्रासी साँप समझे बैठे थे, वह महज रस्सी है, सामाजिक मर्यादाओं और कर्त्तव्यों की कच्ची, जर्जरित, तार-तार होती हुई रस्सी-जिसे एक झटके से तोड़कर मुक्त हुआ जा सकता है। प्रेमचंद ने जैसे इस कहानी में अंतिम रूप से फैसला ले लिया हो, कि वह उन सब मूल्यों को एक-एक करके 'कलंकित' करेंगे, जिन्हें वह धर्म और पवित्रता का प्रतीक मानते थे। एक सामंतवादी समाज में एक संस्कारग्रस्त धर्मशील व्यक्ति का विद्रोह केवल दूषण (blasphamy) के रूप में हो सकता है-उन समस्त मर्यादाओं को दूषित और हास्यास्पद बना देता है, जिन्हें हम पुरातनकाल से पुनीत और पवित्र मानते आए हैं। इस अर्थ में हिंदी साहित्य में 'कफन' शायद पहली ब्लासफेमस कहानी है। जिस क्षण बाप-बेटे ने घर की औरत के कफन के पैसों से शराब का कुल्हड़ मुँह से लगाया था, उस क्षण पहली बार हिंदी साहित्य में व्यक्ति ने अपनी स्वतंत्रता का स्वाद भी चखा था। यह क्षण वह था, जब प्रेमचंद के समाज में 'व्यक्ति' का जन्म हुआ था। यह जन्म मृत्यु और शमशान की छाया में हुआ था-दो पियक्कड़ हिंदुस्तानियों का मुक्ति समारोह। अपनी अंतिम कहानी में प्रेमचंद पूरा एक दायरा पूरा कर गए थे। जिस समाज के लिए उनके पात्र आज तक अपने को होम करते आए थे, उसके एवज में वह समाज-गोदान के लिए न सही-कफन

के एक चीथड़े के लिए चार पैसे नहीं जुटा सकता? जरूर जुटाएगा, औरत की मुर्दा देह के लिए नहीं-तो अपनी मुर्दा मर्यादाओं को ढँकने के लिए ही सही!

कहते हैं उन्नीसवीं शताब्दी का रूसी साहित्य गोगोल के 'ओवरकोट' से बाहर आया था, पता नहीं इसमें कितना सत्य है, किंतु हिंदी के आधुनिक कथा साहित्य का बड़ा अंश प्रेमचंद के कफन से बाहर आया है, यह मुझे जरूर सत्य जान पड़ता है। पूरा साहित्य नहीं-ऐसे लेखक हैं, जैनेंद्र, अज्ञेय और अनेक नए लेखक-जो शायद बिना प्रेमचंद के भी अपनी लीक बना सकते-मैं स्वयं शायद ऐसी श्रेणी में आता हूँ जिस पर प्रेमचंद का कोई सीधा और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई देता। यहाँ तक कि वे लेखक जो अपने को प्रेमचंद की 'परंपरा का उत्तराधिकारी' मानते हैं, अपनी उत्कृष्ट रचनाओं में (जहाँ वे सिर्फ प्रेमचंद की नकल नहीं कर रहे) प्रेमचंद के कथा-विधान में काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन करते रहे हैं। इसका कारण है। प्रेमचंद की अधिकांश रचनाएँ यूरोप के उन्नीसवीं शती में विकसित यथार्थवादी ढाँचे में लिखी गई थीं-यह ढाँचा, कथ्यात्मक फॉर्म एक तरह से अन्य विश्वव्यापी आधुनिक उपकरणों की तरह हर लेखक के लिए सुलभ था-जब कभी लेखक के जातीय अनुभव इस ढाँचे में फिट नहीं हो पाते थे, तो लेखक अक्सर ढाँचे को छोड़ने के बजाय अपने अनुभवों को छोड़ देना ज्यादा सुविधाजनक मान लेता था। मैंने इस द्वंद्व का उल्लेख अन्यत्र किया है, यहाँ विस्तार में जाने के बजाय मैं सिर्फ इतना कहना चाहूँगा कि प्रेमचंदोत्तर पीढ़ी के कुछ महत्वपूर्ण लेखकों ने अपने अनुभवों को व्यापक औपन्यासिक स्पेस देने के लिए प्रेमचंद के 'यथार्थवादी' फॉर्म से अपने को मुक्त किया है- रेणु के उपन्यास इसका सजीव उदाहरण है। प्रश्न यथार्थ से विदा लेने का नहीं था, स्वयं बदलते हुए यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'यथार्थवादी' ढाँचे की सीमाओं से मुक्ति पाना था।

किंतु किसी परंपरा को तोड़ना उसकी अवज्ञा करना नहीं है; रेणु अज्ञेय या जैनेंद्र यदि बिल्कुल अलग किस्म के उपन्यास लिख पाए तो इसलिए क्योंकि उनके पास पहले से ही प्रेमचंद मौजूद थे। यदि हम अपने पुरखों की अपेक्षा कुछ ज्यादा, कुछ अधिक, कुछ महत्वपूर्ण सत्य उपलब्ध करते है तो इसका सीधा-सा कारण है कि हमारी दृष्टि के साथ पुरखों की दृष्टि जुड़ी है- आज जब कुछ समीक्षक और लेखक प्रेमचंद की परंपरा की बात डंके की चोट के साथ दुहराते हैं- उसे कसौटी मानकर आधुनिक-लेखन को प्रगतिशील या प्रतिकियावादी घोषित करते है-तो मुझे काफी हैरानी होती है। मुझसे ज्यादा हैरानी और क्षोभ शायद प्रेमचंद को होता यदि वह जीवित होते। वह शायद हँसी में उनसे

कहते 'भई, आप तो मेरी परंपरा में आते हैं, लेकिन मैं? मैं कौन-सी परंपरा में आता हूँ - सेवासदन की परंपरा में या कफन की परंपरा में' ? और तब हमें अचानक पता चलेगा कि स्वयं प्रेमचंद को प्रेमचंद की परंपरा से मुक्त करना जरूरी है-क्योंकि वह स्वयं अपने को पीछे छोड़कर हमेशा नया बनते गए, जिसमें समूचा 'छोड़ा हुआ अंश' भी शामिल था। यह-मेरे विचार में-उनकी सबसे गौरवपूर्ण उपलब्धि थी जो इतने वर्षों बाद भी हमारे बीच उपस्थित है।

4. प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना

नित्यानंद तिवारी

प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना पर मैं एक विशेष प्रसंग में विचार करना चाहता हूँ। आज साहित्यिक आलोचना में एक ऐसा विशिष्ट वर्ग है जो भाषा को आद्यवस्तु मानता है और संरचना को भाषिक आयोजना। इस प्रकार भाषिक आयोजना भी कमोबेश आद्यवस्तु हो जाती है और रचनाकार भाषा की ओझेती करके कलावस्तुओं और कला-विधानों की सृष्टि कर सकता है। भाषा और संरचना को, आद्यवस्तु के रूप में स्वीकार करना, रचना को उसके विशिष्ट ऐतिहासिक प्रसंग से अलग करना है।

प्रेमचंद को अपने समय के साहित्यिकतावादियों के तमाम आक्षेप कि उनके उपन्यासों में सूक्ष्मता, गहराई और गंभीर कला-विवेक नहीं है, झेलने पड़े थे और वर्तमान युग के भी ऐसे रचनाकार हैं जो प्रेमचंद को स्टोर रूप में रखने की सलाह दे चुके हैं या यह कि अब प्रेमचंद को पढ़ना संभव नहीं रह गया है। लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जैसे रामचन्द्र शुक्ल, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा जो प्रेमचंद के कला-विवेक के प्रति आश्वस्त हैं। द्विवेदीजी तो यहाँ तक कहते हैं कि रचनाकार के रूप में वे आधुनिक युग में सिर्फ प्रेमचंद से प्रभावित हैं। और इधर वर्तमान कथाकारों में ऐसे बहुत हैं जो प्रेमचंद से जुड़ना चाहते हैं।

इन परस्पर विरोधी बातों का क्या प्रसंग है? क्या इन्हें व्यक्तिगत रुझान कहकर टाला जा सकता है? ये बातें जीवन और कला के विषय में और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में गंभीर निर्णय हैं। तो क्या प्रेमचंद एक ऐसे अनिवार्य और विवादास्पद बिन्दु पर खड़े हैं जिनके पक्ष या विपक्ष में हुए बिना आज का कथाकार भी अपनी रचनात्मक भूमिका तय नहीं कर सकता?

प्रेमचंद ने उपन्यास, साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध पर इतनी बार और इतनी तरह से लिखा है कि औपन्यासिक विधान या संरचना सम्बन्धी उनके विचारों पर बहुत अधिक विवाद नहीं हो सकता। वे कला और साहित्यिक नियमों को बड़ी कड़ाई से जीवन-प्रसंगों से सम्बद्ध करते हैं। यानी किसी रचना के रूपबंधात्मक नियम सिर्फ जीवन की वास्तविक सामग्री से पैदा होते हैं। घटना, कार्य और चरित्र की आयोजना, अभिव्यक्ति के कलात्मक कौशल, जीवन में निहित गति-व्यवस्था के ही प्रतिरूप होते हैं।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि जीवन और दुनिया लोगों, चीजों, घटनाओं की गड्डमड्ड सत्ता मात्र नहीं है, बल्कि सौन्दर्यात्मक प्रश्नों और विधानों का एकमात्र स्रोत है। प्रेमचंद का समस्त साहित्य इस बात की गवाही देता है कि विचार और भाव उन परिस्थितियों के भीतर से पैदा होते हैं जिनके बीच जीवन जिया जाता है। इस प्रकार विचारों और भावों की ठोस, देशकाल बद्ध और तात्कालिक सत्ता होती है। यहाँ ध्यान दिया जा सकता है छायावादी कविता पर जिसमें कल्पना की बुनियादी भूमिका स्वीकार की गयी है और भाव तथा अनुभूतियाँ सार्वभौम के प्रत्ययवादी ढाँचे में आम तौर पर अँट जाती हैं। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में कल्पना की न तो बुनियादी भूमिका है और न तो उनकी अनुभूति प्रत्ययवादी ढाँचे में आम तौर पर अँट जाती है। उन्होंने साहित्य को जीवन की सच्चाइयों का दर्पण कहा है। लेखक की सृष्टि में प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर सर्वाधिक बल दिया है। उन्होंने लिखा है, "साहित्य केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा-जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'' कहने की आवश्यकता नहीं कि गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करनेवाले साहित्य को आज भी वैदुषिक कार्यों में संलग्न एक शक्तिशाली वर्ग साहित्य स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। साहित्य के खरेपन की जो कसौटी प्रेमचंद ने बतायी है, वही उनके उपन्यासों की संरचना का मुख्य आधार है।

'सेवासदन' का पहला पैराग्राफ है:

"पश्चात्ताप के कड़दे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे। उन्हें थानेदारी करते हुए पच्चीस वर्ष हो गये, लेकिन उन्होंने अपनी नियत को कभी बिगड़ने न दिया था। यौवनकाल में भी जब चित्त भोग-विलास के लिए व्याकुल रहता है, उन्होंने निस्पृह भाव से अपना कर्त्तव्य-पालन किया था। लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे। उनकी पत्नी गंगाजली सती-साध्वी स्त्री थी। उसने सदैव अपने पति को कुमार्ग से बचाया था। पर इस समय वह चिन्ता में डूबी हुई थी। उसे स्वयं संदेह हो रहा था कि वह जीवन-भर की सच्चरित्रता बिल्कुल व्यर्थ तो नहीं हो गयी?''

थोड़ा ही आगे चलकर कृष्णचन्द्र के मन में यह बात बैठने लगती है कि "धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख चुका। अब लोगों को खूब दबाऊँगा, खूब रिश्वतें लूँगा,

यही अन्तिम उपाय है। संसार यही चाहता है और कदाचित् ईश्वर भी यही चाहता है। यही सही। आज मैं भी वहीं करूँगा जो सब लोग करते हैं।''

कृष्णचन्द्र ईमानदार सच्चरित्र पात्र है। वह आदर्शवादी है लेकिन आदर्शवादी, ईमानदार और सच्चरित्र होते हुए भी वह प्रामाणिक व्यक्ति नहीं है क्योंकि उसे आमदनी और खर्च का सही अनुपात नहीं मालूम है। लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' में प्रामाणिकता पर एक पूरा परिच्छेद ही लिखा है जिसमें आमदनी और खर्च के उचित अनुपात को जानने और उसे बरतने वाले व्यक्ति को प्रामाणिक माना गया है। ईमानदार और निर्लोभ होकर भी कृष्णचन्द्र फिजूलखर्च है। यही फिजूलखर्ची उसे कमजोर बनाती है, उसकी ईमानदारी को खोखला करती है। पच्चीस वर्ष तक लगातार ईमानदारी बरतने पर भी उसकी ईमानदारी ठोस मानवीय आचरण नहीं है, वह प्रत्ययवादी है। क्योंकि बेटी के विवाह में दहेज की समस्या का सामना करते ही उसकी ईमानदारी भहराकर गिर जाती है। यानी वह कोई भी आदर्श या भाव जिसका कोई ठोस परिस्थितिगत आधार नहीं है, विकृत होने के लिए अभिशप्त है। इसके अलावा एक दूसरा स्तर यह है कि प्रशासन और सामाजिक परम्पराएँ किसी भी व्यक्ति को आदर्शवादी और ईमानदार नहीं बना रहने दे सकतीं। कृष्णचन्द्र व्यक्तिगत स्तर पर कुसंस्कार, सामाजिक स्तर पर कुप्रथा और प्रशासनिक स्तर पर भ्रष्टाचार का शिकार है। और सारी कहानी का स्रोत वही है। कृष्णचन्द्र के पच्चीस वर्षों के ईमानदार जीवन में कहीं कहानी नहीं है, कहानी तब शुरू होती है जब उसकी ईमानदारी को परिस्थितियाँ खा जाती हैं। जब कृष्णचन्द्र की आदर्शवादी और भाववादी पहचान खत्म हो जाती है तब उसकी कहानी यानी प्रेमचन्द की रचना आरंभ होती है। इसका अर्थ यह है कि प्रेमचन्द भाव और आदर्श के बीच नहीं, परिस्थितियों के बीच अपनी कहानी अथवा कथा-विन्यासों को धारण करते हैं। कृष्णचन्द्र की लाचारी, बेईमानी और सजा और इसके बाद फिर घटनाओं का सिलसिला निकलता ही चला जाता है। ये सारी घटनाएँ सामाजिक जीवन के उन पहलुओं को उघाड़ती चलती है जिनके लिए बेचैन होने की जरूरत है। प्रेमचन्द के उपन्यासों को घटनाप्रधान कहा जाता है और कुछ इस लहजे में कहा जाता है मानो यही वह कारण हो जिससे जीवन की सूक्ष्मता और गहराई उनके उपन्यासों में नहीं है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास भी तो घटना-प्रधान हैं, क्या उसी तरह की घटनाएँ प्रेमचंद के उपन्यासों में भी हैं? प्रेमचन्द जिन और जिस तरह की घटनाओं की सृष्टि करते हैं, वे आधुनिक भारतीय जीवन में यथार्थ के विशिष्ट प्रसंग है। 'सेवासदन' की मुख समस्या

पर विचार करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्मबलिदान, उसके पति-सेवा पर नहीं लिखे गये? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्सहायता, पराधीनता उसके साथ पशुओं और दासों जैसे व्यवहार पर नजर डाली थी?'' यानी इस तरह से जीवन के पहलुओं को पहचानना, विचार, भाव और अनुभव के रूपों में घटने-वाले उत्पात को लक्षित करना था। प्रेमचंद के उपन्यासों की घटनाएँ जड़ सांस्कृतिक सामाजिक परम्पराओं और भ्रष्ट प्रशासनिक ढाँचे को तानने और खोलने वाले प्रसंग हैं। प्रेमचन्द ने आधुनिक अर्थ में घटनाओं की पहचान चाहे सबसे पहले न करायी हो लेकिन जितने तीखे, सिलसिलेदार और गहराई से उनके उपन्यासों में घटनाओं की आधुनिकता प्रस्तावित है, उतनी उनके बाद के बहुत गहरी अनुभूतियों वाले कथाकारों में भी नहीं है।

उदाहरण के लिए 'सेवासदन' के साथ 'त्यागपत्र' को ले लिया जाय। दोनों उपन्यासों में अनमेल विवाह की घटना है। सुमन का अनमेल विवाह क्यों होता है? क्या परिस्थितियों की अनिवार्य विवशता में, नहीं? किन्तु मृणाल के अनमेल विवाह के प्रसंग स्पष्ट नहीं हैं। दोनों के विवाहों में परिस्थितियों और प्रसंगों की स्पष्टता, अस्पष्टता बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द के लिए सुमन का अनमेल विवाह बहुत दु:खद घटना है जो उन्हें बेचैन बना देती है, वह किसी भी तरह से उनके कथा-सृजन का बहाना नहीं है। वह घटना वास्तविक है। यानी प्रेमचंद के उपन्यासों में घटनाएँ कहानी का बहाना नहीं हैं, किस्से में सिर्फ सिलसिला नहीं है, बल्कि जीवन और समाज के दुखद प्रसंग हैं। जो लोग घटनाओं में इन प्रसंगों को नहीं देख पाते, उनके लिए प्रेमचन्द द्वितीय क्या, तृतीय श्रेणी के कलाकार भी हो सकते हैं, प्रसंगहीन और निरर्थक भी हो सकते हैं। अब तनिक मृणाल के अनमेल विवाह पर विचार कर लिया जाय। पहले तो उसके अनमेल विवाह की परिस्थितियाँ उतनी अनिवार्य और स्पष्ट नहीं हैं जितनी सुमन की। इसलिए वह घटना जीवन का कोई प्रखर प्रसंग नहीं बन पाती। हम कह सकते हैं कि वह बहुत दूर तक प्रसंगहीन घटना है तो जीवन-प्रसंगों से हीन घटनाएँ चाहे जासूसी उपन्यास में हों या दार्शनिक उपन्यास में, क्या फर्क पड़ता है! एक में यदि घटनाएँ कहानी कहने का बहाना है तो दूसरे में विचार और चिन्तन का। मृणाल का जीवन भी कम घटना बहुल नहीं है। लेकिन घटनाएँ अपने-आपमें प्रभावहीन हैं क्योंकि मृणाल परिस्थितियाँ और घटनाओं की निर्मिति नहीं, विचार और चिन्तन की निर्मिति है। सुमन परिस्थितियों के भीतर से उपजने वाली पात्र है और मृणाल चिन्तनात्मक प्रणय से। घटना की अनिवार्य

परिस्थितिनिर्भरता ही उसे वास्तविक और आधुनिक बनाती है। इस प्रकार जैनेन्द्र की अपेक्षा प्रेमचन्द अधिक वास्तविक और आधुनिक हैं।

निबंध के शुरू में मैंने कहा था कि मैं प्रेमचन्द के उपन्यासों की संरचना पर एक विशेष प्रसंग में चर्चा करना चाहता हूँ। वह प्रसंग है संरचनावादी आलोचकों द्वारा भाषा को आत्यंतिक महत्व देना। क्या 'त्यागपत्र' में भाषा का वैभव नहीं हैं? क्या इस उपन्यास का विन्यास भाषिक आयोजनामात्र नहीं है? 'त्यागपत्र' में न तो घटनाओं का महत्व है, न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का। यह उपन्यास शुद्ध भाषा की रचना है। इस उपन्यास की भाषा, घटना में निहित वास्तविकता का निषेध करती हुए एक अमूर्त प्रत्ययवादी दुनिया खड़ी कर देती है जिसे सूक्ष्म, गंभीर और गहरा मानने वालों की संख्या आज भी कम नहीं है।

यानी जिस स्तर और अर्थ में 'त्यागपत्र' का औपन्यासिक विधान भाषिक आयोजना है, उस रूप में प्रेमचन्द की औपन्यासिक संरचना भाषिक आयोजना नहीं है। प्रेमचन्द की भाषा घटना से अर्थ पाती है जबकि जैनेन्द्र की भाषा घटना में निहित अर्थ का निषेध करती है। प्रेमचन्द की भाषा स्वायत्त नहीं है। जैनेन्द्र की भाषा स्वायत्त है। इसलिए प्रेमचन्द भाषा का खेल नहीं कर सकते, जैनेन्द्र करते हैं। प्रेमचन्द ने लिखा है, "उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठकों को भ्रम में डाल दें, कि इसमें जरूर कोई - न कोई गूढ़ आशय है..... जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।" निश्चय ही यहाँ प्रेमचन्द की गूढ़ता का आशय छद्म गंभीरता, और सरलता का तात्पर्य वास्तविकता है।

कभी-कभी गैर-वास्तविक संदर्भों में भाषा का बड़ा प्रभावकारी इस्तेमाल होता है। और जो लोग साहित्यिक संरचना को स्वायत्त भाषिक विधान मानते हैं, वे लोग प्रसंगहीन सौन्दर्य-विधान की हिमायत करते हैं। यह सौन्दर्यवाद है जो "संसार को निहारता है परन्तु उससे निर्विकार रहता है।" वह कभी यह नहीं कहता, "मेरा सर्वस्व इस संसार में हैं, मैं ही यह संसार हूँ।" (अलेक्सेई तोलस्तोय, कला और रचना-कौशल, पृ० 208) भाषा को आद्यवस्तु के रूप में इस्तेमाल करने वाला सौन्दर्यवादी साहित्य मात्र आस्वाद की वस्तु होता है। क्या प्रेमचन्द की घटना, चरित्र और कार्य की आयोजना (यह संगठन ही तो संरचना है) आस्वाद की अपेक्षा गति, संघर्ष और बेचैनी नहीं पैदा करती? और

जो इस बेचैन बनाने वाले साहित्यिक संगठन में रुचि नहीं ले सकता, वह जीवन की गतिव्यवस्था के सन्दर्भ में अपनी रुचि की परिभाषा और उसका निर्माण कैसे कर सकता है? प्रेमचन्द का औपन्यासिक विधान साहित्यिक आस्वाद की क्रान्तिकारी परिभाषा करता है। वह (आस्वाद) जीवन की परिस्थितियों में अन्तर्विरोधी टकराव और उसके फलस्वरूप गति में हेरफेर यानी यथार्थ जीवन की गति-व्यवस्था की ओर रुचि की अभिमुखता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में घटनाएँ, सामाजिक अन्तर्विरोध के परि-पार्श्व उभारती हैं। यानी कथा घटना में नहीं है, घटना जिन अन्तर्विरोधी परि-पार्श्वों को उभारती है, कथा वही रूप लेती है। ये अन्तर्विरोधी परिपार्श्व ही घटना के प्रसंग होते हैं। जैसे सुमन का वेश्या बन जाना पाखंडी समाज के अन्तर्विरोधों का पर्दाफाश करता है। यह विचित्र समाज है जिसमें वेश्या स्वतंत्र और विवाहिता नारी पराधीन है। "अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह स्वाधीन है और मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं। अर्थात वेश्या बन जाने की घटना पाखंडी समाज की विकृति का लक्षण ही नहीं वरन् स्वाधीनता के लिए नारी का विद्रोह भी है। मृणाल भी वेश्या जैसी ही बन जाती है लेकिन वह वैसी होकर भी विद्रोह की आग में कहीं नहीं जलती, समाज को तोड़ना नहीं चाहती बल्कि वह उस समाज की जड़ों में सिंच जाना चाहती है जो नारियों के साथ वैसा आचरण करता है। इसका सीधा कारण यही है कि किसी अनिवार्य परिस्थितिगत विवशता से वह गन्दे मोहल्ले में नहीं जाती। उसका वेश्या बनना सामाजिक अन्तर्विरोधों को उभाड़ने का नहीं बल्कि अपने को गलाकर आत्मोत्थान का अवसर पाना है। यहाँ भी घटना में आत्मोत्थान का प्रसंग तो है और कुछ-कुछ दार्शनिकता से जुड़कर वह प्रसंग बड़ा ऊँचा, सूक्ष्म और गहरा भी बन जाता है। लेकिन क्या सचमुच स्त्रियाँ आत्मोत्थान के लिए वेश्या बनती हैं? कहने की आवश्यकता नहीं कि जैनेन्द्र घटना में जो प्रसंग पैदा करते हैं, वह आरोपित, अवसरवादी और पाखंड है। जैनेन्द्र ने एक बार अपने वक्तव्य में कहा था, "मैं नहीं जानता, समाज क्या होता है, मैं तो मनुष्य को जानता हूँ।" शायद उनके लिए मनुष्य सामाजिक सत्ता नहीं, मात्र तात्विक सत्ता है जो निरपेक्ष और स्वयंभू है। इसी कारण उनके यहाँ घटना प्रसंगहीन और बेमानी है जबकि प्रेमचन्द में घटनाओं के वास्तविक सामाजिक प्रसंग हैं।

निस्संदेह प्रेमचन्द का औपन्यासिक विधान घटनाप्रधान है। लेकिन मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि घटनाप्रधान कहकर विन्यास की साहित्यिकता को नकारना या कम करके आँकना सही नहीं है। यदि घटनाएँ सामाजिक अन्तर्विरोधों के विभिन्न प्रसंगों की

आयोजना नहीं करतीं तो निश्चय ही प्रेमचन्द के उपन्यासों की संरचना में साहित्यिकता का अभाव है।

जिन उपन्यासकारों के औपन्यासिक विधान की साहित्यिकता और अनुभूति की गहराई की चर्चा की जाती है, आम तौर पर उनकी थीम बड़ी संकरी और वह भी कई बार दुहराई गयी है। प्रेमचन्द की थीम की एक सामान्य विशेषता होते हुए भी न तो वह संकरी है और न सामान्यतः दुहराई गयी है। उनके उपन्यासों में घटनाएँ जहाँ अन्तर्विरोधी प्रसंगों का विधान निर्मित करती हैं वहीं विविधता को मात्र बदलाव नहीं बल्कि एक रचनात्मक आशय प्रदान करती हैं। जीवन और परिस्थितियों के कोई निश्चित पैटर्न नहीं होते। उसके व्यापार और गति में अन्तहीन विविधता होती है। इसलिए जब किसी रचना या रचनाकार में विविधता मिलती है तो वह जीवन-व्यवस्था और अन्ततः विश्व-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करती है। विविधता अलगाव नहीं हैं, परिस्थितियों, कार्यों और चरित्रों की गड्डमड्ड दुनिया नहीं है, वह सम्बन्ध धारणा है। वह अनेकता के बीच पारस्परिकता है। जमींदार - किसान, साहूकार - मालिक - मजदूर, अफसर-मातहत, बाम्हन-चमार, धर्मपाखंड यानी जीवन और समाज में फैले बहुत से रूपों को प्रेमचन्द अपने उपन्यासों का विषय बनाते हैं और ये सभी घटनाओं के रूप में आते हैं। घटनाएँ विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्त करती हैं। प्रेमचन्द घटनाओं को कलात्मक सामग्री के रूप में इस्तेमाल करते हैं क्योंकि घटनापरक कथा-विकास उनके उपन्यासों में प्रतिफलित है। क्या 'त्यागपत्र' में भी घटना-विकास में वैसा ही रचनात्मक आशय है जैसा 'सेवासदन' या प्रेमचन्द के किसी भी दूसरे उपन्यास में? यही नहीं, क्या 'मैला आँचल' में घटनाएँ कलात्मक सामग्री हैं? यदि हैं तो उसके कथानक में घटनात्मक आवयविकता और विकास मिलना चाहिए। असल में प्रेमचन्द जिस जमाने में लिख रहे थे, उस जमाने में घटनाओं को उनके यथार्थ प्रसंगों में और समाज के विविध सम्बन्धों में पहचान लेना बहुत बड़ी क्रान्तिकारी घटना थी। उनमें विकासमान रचनात्मक विन्यास और आशय निहित थे।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की बनावट में आदर्शवादी ढाँचे की भी भूमिका है। लेकिन वह हस्तक्षेप ही है क्योंकि धीरे-धीरे उनकी ताकत आदर्शवादी ढाँचे को तोड़ डालती है। उसे आदर्श और यथार्थ का समन्वय नहीं मानना चाहिए, उनके कथा-साहित्य को जीवन में आदर्शवादी और यथार्थवादी शक्तियों का तनाव या अन्तर्विरोध मानना चाहिए। यद्यपि प्रेमचन्द ने इन दोनों के समन्वय की बात की है लेकिन इनकी

रचना का प्रभाव समन्वय में से नहीं, तनाव और विरोध में से उभरता है। इस प्रकार उनके रचनात्मक विन्यास का स्वरूप विद्रोही अधिक है। समन्वयवादी अपनी शक्ति का इस्तेमाल विरुद्धों को एक सौम्य बिन्दु पर संगठित करके करता है और विद्रोही किसी संगठन के जीवन विरोधी किन्तु शक्तिशाली संस्थानों पर निरन्तर प्रहार करके अपनी शक्ति की सार्थकता सिद्ध करता है। क्या प्रेमचन्द के उपन्यासों में घटनाओं की आयोजना या विन्यास सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक संगठनों के जीवन-विरोधी किन्तु शक्तिशाली संस्थानों पर आघात करते हुए नहीं निर्मित हुआ है?

प्रेमचन्द को पढ़ते हुए लगता है कि जीवन की विविधता, विस्तार और महानता के सामने लेखक बहुत छोटा है जब कि कई ऐसे गहरे लेखक हैं जिनकी महानता के सामने जीवन बहुत छोटा और मामूली लगता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की संरचना की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जीवन की विविधता और महानता की हमारी पहचान प्रखरतर बनती है।

5. प्रेमचंद और मध्यवर्ग

नलिन विलोचन शर्मा

प्रेमचंद समाज के उस वर्ग में जनमे ही थे जिसे मध्यवर्ग कहा जाता है। इस वर्ग की भी दो श्रेणियाँ समाजशास्त्र में मानी गई हैं, उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग। प्रेमचंद मध्यवर्ग की इसी दूसरी श्रेणी के सदस्य थे; और अगर उन्होंने जीवन पर्यंत इसकी कठिनाइयाँ झेलीं, तो यह लाभ भी उठाया कि जरा-से फासले पर से किसानों को देखा, तनिक ऊपर रहनेवाले संपन्न और अभिजात स्तर का पूरा परिचय पाया और जमींदारों और राजाओं और नवाबों की झलक भी पाई।

इस मध्यवर्ग की स्थिति जरूर ही ईर्ष्या करने लायक नहीं होती, लेकिन इसकी विशेषता है कि यह जन-साधारण के जीवन से असंयुक्त नहीं होता, जो, और किसी दृष्टि से भले ही विशेष महत्वपूर्ण न हो, उपन्यासकार के लिए तो खूब ही उर्वर सिद्ध होता है। यही कारण है कि जहाँ आज के अनेक लेखक सिद्धांतत: यह चाहते हैं कि वे जन-सामान्य के जीवन पर उपन्यास लिखें, वहीं वे अकाल और वर्गभेद को विषय बना कर भी व्यक्ति के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रह जाते हैं; समूह, हम कह सकते हैं, उनकी पकड़ में नहीं आता। इनके विपरीत प्रेमचंद में निम्न-मध्यवर्ग-सुलभ ऐसी सहज सामाजिक सहानुभूति थी, जिसे उन्होंने किसी सिद्धांत या वाद के आग्रह के कारण स्वीकार नहीं किया था, बल्कि जो उन्हें अपने वर्ग के एकमात्र वरदान के रूप में मिला था और जिसे वरदान समझकर ही ग्रहण किया था।

यही कारण है कि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में न तो पुराने दृष्टिकोण से ही, न आधुनिक मनोवैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ही, कहीं भी, व्यक्ति प्राधान्य पाने में समर्थ हो पाता है। उनकी छोटी कहानियों में, और कुछ नहीं तो वातावरण के ताने-बाने के रूप में, और बड़े उपन्यासों में तो सजीव अस्तित्व से युक्त होकर समूचा भारतीय समाज ही 'पात्रता' ग्रहण कर लेता है। यह 'सामाजिक सहानुभूति' के कारण ही तो संभव होता है कि सुमन या सोफिया, सूरदास या होरी जैसे व्यक्तियों पर भी उनका स्रष्टा अपनी पूरी निर्माण-शक्ति नहीं लगाता, असंख्य गौण और विविध पात्रों तथा उनसे बने समाज के लिए भी, उसके पास वही एकाग्रता और कुशलता बची रहती है।

ऐसा कुछ लगता है कि जहाँ निम्न-मध्यवर्ग का कोई वैसा प्रतिभाशाली लेखक, जैसे प्रेमचंद थे, स्वयं अपने समाज से ही घृणा करने लगता, उससे निकल भागने के अवसरों का लाभ उठाता, वहीं प्रेमचंद उस जीवन-स्थिति के प्रति कृतज्ञ थे, उसकी कठिनाइयों से जूझना पसंद करते थे, क्योंकि उसमें उन्होंने वह न चुकने वाली कच्चे माल की खान पाई थी, जिसके अभाव में, असाधारण साहित्य-शिल्प के बावजूद, कहानी या उपन्यास महान् नहीं बन पाते। प्रेमचंद को जीवन में ऐसे अनेक अवसर मिले थे, लेकिन जान-बूझ कर अभाव और संघर्ष की उस स्थिति का बार-बार वरण कर लेते थे, जिसमें रह कर ही, शायद ऐसी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं जिन्हें छूने पर, एक कवि के शब्दों में, हम पुस्तक नहीं, मनुष्य को ही छूते होते हैं। प्रेमचंद ने सरकार की और रजवाड़े की और सिनेमा की मिली हुई नौकरियों को भी छोड़कर और अस्वीकार कर, पत्रकार और लेखक का जीवन ही आकर्षक पाया और बिताया। हम नहीं जानते, हालाँकि उनके कुछ भावुक प्रशंसक यह सिद्ध करते पाए जाते हैं, कि प्रेमचंद ने किसानों और मजदूरों के लिए लिखा था, किंतु यह तो सत्य है ही कि उनकी रचनाएँ उस वर्ग में बहुत ही लोकप्रिय हुई जिसके एक सदस्य स्वयं प्रेमचंद थे और जिसमें ही हिंदी के अधिकांश पाठक थे और आज भी हैं। जहाँ तक संभावित पठनीयता का प्रश्न है, यह भी सत्य है कि थोड़ी शिक्षा पाने पर भी किसान-मजदूर उनकी पुस्तकों को उसी चाव से पढ़ेंगे जिस दिलचस्पी के साथ वह वर्ग भी अब उन्हें पढ़ता है, जो कल तक हिंदी में विशेष रुचि नहीं रखता था।

प्रेमचंद के पहले ही उपन्यास, 'सेवासदन' की शिक्षित और हिंदी-प्रेमी मध्यवर्ग में अप्रत्याशित लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि इस वर्ग को उस उपन्यास में अपना जो प्रतिबिंब देखने को मिला था वह इसके लिए अपने को निरखने-परखने का आवश्यक साधन-सा प्रतीत हुआ था। 'सेवासदन' के प्रकाशन के पूर्व यही मध्यवर्ग एय्यारी और तिलस्म के उपन्यासों को तो पढ़ना पसंद करता था, किंतु इसे यथार्थ जीवन पर केवल अंशत: अवलंबित सामाजिक उपन्यास बहुत कम प्रभावित कर पाते थे। कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का युक्तिसंगत प्रयत्न किया है कि प्रेमचंद के द्वारा उत्कर्ष-प्राप्त 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का सूत्रपात उनके पहले राधाकृष्ण दास, बालकृष्ण भट्ट और श्रीनिवास दास जैसे उपन्यासकार कर चुके थे। फिर भी इन उपन्यासकारों की कृतियों में पाठकों के अपने अनुभूत या दृष्ट जीवन की झाँकी बहुत कम ही मिल पाती होगी, जिसके परिणामस्वरूप ये विशेष सफलता न पा सकीं, किंतु 'सेवासदन' के दर्पण में अपनी प्रतिच्छति देखकर मध्यवर्ग सचेत हुआ और उसने पाया कि उपन्यास मात्र

मनोरंजन का साधन न होकर, हमसे हमारा वास्तविक परिचय करानेवाला एक महत्वपूर्ण साधन है, हम अपने बारे में ही जो मिथ्या धारणाएँ रखते है, अकल्याणकर संतोष किए बैठे रहते हैं, उन्हें दूर करने का मूल्यवान् माध्यम है।

प्रेमचंद ने 'सेवासदन' के रूप में अपने समाज विशेष रूप से मध्यवर्ग, के सामने सदा सच कहनेवाला दर्पण रख दिया था। यह ठीक है कि दर्पण में जो दीख पड़ावह ऐसा कुछ नहीं था जिस पर प्रतिबिंबित समाज अभिमान करने का कोई कारण पा सकता था। किंतु यदि दर्पण में विकृत प्रतिबिंब न पड़ें तो दर्पण का आकर्षण अमोध सिद्ध होता है, क्योंकि हम उसमें अपनी आकृति के दोष देखते हैं तो साथ-ही-साथ गुणों को निहारने का संतोष भी पा लेते हैं। 'सेवासदन' की सुमन वेश्या हो जाती है, यह एक ऐसी कठोर वास्तविकता है कि, हम सोच सकते हैं, हम इसे भूले ही रहना पसंद करेंगे। किंतु हतभग्य स्त्रियों की तरह जहाँ यह सुमन भी है, वही वह भिन्न भी है। यही अनुभव कर लज्जित पाठक अज्ञात रूप से गर्व और आशा का अनुभव भी करता है। सुमन का पति गजाधर अकारण ही उसके चरित्र पर संदेह करता है और उसे गालियाँ देते हुए घर से निकले जाने को कहता है। सुमन उसका कोई प्रतिकार नहीं कर सकती, उसे अपना घर छोड़ जाने को बाध्य होना पड़ता है, किंतु इस विवशता के बीच भी वह यह कहने की चारित्रिक दृढ़ता रखती है, 'हाँ, यों कहा कि मुझे रखना नहीं चाहते। मेरे सर पर पाप क्यों लगाते हो? क्या तुम्ही मेरे अन्नदाता हो? जहाँ मजूरी करूँ, वही पेट पाल लूँगी।' पति के द्वारा लांछिता और परित्यक्ता सुमन हमारे समाज के लिए ग्लानिजनक और सामान्य बात है, पर सीता की तरह 'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्य' कहने से इनकार करनेवाली सुमन वह नारी है, जिसे भारत का मध्यवर्ग अपने में न पाते हुए भी पाना तो चाहने लगा ही था।

'सेवासदन' के बाद प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास है 'प्रेमाश्रम'। इसमें जमींदारी और किसानो का तो यथार्थतापूर्ण वर्णन है, किंतु मध्यवर्ग का प्रायः नहीं, जो नगर के वातावरण में जीता है, कम या थोड़ा-बहुत जो भी उपार्जित करता है वह नौकरी करके और अपनी बुद्धि के सहारे।

लेकिन इसके बाद के उपन्यास, 'निर्मला' में प्रेमचंद ने मध्यवर्ग की एक सुपरिचित समस्या, वृद्धि-विवाह, उसके कारणों और विभीषिकाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और यथार्थता का इतना ध्यान रखा है कि 'सेवासदन' के जैसा सुविधाजनक उपसंहार न जोड़ कर उपन्यास को दुःखांत रहने दिया है।

'निर्मला' उपन्यास की स्वयं निर्मला और उसके पति तोताराम, उदयभानुलाल और कल्याणी, मतिचंद्र और रंगीलीबाई, डाक्टर और सुधा सभी उस मध्यवर्ग या बुर्जुआ के सदस्य और प्रतिनिधि हैं, जिसके बारे में एक फ्रांसीसी लेखक ने ठीक ही कहा था कि उसकी एकमात्र सार्थकता यह है कि उस गोबर के ढेर पर गुलाब खिल उठते हैं। इस उपन्यास में निर्मला, कल्याणी और सुधा और निर्मला का सौतेला लड़का मनसाराम ऐसे ही गुलाब हैं जो क्षण-भर के लिए ही सही, किंतु अपने पंकिल आधार पर ऊपर उठकर अपना सौरभ चारों ओर फैला जाते हैं। प्रेमचंद ने सामाजिक आधार की पंकिलता का भी चित्रण किया है और प्रकृतिवादी उपन्यासकारों के सर्वथा विपरीत इससे अप्रत्याशित रूप से अंकुरित होनेवाले पुष्पों की भी उपेक्षा नहीं की है। प्रेमचंद का वास्तविक 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' यदि कुछ है तो यही।

'गबन' भी एक ऐसा ही उपन्यास है, जिसकी परिधि प्रधानत: मध्यवर्ग समिति मानवत सम्बंधी तक ही सीमित है। 'गबन' की मुख्य पात्री जालपा सुघड़ गृहिणी है और उसे अपने पति रमानाथ का प्रेम भी उसी तरह प्राप्त है, जिस तरह न तो सुमन को और न निर्मला को ही प्राप्त था। किंतु जिस वातावरण में वह पली है उसके फलस्वरूप उसके मन में 'आभूषण-ग्रंथि' पड़ गई है, हालाँकि पश्चिम के आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने ऐसी किसी 'मैनिया' या 'कंप्लेक्स' की उद्‌भावना नहीं की है। हाँ, खुद प्रेमचंद ने, जिन्होंने कभी मनोविश्लेषण- प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया, इस ग्रंथि, 'कंप्लेक्स' की गहराई का पता जरूर दिया है जब वे कहते हैं, 'जालपा को गहनों से जितना प्रेम था, उतना कदाचित् संसार की और किसी वस्तु से न था, और उसमें आश्चर्य की कौन-सी बात थी? जब वह तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उस वक्त उसके लिए सोने के चूड़े बनवाए गए थे। दादी जब उसे गोद में खिलाने लगती, तो गहनों की ही चर्चा करती: 'तेरा दूल्हा तेरे लिए बड़े सुन्दर गहने लाएगा। ठुमुक-ठुमुक कर चलेगी।'

मध्यवर्ग का वातावरण कहाँ तक और कैसे अपने सदस्यों के व्यक्तित्व को निर्धारित करता है, यह प्रेमचंद ने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव से जाना-सीखा था और वे विश्वास के साथ, सहज भाव से नब्ज पर उँगली रख देते थे।

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों ने ठीक ही कहा है कि मध्यवर्ग या बुर्जुआ ऊपर और नीचे के दो 'पाटों' के बीच दबा रहता है और 'साबित' नहीं बच पाता। इस सिद्धांत का हम

बहुत अच्छा उदाहरण 'कायाकल्प' में प्रसंगवश पाते हैं जहाँ एक ओर तो, ऊपर, रानी देवप्रिया और विशाल सिंह जैसे सामंतवर्ग के प्रतिनिधि हैं और दसूरी ओर, नीचे जगदीशपुर के किसान हैं। चक्रधर उनके बीच में क्या पिसता है, वह मध्यवर्ग ही पिस जाता है जिसका प्रतिनिधित्व वह करता है। 'नशा' जैसी छोटी कहानियों में भी इस तथ्य के प्रभावोत्पादक दृष्टांत मिलते हैं।

'रंगभूमि' का चित्रपट बहुत विस्तृत है और हम पहली बार प्रेमचंद को महाकाव्य के पैमाने पर उपन्यास की रचना करते पाते हैं। 'कायाकल्प' में जिस सामाजिक चित्रण की संपूर्णता की झलक-भर मिलती है, यहाँ वह प्रेमचंद का मुख्य लक्ष्य है। यदि इस उपन्यास में सूरदास के रूप में समाज का निम्नतम वर्ग, जिसे सर्वहारा कहा जाता है, सर्वोच्च स्तर पर उठा दिया जाता है, तो दूसरी तरफ रानी जाह्नवी औश्र राजा साहब, विनय और उसके बहनोई महेन्द्र प्रताप भी 'रंगभूमि' में आते हैं। इनके बीच का मध यवर्ग ही हमें जान सेवक और सोफिया के रूप में देखने को मिलता है; हालाँकि जान सेवक मध्यवर्ग से उठकर पूँजीपतियों की उस नवीन श्रेणी में सम्मिलित होने का प्रयास कर रहा है, जो श्रेणी उद्योगीकरण के साथ-साथ ही पनपती है। हम पहले कह चुके हैं कि प्रेमचंद सदैव मध्वर्ग के ही सदस्य बने रहे, किंतु मध्यवर्ग के स्तर पर रहकर उन्होंने नीचे औश्र ऊपर, नजदीक से देखा था। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में समाज के तीनों स्तरों औश्र नए बन रहे एक चौथे स्तर के चित्रण में भी उन्हें वही सफलता मिली जो मध्यवर्ग के चित्रण में उन्हें मिल चुकी थी।

'कर्मभूमि' की परिधि अपेक्षाकृत छोटी है और उसमें हम फिर एक बार मध्यवर्ग की प्रधानता पात हैं, जैसे 'गोदान' के बाद के औश्र प्रेमचंद के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' में। अमरकांत और उसके मध्यवर्गीय छात्र साथी एक तरफ तो सकीना और उसकी माँ, पठानिन, जैसी कुटीरशिल्प से जीवन-यापन करनेवाली स्त्रियों के संपर्क में आते हैं और उनके हृदय की विशालता से परिचित होते हैं और दूसरी तरफ गाँव के किसानों औश्र हरिजनों का भी नेतृत्व करते है। स्वाधीनता-संग्राम में मध्यवर्ग ने, छात्रों के माध्यम से, देश का जो नेतृत्व किया था, उसका पूरा निदर्शन हमें इस उपन्यास में मिलता है।

'गोदान' में तो संपूर्ण भारतीय जीवन ही पात्र बनाया गया है औश्र स्वभावतः उसमें मध्यवर्ग को अनुपात के अनुसार ही स्थान मिला है। फिर भी मेहता और

मालती, तंखा और ओंकारनाथ जैसे पात्र मध्यवर्ग के सभी स्तरों और पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं

प्रेमचंद की छोटी कहानियों की ओर, प्रस्तुत विषय के प्रसंग में, हमने अभी ऊपर संकेत किया है। यद्यपि प्रेमचंद ने रानी सारंधा और कफन जैसी उत्कृष्ट कहानियाँ भी लिखी हैं, फिर भी निर्विवाद है कि उन्होंने अधिकतर मध्यवर्ग को ही अपनी कहानियों का आधार बनाया है और उनकी कहानियाँ आसानी से 'जीवन के खंड' बन गए हैं।

6. प्रेमचंद की कला

रामविलास शर्मा

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रेमचंद का ध्येय समाज-सुधार था; कला की बातें गौण होकर आती हैं, उनका लक्ष्य पहले उस ध्येय की पुष्टि करना ही है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि कला के बारे में उन्होंने सोचा न था, विशेषकर उस कला के बारे में जिसका कहानी और उपन्यास के निर्माण से सम्बन्ध है। युवावस्था में प्रेमचंद ने बहुत से उपन्यास पढ़े थे—उनकी संख्या अनगिनती न रही हो परंतु उनमें भले-बुरे, कलात्मक और कलाहीन का हिसाब न लगाया गया था। तिलस्मे होशरुबा, चंद्रकांता संतति, बंकिमचंद्र और रेनॉल्ड के अनुवाद, और कुछ न मिला तो नवलकिशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद सभी कुछ उन्होंने पढ़ा था। 'मेरी पहिली रचना' और 'जीवनसार' (कफन) में उन्होंने अपने इस उपन्यास-प्रेम और अपनी पढ़ाई का हाल लिखा है। अपनी रचनाओं में प्रेमचंद का ध्येय समाज-सुधार था; एक समाज-सुधारक चंद्रकांता संतति और रेनाल्ड के अनुवाद पढ़े, कुछ अचरज सा लगता है। परंतु इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचंद को कथा-मात्र से प्रेम था; जो पढ़ते थे, उसमें उनके लिए पहला आर्कषण कहानी थी। इसलिए सुधार का लक्ष्य होते हुए भी उनकी खुद की रचनाओं में कहानी-तत्त्व गौण होकर नहीं आया। पाठक उन्हें कथा के आनंद के लिए पढ़ सकते हैं; सुधार का लक्ष्य छिपा हुआ है। भले-बुरे, सभी श्रेणियों के उपन्यास पढ़ने से प्रेमचंद की चिंतनशक्ति उर्वर हुई; प्रत्येक महान प्रतिभा को अपने लिए एक बना-बनाया ढाँचा न चाहिए, जिसका वह अनुसरण करें,—उसे अपने विकास के लिए केवल संकेत, थोड़ा सहारा चाहिए जिससे वह अपनी मौलिकता को खोज सके। प्रेमचंद की विचित्र और बहु प्रकार की पठन साम्रगी ने उनकी रचना शक्ति के लिए खाद का-सा काम किया और वह 'सेवासदन' जैसा आधुनिक उपन्यास लिख सके। केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचंद 'सेवासदन' को फिर न पा सके; अपने अन्य बड़े उपन्यासों में उन्होंने निर्माण का ढंग ही बदल दिया था। 'सेवासदन' में पाठक का ध्यान सुमन पर केंद्रित रहता है; विषम सामाजिक परिस्थितियों में उसका विवाह होता है, पति से विछोह और बाद में वेश्या-जीवन आरम्भ होता है। अंत में वह सेवासदन में स्वयं आश्रय खोजती दूसरों के आश्रय का प्रबन्ध करती है। आरम्भ से अंत तक सुमन पर से पाठक की दृष्टि नहीं हटने पाती और वही कहानी के ऊहापोह का कारण बनती है। परंतु 'सेवासदन' की आधुनिकता इस निर्माण में ही नहीं है;

उसकी महत्ता घटनाओं के तारतम्य, विशेषकर परिस्थिति, घटना और चरित्र के सामंजस्य में है। 'सेवासदन' में घटनाओं का सम्बन्ध चरित्र तक, कथा के कुछ पात्रों तक ही नहीं रहता; वह फैलकर परिस्थिति, समाज की विशिष्ट अवस्थाओं तक पहुँच जाता है। प्रेमचंद के पहले के उपन्यासकार इस सामाजिकता को न पहचान पाए थे; उनके उपन्यास कुछ पात्रों की कथाएँ हैं–प्रेमचंद के उपन्यास समाज का प्रतिबिम्ब है, पात्र केवल सामाजिक दशाओं के चित्रण में सहायता करते हैं। और अंत तक पहुँचते-पहुँचते सेवासदन' की कथा का केन्द्र सुमन न होकर वेश्या-जीवन हो जाता है। सुमन की समस्या एक बृहत समस्या में घुल-मिल जाती है। फिर भी सुमन का चित्रण अत्यंत सजीव है; उसमें वैयक्तिक विशेषताएँ है और वह केवल एक सामाजिक परिस्थिति या किसी वर्ग का प्रतीक मात्र नहीं है। वर्ग और व्यक्ति दोनों को उनका उचित स्थान दिया गया है। आरम्भ में दारोगा कृष्णचंद की ऐसी परिस्थिति दिखाई गई है कि उन्हें कन्या के विवाह के लिए घूस लेना और फलत: जेल जाना पड़ता है। कोई दूसरा होता तो सब कुछ निबाह ले जाता परंतु कृष्णचंद्र की सिधाई स्थिति के सँभालने में बाधक होती है। वहीं से सुमन की विपत्ति-कथा का आरम्भ होता है। बाद में शहर में, उसका पति, पड़ोसी भोली रंडी, पद्मसिंह आदि उसके घर छोड़ने और रंडी बनने में सहायक होते हैं। सुमन की व्यक्तिगत चेष्टाएँ अनुकूल परिस्थितियों से प्रेरित होती हैं और उनका एक निश्चित दशा में अंत होता है। इसके बाद वेश्याओं को लेकर नगर में जो आंदोलन चलता है, उससे समाज का व्यभिचार, उसकी पतित अवस्था हमारे सामने आ जाती है। प्रेमचंद ने नगर के प्रमुख व्यक्तियों के सुंदर रेखाचित्र दिए हैं और वह व्यंग्यपूर्ण चित्रण देखते ही बनता है। सुमन के जीवन की दूर तक प्रतिक्रिया होती है और उसकी बहन को अविवाहित ही विधवा बनना पड़ता है। 'सेवासदन' में नगर के, बाजार के, बागों और मंदिरों के, सेठ-साहूकार, वकील, सुधारकों के, और नदी के किनारे मल्लाहों के चित्रण से हम सुमन को उसके चारों ओर के वातावरण में सामाजिक परिस्थितियों के बीच देख सकते हैं। प्रेमचंद के पहले हम कथाएँ पढ़ते थे; यहाँ नित्यप्रति की देखी-सुनी बातें पाते हैं, कल्पना से यथार्थ में आते हैं।

'सेवासदन' में कथा-सूत्र एक ही है; 'रंगभूमि', प्रेमाश्रम' आदि की भाँति कई कथाएँ एक साथ नहीं चलतीं। उन बड़े उपन्यासों की श्रेणी से अलग प्रेमचंद का दूसरा सुगठित उपन्यास 'निर्मला' है। अपने घर में अविवाहित दशा से लेकर मृत्युपर्यंत निर्मला ही कथा का केंद्र है। फिर भी घटनाओं में अंतर नहीं पड़ता, अविलम्ब एक

दूसरे का अनुसरण करती वे हमारे सामने आती हैं। निर्मला की दोहाजू से शादी होती है और फिर बाबू तोताराम की गृहस्थी की विचित्र समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। मंसाराम की मृत्यु के बाद निर्मला का जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है और रोग और दरिद्रता में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ भी निर्मला के सहारे, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचंद वयस्क दोहाजू के विवाह से उत्पन्न घरेलू समस्याओं का ताना-बाना बुनते हैं। निर्मला के जीवन की घटनाओं में मग्न, कथा का आनंद लेता हुआ पाठक, समाज की इन गुत्थियों को भी सुलझाता चलता है। इसी श्रेणी में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास भी आता है। अमृतराज और पूर्णा कथा का केंद्र हैं; अमृत केवल विधवा से शादी करने की प्रतिज्ञा करते हैं, और पूर्णा विधवा हो जाती है परंतु अनेक कारणों से फिर भी उनकी शादी नहीं होती।

यहाँ भी कथा के साथ विधवा-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'ग़बन' इस कोटि के उपन्यासों में सबसे लम्बा है। यहाँ मूल समस्या गहनों को लेकर खड़ी हुई है। जालपा गहने चाहती है; उसके ससुर और पति मिथ्या सामाजिक मर्यादा के फेर में एक कमज़ोरी के बाद दूसरी कमज़ोरी की तरफ बढ़ते जाते हैं और जब जालपा सजग हो जाती है तब भी उसका पति रमानाथ नहीं सँभल पाता क्योंकि वह पतन की राह में बहुत आगे बढ़ चुका है। केवल जालपा का हठ और उसका त्याग, साथ ही ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ जो रमानाथ के सोते आत्मसम्मान को जगा देती हैं, उसे फिर मनुष्य की तरह जीवन बिताने योग्य बनाती हैं। आज का समाज किस तरह हमारी कमज़ोरियाँ उभारता है और हमें शीघ्र से शीघ्र पतित होने में सहायता देता है, इसका सूक्ष्म-चित्रण यहाँ मिलता है। साथ ही रमा और जालपा की कहानी से भी हमारा ध्यान नहीं हटने पाता। उसी कथा को उभारने के लिए रतन और उसके पति वकील की कथा भी आ जाती है, परंतु वह बहुत छोटे परिमाण में है।

अन्य उपन्यासों में दो या अधिक कथाएँ साथ-साथ चलती हैं और मूल कथा, किसे कहें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में एक ओर ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर, गायत्री, कमलानंद आदि ज़मीदार वर्ग के पात्र हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी कथा है, दूसरी और गौस खाँ के किसान, मनोहर, बलराज, कादिर आदि हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी भी कहानी है। परंतु ये कहानियाँ जितनी अलग ऊपर से जान पड़ती हैं, उतनी वास्तव में नहीं हैं। दोनों का एक दूसरे के निकट का सम्बन्ध है

और वे एक दूसरे की आश्रित हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस कोटि के मुख्य उपन्यास, प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' गाँवों से सम्बन्धित हैं और इसलिए प्रेमचंद को वहाँ के दो वर्गों का चित्रण करना आवश्यक था। 'सेवासदन', 'ग़बन' और 'निर्मला' की समस्याएँ एक ही वर्ग या परिवार की हैं अथवा वहाँ वर्ग-संघर्ष इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। गाँवों में जमींदार एक तरफ़, किसान एक तरफ़–दोनों के खेमे जुदा-जुदा हैं। इसलिए किसानों का शोषण चित्रित करने के लिए उन्हें ज़मींदारों का चित्रण करना ही था। और प्रेमचंद दोनों वर्गों को निकट से जानते थे, इसलिए बड़े परिमाण पर उन्होंने अनेक चित्र बनाए हैं। गायत्री और ज्ञानशंकर की प्रेमलीलाओं से किसानों का निकट का सम्बन्ध है। जब गायत्री का कृष्ण-प्रेम उमड़ता है, वह सनातन धर्म की सभाएँ करती हैं, धर्मशालाएँ बनवाती हैं, तो इसका बोझ किसानों के कंधों पर ही पड़ता है। ज्ञानशंकर की व्यक्तिगत धूर्तता और उनका पाखंड उन्हें एक आदर्श हृदयहीन ज़मीदार के रूप में हमारे सामने रखता है। और अंत में मायाशंकर और किसानों दोनों वर्गों का सहकारिता की खेती में, एक वर्गहीन समाज में अंत होता है। प्रेमाश्रम' में खूब विभिन्नता है; उसका ध्येय किसानों को सरकारी और ज़मीदारी शासन के नीचे पिसता हुआ दिखाना है। इसलिए एक गठित कथा को लेकर चलना घातक होता। अनेक आधुनिक उपन्यासकार कथा को छोड़कर केवल सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। अपनी विशृंखलता से ही वे पाठक पर एक प्रभाव छोड़ना चाहते हैं। प्रेमचंद में वैसी विशृंखलता नहीं है। रूसी क्रांति के पूर्व के उपन्यासकार टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि की भाँति कथासूत्रों को लेते हुए वे सामाजिक परिस्थितियों का चित्र देते हैं। निर्माणकला की दृष्टि से प्रेमाश्रम' उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना सेवासदन'। 'सेवासदन' का क्षेत्र संकुचित है, 'प्रेमाश्रम' का बृहत। पूरा उपन्यास पढ़ने पर गाँवों का समाज, उसकी समस्याएँ, शोषण-यंत्र की विचित्र गतिविधि, सभी से हमारा परिचय हो जाता है। प्रत्येक महान कृति की भाँति हम उसके लिए कह सकते हैं, यह जीवन का ही चित्र है।

'रंगभूमि' की कथा के दो केंद्र हैं, एक सूरदास दूसरे विनयसिंह। सूरदास के पास थोड़ी सी ज़मीन है; जॉन सेवक उस पर अपना तमाखू का कारखाना बनाना चाहते हैं। यही सारे झगड़े की जड़ है। सूरदास के चारों ओर भैरों, जगधर, नायकराम आदि देहात के अन्य पात्र हैं; भैरों की स्त्री सुभागी को लेकर एक टंटा खड़ा हो जाता है। कारखाना बनने से कुछ गाँव वालों को अपना लाभ भी दिखाई देता है; वे डटकर, एक होकर सेवक साहब का विरोध नहीं कर पाते। सूरदास और उसके गुट को अपना

केंद्र मान प्रेमचंद ने उस गाँव की दशा चित्रित की है जो पुरानी मान-मर्यादा के विचारों के होते हुए भी नए उद्योग-धंधों के अक्रमण से अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। सेवक और सूरदास के बीच ताहिरअली, जो सेवक के क्लर्क हैं, अपनी छोटी-सी कथा लिये आते हैं। भले सीधे आदमी, परिस्थिति की मार से जान-बूझकर अधर्म का काम करते हैं, और उन्हें सज़ा भी मिलती है, अधर्म की नहीं, अपनी सिधाई की। सूरदास के विरोधी दल में सेवक के साथ कुँवर भरतसिंह, राजा महेंद्र प्रतापसिंह, आदि मिले हुए हैं। भरतसिंह ही सबसे पहले कारखाने के हिस्से खरीदने को तैयार होते हैं। महेंद्रसिंह ज़मीन दिलाने को कहते हैं। हाकिम क्लर्क भी सेवक के लालच दिखाने पर उनकी सहायता करते हैं। ज़मीन के मालिक जमींदार, जागीरदार आदि भूमिपति से आधुनिक पूँजीपति बन सकते हैं। इन भूमिपतियों, नए व्यापारियों और इनके सहायकों के साथ एक गुट आदर्शवादियों का है जिसमें कुछ द्वंद्व से अलग हो जाना चाहते हैं, कुछ उसे सुलझाना चाहते हैं, और परिस्थिति की थपेड़ों से कुछ प्रतिक्रियावादी होकर जन-पक्ष के दमन में भी सहायक हो जाते हैं। विनयसिंह को अपनी माता से पुराने ढंग की आत्मत्याग और देश-सेवा की शिक्षा मिली है। वह एक आदर्शवाद लिये जीवन में प्रवेश करते हैं परंतु परिस्थिति उन्हीं के जीवन में एक द्वंद्व उत्पन्न कर देती है और वह कभी इस ओर, कभी उस ओर, अर्द्ध-निष्क्रिय से झोंके खाया करते हैं। प्रभु सेवक इस द्वंद्व से दूर हो अपने आप को कविता में भूल जाना चाहते हैं। उनके पिता बार-बार उन्हें व्यापार की भँवर में डालना चाहते हैं, परंतु कमल-पत्र की भाँति उन पर पानी चढ़ता ही नहीं है। सोफी विनय से प्रेम करती है; उसका कार्यक्रम विनय से ही प्रभावित होकर बनता है। राजपूताने की रियासतों में जब विनय से अलग वह षड्यंत्रकारियों से मिल जाती है, तो विनय के कार्यों की प्रतिक्रिया के ही कारण। कुँवर भरतसिंह की पत्नी रानी जाह्नवी के देश-प्रेम का स्रोत्र पुत्र है : मेरा पुत्र महान हो, यह उनकी कामना है, और उसके महान बनने के लिए देशसेवा एक साधन है। इन आदर्शवादियों में कोई भी समस्या को ठीक तरह नहीं सुलझा पाता। सेवक और सूर का संघर्ष चला करता है और अंत में सूर के साथ सारा गाँव, जैसा कि हम देख चुके हैं, तहस-नहस हो जाता है। इस तरह कथा के अनेक सूत्र एकत्र कर प्रेमचंद एक बहुत सामाजिक परिवर्तन का चित्र दे सके हैं; मूल कथा विनय और सोफी की, या सूर और सुभागी की नहीं रहती–उपन्यास का कथानक एक सामाजिक परिवर्तन हो जाता है और प्रेमचंद की कला इसे चित्रित करने में पूरी तरह सफल हुई है।

'कर्मभूमि' का ढाँचा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। यहाँ पर दो कथाएँ हैं, एक चमारों के गाँव की, एक नगर की, परंतु दोनों ही अमरकांत के व्यक्तित्त्व से जुड़ी हुई हैं, साथ ही दोनों का ही सम्बन्ध अछूतों से है। एक तरफ अमरकांत के गाँव में लगानबंदी का आंदोलन चलता है, दमन होता है, दूसरी तरफ नगर में मंदिर-प्रवेश के लिए सत्याग्रह होता है, गोली चलती है, अछूतों के लिए नए मकान बनें, इसके लिए म्यूनिसिपैलिटी के विरुद्ध आंदोलन चलता है। अछूत समस्या का यहाँ भी बृहत चित्र खींचा गया है; उसके आर्थिक, सामाजिक पहलू हमारे सामने आते हैं। अमरकांत की कहानी अछूत आंदोलन की कहानी बन जाती है। कथा के दो क्षेत्र होने से प्रभाव कम नहीं होता वरन वे एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक निश्चित कलात्मक प्रभाव के अंग बन जाते है। निर्माण की दृष्टि से 'कायाकल्प' प्रेमचंद का सबसे निर्बल उपन्यास है। चक्रधर की कहानी और रानी देवप्रिया की पारलौकिक गाथा काफी दूर-दूर चलती हैं। यद्यपि अंत में वे एक हो जाती हैं परंतु उन्हें एक करने में जितना विलम्ब लगता है, उससे पाठक धीरज खो बैठता है। कथाओं के असम्बद्ध होने पर भी लेखक का ध्येय राजा-ज़मींदारों का चित्रण करना स्पष्ट रहता है। ये पात्र इतने मौलिक और मजेदार हैं कि उपन्यास की रोचकता नष्ट नहीं होती। 'गोदान' का ढाँचा बहुत कुछ 'प्रेमाश्रम' जैसा है--एक गुट होरी के चारों ओर किसानों का है, दूसरा गुट रायसाहब के चारों ओर उच्च वर्ग के लोगों का है। इनमें मेहता और मालती भी हैं जो गाँव वालों से सहानुभूति रखते हैं परंतु लड़ाई में कूदकर, डटकर उनका पक्ष लेकर लड़ नहीं सकते। इन्हीं के साथ पत्रकार, मिलों के मालिक, शहर के अमीर आवारा भी हैं जो होरी की गरीबी से अलग उच्चवर्ग की ऊपरी चमक-दमक का चित्र पेश करते हैं। लेकिन यह वर्ग मूल चित्र के पृष्ठभाग में ही रहता है; चित्र का अधिक भाग होरी और उसके साथियों को ही दिया गया है। इसका कारण यह है कि होरी की मुख्य लड़ाई उतनी इस उच्च वर्ग के साथ नहीं है जितनी गाँव के ही महाजनों से। 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चित्र की पूर्णता के लिए है। कथाक्रम में 'प्रेमाश्रम' की ही भाँति तीव्रता है--वहाँ एक गाँव का गाँव स्वाहा हो जाता है, यहाँ होरी पूरे महाजन वर्ग और उसके सहायक जमींदार वर्ग के कारिंदों से युद्ध करता हुआ परास्त होता है। किसान-महाजन संघर्ष का होरी ही एक महान प्रतीक बन जाता है और उसका अकेला चरित्र कथा की एकसूत्रता में सहायता करता है। उसके अनेक सहायक पात्र

हैं जो शोषण चक्र में पिसते दिखाई देते हैं। शोषकों में भी काफी विचित्रता है; इसलिए कथा की एकता के साथ उसकी विचित्रता और रोचकता में कमी नहीं होने पाती।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं में पैठते हुए भी परिस्थितियों के अनुसार उसका उत्थान-पतन दिखाते चलते हैं। सारा व्यापार अत्यंत स्वाभाविक और मानव-सुलभ हो उठता है, और पाठक पर सत्यता की छाप डालता है। 'कायकल्प' में चक्रधर का और 'रंगभूमि' में विनयसिंह का पतन, इसके दो उदाहरण हैं। 'कर्मभूमि' में अमरकांत का भी कुछ ऐसा हाल होता है। आत्मानंद महंत का गुरुद्वारा घेर लेने के पक्ष में हैं, अमरकांत पहले समझौते की बात करना चाहते हैं। एक बार वह अफसरों से मिलने जाते हैं। उनके व्यवहार से वह मुग्ध हो जाते हैं; चमारों से आत्मीयता और बंधुत्व वाला भाव कुछ क्षणों को लोप हो जाता है। "अफसरों की सोहबत ने कुछ अफसरी शान पैदा कर दी थी। "लोगों से कहा--'' हाकिम परगना तुम्हारी हालत जाँच करने आ रहे हैं। खबरदार! कोई उनके सामने झूठा बयान न दे ! ....तहकीकात में देर जरूर लगेगी; लेकिन राज्य-व्यवस्था में देर लगती ही है।......... रुपए में आठ आने छूट का ज़िम्मा मैं लेता हूँ। सब्र का फल मीठा होता है, इतना समझ लो।'' धीरे-धीरे आत्मानंद भी अमरकांत की सलाह मान गए। वह सभा में लोगों को बाकी लगान दे देने की सलाह दे रहे थे। उसी समय अमरकांत को घर का पत्र मिला, जिसमें उसकी स्त्री सुखदा की गिरफ्तारी और जेल-यात्रा का वृत्तांत था। तुरंत ही अमर की कल्पना अपनी वीरांगना नारी के अतिरंजित चित्र खींचने लगी। "ऊपर असीम आकाश में केसरिया साड़ी पहने कौन उड़ी जा रही है? सुखदा ! सामने की श्याम पर्वत-माला में गोधूलि का हार गले में डाले कौन खड़ी है?'' इसका परिणाम यह हुआ कि उसने सभा में बड़ा ही उग्र भाषण दिया और अपना पक्ष छोड़कर लगानबंदी का जोरों से समर्थन किया। परिस्थिति के चक्र में उत्थान-पतन दोनों होते हैं। 'गबन' में ज़ोहरा रमानाथ को फँसाना चाहती है, परंतु उसकी स्त्री जालपा को राजबंदियों के नि:सहाय कुटुम्बों में बर्तन माँजते देख उसका हृदय पसीज उठता है और वह जालपा की सबसे बड़ी हितू बन जाती है। 'गोदान' में विलासप्रिय मालती के चरित्र का विकास भी ऐसा ही हुआ है।

मनुष्य के भावों-विचारों में किस तरह छोटी-छोटी गुत्थियाँ पड़ती और सुलझती हैं, इसका चित्रण करने की प्रेमचंद में अद्‌भुत क्षमता है। 'गोदान' का 10वाँ अध्याय एक

उदाहरण है। होरी रात से अपने खेत के पास की मड़ैया में लेटा है; उसकी स्त्री धनिया खबर लाती है कि उसके लड़के गोबर की छोड़ी हुई स्त्री झुनिया उसके यहाँ आश्रय चाहती है, पाँच महीने का उसके गर्भ है। धनिया उसे घर में रखने के पक्ष में नहीं है, होरी उसे हाथ पकड़ दूर कर देने की बात कहता है। दोनों घर की ओर चले तो पति-पत्नी में विवाद होने लगा। धनिया को चिंता हुई, रात को कहाँ जायगी; कहीं डरडरा न जाय। घर तक पहुँचते धनियाँ होरी को कसम रखाने लगी कि उस पर हाथ न उठाए। और घर के भीतर जब होरी पहुँचा तो सामाजिक मर्यादा-ज्ञान के ऊपर उसकी ग्रामीण सहृदयता जाग उठी; अपने पैरों पर पड़ी झुनिया से वह यही कह सका-"डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह।" मानव-चरित्र में ऐसे घात-प्रतिघात उनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। इसीलिए उन्हें पढ़ते ही उनकी यथार्थता पर विश्वास हो जाता है–प्रेमचंद ने मनुष्य की कमज़ोरियों, और शहज़ोरियों का निकट से अध्ययन किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है।

कहानी में चरित्र-विकास और कथानक के नियम दूसरे ही हैं। सूक्ष्म मनोविज्ञान की बातें यहाँ खूब उघर कर आती हैं और कहानी को सुंदर बना देती हैं। दूसरे प्रेमचंद की शब्द-चित्रण की प्रतिभा के लिए यहाँ विशेष क्षेत्र रहता है। 'रंगभूमि' में ताहिरअली, नायकराम, राजा महेंद्रप्रताप आदि के जैसे शब्द-चित्र उन्होंने दिए, या 'गोदान' में महाजनों के, 'प्रेमाश्रम' में चपरासी-कारिंदों के–ऐसे शब्द-चित्र कहानी की जान हो जाते हैं। थोड़े में एक पात्र को सजीव आँखों के सामने खड़ा कर देने की क्षमता कहानी को सफल बनाने में विशेष सहायता देती है। प्रेमचंद का व्यंग्य भी यहाँ खूब निखर कर आता है। जैसे शंखनाद में चौधरी के बड़े लड़के बितान "एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तखत कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्जई की जगह कमीज पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था।" प्रेमचंद दो-चार बातों को शब्दचित्र में ऐसा सजा देते हैं कि सारा चित्र जी उठता है; रेखाचित्र को सफल बनाने के लिए जैसे उसके सभी अंगों का पूरा-पूरा बनाना आवश्यक नहीं होता, केवल कुछ रेखाओं से ही वह सजीव हो उठता है। इसके साथ प्रेमचंद का छिपा हुआ हास्य, चारित्रियक विशेषताओं पर व्यंग्य करता हुआ चलता रहता है। उपन्यास और कहानियों में वह समान रूप से देखने को मिलता है। 'दंड' (मानसरोवर, तीसरा

भाग) कहानी में कचहरी उठ जाने के बाद "अहलकार और चपरासी जेबें खनखानाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था शायद कहीं पैसे-वैसे मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में सांड़ों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नज़र आते थे।" 'शतरंज के खिलाड़ी' उनके व्यंग्य और हास्य का सुंदर नमूना है। 'कफन' में करुणा और हास्य अद्भुत रूप से मिलते हुए हैं। कहीं-कहीं यह हास्य, यथार्थ के संघर्ष में आकर अत्यंत कटु हो गया है। 'नशा' (मानसरोवर, पहला भाग) में एक ठाकुर पूछने आता है, स्वराज्य में जमींदारों की जमीन छीन ली जायगी कि नहीं। कहानी का लेखक जो अपने मित्र के यहाँ जमींदार का स्वाँग बनाए हुए है, कहता है कि जो जमीन न देंगे, उनकी छीन ली जायगी, और अपने इलाके में स्वराज्य होते ही वह जमीन किसानों के नाम हिबा कर देगा। ठाकुर वहीं चलना चाहता है परंतु लेखक बताता है कि अभी उसे अख्तियार नहीं है; होने पर बुला लेगा। मोटर ड्राइवरी सिखाकर ठाकुर के ड्राइवर बनने की बात भी पक्की हो गई। नतीजा यह हुआ, "उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने को तैयार हो गया।" मोटेराम वाली कहानियों में हास्य बहुत उथला है परंतु यह उथलापन तब आता है जब प्रेमचंद हास्य की ही कहानी लिखना चाहते या हास्यपूर्ण परिस्थिति बनाना चाहते हैं। उनका हास्य सबसे सफल तब होता है जब चरित्र चित्रण या वर्णन के साथ वह मिल जाता है या मनुष्य की छोटी-छोटी कमज़ोरियों की ओर इंगित करता है।

चरित्र-चित्रण के लिए शब्द-चित्र ही एक साधन नहीं है; ज्यादा काम वार्तालाप से लिया जाता है। पात्रों की बातचीत से उनके चरित्र की विशेषता दिखाने में प्रेमचंद ने कमाल किया है। बातचीत बहुत ही स्वाभाविक होती है और पात्रों के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन हुआ करता है। धाराप्रवाह बोलने वाली बातूनी स्त्रियों का 'गोदान' की धनिया एक उदाहरण है; अपनी बातों से वह बड़ों-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है और उसकी भाषा ऐसी रोचक होती है कि उसकी वक्तृता सुनते जी नहीं आघाता। मनुष्यों की बातचीत की स्वाभाविकता का तो कहना ही क्या; पशुओं के मूक सम्भाष्ण को भी प्रेमचंद ने शब्दों में बाँध दिया है। पशु जिस प्रकार कुछ सोचते हैं, सोचने के बाद मिलकर कोई काम करते हैं- कम से कम उनके कार्यों से भासित ऐसा होता है कि वे सोच रहे हैं, उस दशा का चित्रण 'दो बैलों की कथा' (मानसरोवर, दूसरा भाग) में मिलता है। 'दूध का दाम' में टामी और मंगल की बातचीत ने यथार्थ और

कल्याण के सम्मिश्रण से एक विचित्र भाव जगत तैयार कर दिया है। मंगल जमींदार के यहाँ से निकाल दिया गया है; वहाँ लौटकर नहीं जाना चाहता; टामी से सलाह करता है। "खाओगे क्या टामी, मैं तो भूखा ही लेट रहूँगा।" टामी कूँ कूँ कर उत्तर देता है- "इस तरह का अपमान तो जिंदगी भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा। मुझे देखो न, अभी किसी ने डंडा मारा, चिल्ला उठा; फिर ज़रा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुँचा। हम-तुम दोनों इसीलिए बने हैं भाई।"

अधिकांश कहानियों में प्रेमचंद एक ही प्रधान घटना रखते हैं, कथानक की गति उसी की ओर होती है, और पाठक का ध्यान एक ही में बहता है। उनकी सबसे सुंदर कहानियों में कथा का समय भी थोड़ा ही होता है। 'कफन' में सारी घटनाएँ बिना टूटे हुए कुछ घंटों में हो जाती हैं। ऐसे ही उनकी अन्य सुंदर कहानी 'पूस की रात' (मानसरोवर, पहला भाग) में केवल एक रात की घटनाओं का वर्णन है। 'शतरंज के खिलाड़ी' निर्माण कला का सुंदर उदाहरण है। 'सद्गति' में भी घटनाओं का क्रम टूटने नहीं पाता; दुखी चमार जब से घर से साइत विचरवाने चलता है, तब से उसकी मृत्युपर्यंत उस पर से पाठक की दृष्टि एक क्षण को भी नहीं उठने पाती। जहाँ इस समय की एकता का विचार नहीं होता, वहाँ भी मूल समस्या एक ही हो, इस बात का ध्यान रखा जाता है। सारी बात प्रभाव की होती है; प्रेमचंद की कहानी का प्रभाव सधा हुआ और संगठित होता है। कहने कुछ लगे और कह गए कुछ, ऐसा देखने को नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण और वार्ता दोनों का लक्ष्य ही इस प्रभाव को उभारता रहता है। अंत में कहानी पढ़ने पर पाठक को एक तृप्ति मिलती है; समस्या सुलझ जाती है और पाठक आगे के लिए चिंतित नहीं रहता। कथा के आनंद को प्रेमचंद अधूरा नहीं रखते।

इसके साथ ही कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचंद अपनी कथा के लिए उचित 'सेटिंग' तैयार कर लेते हैं। उनकी वर्णन शक्ति चित्र के पृष्ठभाग को सजाने में सहायता देती है। 'पूस की रात' में ठंड का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। थोड़े से ही शब्दों में प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को वह सजग कर देते हैं। "आकाश पर तारे भी ठिठुरते मालूम होते थे" या "रात में शीत को हवा ने धधकाना शुरू किया" ऐसे वाक्य गाँव में पूस की ठंड की कल्पना करा देते हैं। कहीं-कहीं उनका प्रकृति-वर्णन कवित्वपूर्ण होने के साथ हल्की भावुकता लिये होता है। परंतु बार-बार उनकी भाषा अपनी वर्णन-क्षमता से हमें अचम्भे में डाल देती है। "अंतस्तल की गहराइयों से एक लहर-सी उठती हुई

जान पड़ी, जिसमें उसका अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भाँति उतराता हुआ दिखाई दिया।'' (जेल-समरयात्रा) मनोभावों को दर्शाने के लिए उनकी चित्रमय व्यंजना देखते ही बनती है। जब बुढ़िया नोहरी दुखी हुई तो "उसके मुख की झुर्रियाँ मानो रेंगने लगीं'' (समरयात्रा-समर); शब्द-चित्र करुणा की व्यंजना साथ लिये है। भाषा को सबल बनाने के लिए प्रेमचंद ने साधारण से साधारण बात को भी अपनाने में असाहित्यिकिता का भान नहीं किया। "मिस मालती मेहता के साथ चलने को तैयार हो गईं। खन्ना मन में ऐंठकर रह गए। जिस विचार से आए थे, उसमें जैसे पंचर हो गया।'' (गोदान) भोला एक जगह "अपील भरी आँखों'' से होरी को देखता है और दूसरी जगह गोबर के शब्द "तपते हुए बालू की तरह (धनिया के) हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गए।'' प्रेमचंद की सफलता का रहस्य बहुत कुछ उनकी भाषा है। पहले वह उर्दू में लिखते थे, इसलिए कुछ लोग कह देते हैं, उनके गद्य पर उर्दू की छाप है। प्रेमचंद जैसे यथार्थ के विद्यार्थी के लिए उर्दू में बहुत दिन तक लिखना सम्भव न था। प्रेमचंद के ग्रामीण पात्रों की भाषा देखने से यह स्पष्ट हो जायगा। क्या उनके सूरदास, कादिर, होरी, मनोहर, बलराज, गोबर, धनिया, दातादीन, झिंगुरीसिंह, आदि के उर्दू बोलने की कल्पना की जा सकती है? यद्यपि गाँव के किसान सचमुच तो अपनी दिहाती बोली में बात करते हैं परंतु वह बोली हिंदी के अति निकट होने से प्रेमचंद के लिखे वार्तालापों में घुल-मिल गई है। किसानों को बातचीत कराने में प्रेमचंद ने असाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है। देहाती बोली और हिंदी के एकीकरण में उन्हें इतनी सफलता मिली है कि गाँव का रहने वाला पाठक भी प्रेमचंद के किसानों की बात सुनकर उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकता। प्रेमचंद के मुसलमान पात्र जो शहर में रहते हैं, उर्दू बोलते हैं। परंतु जो गाँव के हैं, वे हिंदी ही बोलते हैं। इससे साम्प्रदायिक भेद-भाव से परे भाषा की एकता का पता चलता है। गाँव के किसानों के लिए कौन भाषा सबसे सुलभ होगी, प्रेमचंद के किसानों की बातचीत से देखा जा सकता है।

परंतु प्रेमचंद किसानों की बातचीत के लिए ही देहात से शब्द नहीं लेते; उनकी भाषा का गठन ही उस देहाती बोली की भूमि पर हुआ है। जो सुंदर मुहावरे, कहावतें, उपमाएँ और हास्य के पुट उनके गद्य में हमें मिलते हैं, उन्हें प्रेमचंद ने अपने गाँव की बोली से सीखा था। अपनी उपमाएँ बहुधा ग्रामीण जीवन से ली हैं। "गाय मनमारे उदास बैठी थी, जैसे कोई बधू ससुराल आई हो'' (गोदान)। "रग्घू खाने बैठा, तो कौर

विष के घूँट-सा लगता था।... दो चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का भोजन हो'' (अलगोझा-मानसरोवर पहला भाग) "तिलक-मंडप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने-गिनाए आदमी उसके सामने चुपचाप खड़े थे, मानो श्मशान में खड़े किसी मृतक की दाह-क्रिया कर रह हों' (कायाकल्प) इत्यादि। प्रेमचंद की भाषा के अलंकार उसके प्रवाह में सहज ही सज जाते हैं। सारी बात अनुभव और सचाई की है। प्रेमचंद जनता को जानते थे, उसकी भाषा को जानते थे; वहीं से उन्हें शक्ति मिली है। चमत्कार उत्पन्न करने के सैकड़ों उपाय हैं परंतु प्रेमचंद को वे सोचने न पड़े थे। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कार-पूर्ण है, उतना ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।

अस्तु, समाज-सुधारक प्रेमचंद से कलाकार प्रेमचंद का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनका लक्ष्य जिस सामाजिक संघर्ष और परिवर्तनक्रम को चित्रित करना रहा है, उसमें वह सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों की लम्बाई से अनुमान करना कि उनमें भरती की गई है, भ्रमात्मक है। अपने बड़े उपन्यासों में उन्होंने समाज के बृहत चित्र दिए हैं, उसके लिए वैसा परिमाण आवश्यक था। लम्बे उपन्यास लिखने में प्रेमचंद अकेले नहीं हैं। विदेश के अन्य लेखकों ने भी जिनकी कथा-वस्तु इस प्रकार की रही है, ऐसे उपन्यास लिखे हैं। 'निर्मला', 'सेवासदन' आदि लिखकर उन्होंने दिखा दिया है कि वह एक सुगठित कथा लिख सकते हैं, परन्तु इनका कलात्मक प्रभाव बड़े उपन्यासों से भिन्न है। समाज के बड़े-बड़े परिवर्तन-क्रम, जिनमें हमारी सभ्यता का ध्वंस और निर्माण होता है, जिनमें समाज की बड़ी-बड़ी वर्गशक्तियाँ अपनी-अपनी हार-जीत के लिए प्राणपन से चेष्टा करती हैं, जिनमें व्यक्ति से ऊपर उठ हम समाज के समूहों को ही पात्र-रूप में कार्य करते देखते हैं, वह संघर्ष की विशद कल्पना, सामाजिक-विकास का सूक्ष्म विश्लेषण और चित्रकार की बड़े परिमाण में निर्माणकला छोटे उपन्यासों में सुलभ नहीं है। कहानियों में शब्द-चित्रों के साथ वह कथा-तत्त्व का पूरा ध्यान रखते हैं और हास्य और व्यंग्य उनके चित्रण को सजीव बनाते हैं। वार्तालाप में स्वाभाविकता ऐसी होती है कि जिस श्रेणी का व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी भाषा भी होती है। प्रेमचंद के पात्रों की भाषा एक अध्ययन करने की वस्तु है; देहाती, हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी और इनके मिश्रण से बनी अनेक प्रकार की भाषा-शैलियाँ एक युग के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इतिहास है। 'कफन' के चमारों से लेकर 'शतरंज के खिलाड़ी' के

बीते युग के नवाबों तक सैकड़ों श्रेणियों के पात्रों का उनकी स्वाभाविक भाषा में बातचीत कराना समाज के अद्भुत ज्ञान का साक्षी है। ऐसी क्षमता संसार के महत्तम साहित्यिकों में ही पाई जाती है। प्रेमचंद का गद्य देहाती भाषा की दृढ़ भूमि पर निर्मित हुआ है; कहावतें, मुहावरें, उपमाएँ उन्होंने वहीं से सीखी हैं; भाषा की सरलता के लिए भी उन्हें वहीं से प्रेरणा मिली है। प्रेमचंद की कला का रहस्य एक शब्द में उनका देहातीपन है; ग्रामीण होने के कारण वह समाज के हृदय में पैठकर उसके सभी तारों से सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। अपनी भाषा के लिए, अपने चित्रण के लिए, वह आवश्यकतानुसार अपने देहात के अनुभव पर निर्भर हो सकते थे और उसने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। देश के गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति, उनसे उनके प्रगाढ़ परिचय और उनके चित्रण की सचाई ने ही उन्हें सफल कलाकार बनाया है।

7. भूमि-सम्बन्ध, किसान-आन्दोलन और प्रेमचंद

कुँवरपाल सिंह

प्रेमचन्द को सम्पूर्ण राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ही सही ढंग से समझा और परखा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की वास्तविकता जानने के लिए दो बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं - 1. भारत में राष्ट्रीय बुर्जुवा वर्ग का उद्भव, विकास तथा उसके अन्य वर्गों एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अंत:संबंध। 2. किसान समस्याएँ, आन्दोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर इनका प्रभाव।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पूर्व परम्परागत भूमि-व्यवस्था में जमीन किसानों की समझी जाती थी तथा राज्य को उपज का एक भाग ही कर के रूप में दिया जाता था। मुगलों से पूर्व यह भाग पैदावार के बारहवें से लेकर छठे भाग तक होता था लेकिन मुगलकाल में यह तिहाई तक हो गया था। अंग्रेजों ने अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारत की भूमि व्यवस्था को बदलना आरंभ कर दिया। उन्होंने पैदावार के लाभांश के स्थान पर जमीन का लगान निश्चित कर दिया। पहली व्यवस्था में अकाल, बाढ़ आदि के कारण यदि पैदावार कम होती तो उसी के अनुपात में लगान भी कम हो जाता लेकिन इस नयी व्यवस्था में किसान को, चाहे फसल अच्छी हो या बुरी, निश्चित लगान देना अनिवार्य हो गया था। यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इस नयी व्यवस्था के साथ किसानों की सिंचाई, बीज खाद आदि की सुविधाएँ देते तब तो किसान की स्थिति कुछ सुधरती परन्तु इस नयी व्यवस्था में तो जी तोड़ मेहनत करने के बाद भी किसान गरीब होता गया। कुछ ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों ने इस शताब्दी के आरंभ में आँकड़े देकर इस नये शोषण तंत्र का उद्घाटन किया है। डॉ० हैरोल्ड मैन्स के अनुसार अंग्रेजों से पहले किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी तथा अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद ली जाने वाली माल गुजारी में बहुत अन्तर है। मालगुजारी तथा किसान के ऊपर पड़ने वाले राज्य संबंधी अन्य खर्च पचास प्रतिशत से भी अधिक होते थे। एक गाँव से 21021 रु. मालगुजारी के लिए वसूल किये गये जबकि गाँव के खर्चे के लिए केवल 1870 रु. शेष रहे।

इस शताब्दी के आरंभ तक किसान की आमदनी इतनी कम रह गयी थी कि वे मुश्किल से अपना और परिवार का पेट भर पाता था। उसकी पैदावार का अधिकांश भाग लगान और कर्जे में ही चला जाता। अपने जीवन स्तर को सुधारने की बात तो अब वह सोच

की वजह से नहीं कर सकता था। खेती के औजारों तथा बीज आदि के लिए उसे बड़े किसानों पर आश्रित रहना पड़ता था जिसके बदले में वे बड़े किसान उससे अपने खेतों में बेगार लेते थे। इस आर्थिक शोषण के साथ इन छोटे किसानों का स्वतंत्र सामाजिक अस्तित्व भी खतरे में रहता। इस शताब्दी के आरंभ में किये गये एक सर्वे के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्यवाद में,

लगान	35 %
शासकीय खर्च (रक्षक आदि)	12.5%
पुरोहित, दान आदि	2.5 %
दस्तकार वर्ग	2.5 %
	52.5 %

अर्थात 52.5% रकम विभिन्न नामों से किसान से पहले ही वसूल कर ली जाती थी। फलस्वरूप उसके पास कुल उपज का केवल 47.5% ही बचता था।

इसी प्रकार एक और अध्ययन के अनुसार सन् 1801 से सरकार को मिलने वाली मालगुजारी 42 लाख पौंड थी लेकिन जब "दयावान्" विक्टोरिया ने 1857-58 में भारत की बागडोर संभाली तो मालगुजारी बढ़ कर 153 लाख पौंड हो गयी। 1936-37 में यह माल गुजारी 239 लाख पौंड हो गयी।खेती के साधनों में विकास न होने के कारण भारतीय किसान निरन्तर कर्जे की दलदल में फँसता चला गया। उसका पूरा जीवन सूद देने में बीत जाता था लेकिन तब भी वह अपनी जमीन की रक्षा नहीं कर पाता था। परिणाम यह होता कि धीरे-धीरे वह काश्तकार से खेत-मजदूर बनता चला जाता।

बीसवीं शताब्दी में सरकार जमींदार और साहूकार तीनों का संगठित शोषण-तंत्र अधिक निर्मम और अमानवीय बन गया। कानून भी महाजनों के मददगार थे। कानून के अनुसार ऋण न चुकाने पर किसान को जेल में बन्द किया जा सकता था और उसकी जमीन दूसरे आदमी को दी जा सकती थी। संपूर्ण सरकारी तन्त्र ने इन कानूनों की आड़ में महाजनों का ही साथ दिया। साहूकार सूद पर ऋण देने के अतिरिक्त अनाज की खरीद और बिक्री भी करते थे। जब फसल कटती तब किसानों की लगभग सभी उपज वे खरीद लेते। साहूकार का बही खाता किसान के लिए हमेशा रहस्यमय रहा। इस कर्ज और सूद के तंत्र ने साहूकार को गांव का तानाशाह बना दिया। कर्ज अदा न करने

पर साहूकार किसान की जमीन हथिया लेता और फिर अपनी ही जमीन पर ये भूमिहीन किसान खेत-मजदूर था, बटाईदार बनकर साहूकार का खेत जोतने लगते और जो कुछ पैदा करते उसका अधिकांश भाग लगान और सूद के रूप में उसे सौंपने पर मजबूर होते।

साहूकार ने भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में छोटे पूँजीपति की भूमिका अदा की। किसान मानो मजदूर की तरह उसके यहाँ नौकरी करने लगा था। साहूकारी और जमींदारी तंत्र के पीछे वही साम्राज्यवादी शक्ति काम कर रही थी। इस शोषण की दुहरी प्रक्रिया से खेत-मजदूरों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। सन् 1927 में कृषि करने वालों का पाँचवा हिस्सा खेत मजदूरों का था लेकिन 10 वर्षों में यह एक तिहाई हो गया। 1931 में खेत मजदूरों की संख्या साढ़े तीन करोड़ के लगभग थी। 'गोदान' इसी शोषण तंत्र की सम्पूर्ण जटिलता की कहानी है। होरी की त्रासदी पूरे भारतीय किसान की त्रासदी है।

साम्राज्यवादी शासकों ने अपने स्वार्थ के लिए जमींदारों के वर्ग को उत्पन्न किया। उन्होंने भारत के छोटे, (स्वाबलम्बी) आर्थिक संगठनों को ध्वस्त कर जमींदारों के रूप में अपनी कुटिल, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का एक साथ प्रयोग किया। यह इंग्लैड की जमींदारी प्रथा की भोंडी नकल थी जो भारत के लिए बहुत दुखदायी और घातक सिद्ध हुई। ब्रिटिश शासकों ने इंग्लैंड की जमींदारी प्रथा के रूप को ही परिष्कृत करके सन् 1793 ई. में इस्तमरारी बन्दोबस्त (स्थाई भूमि-व्यवस्था) लागू किया और जमींदारों के रूप में एक स्थायी वर्ग बना दिया जो एक निश्चित मालगुजारी वसूल करके सरकार को दे सके। जमींदार अब इसके अलावा इजाफा, बेगार आदि भी किसानों से लेने लगे। जो जमींदार यह निश्चित रकम सरकारी कोष में जमा नहीं कर पाते थे उनकी जमींदारी छीन कर दूसरें को दे दी जाती थी। इससे धूर्त और धनलोलुप व्यापारियों का एक वर्ग सामने आया जिसने इस जमींदारियों को खरीद लिया। यह किसानों से एक-एक पाई वसूलने के लिए हर प्रकार के ओछे और अमानवीय हथकंडे अपनाता था। "भद्र मालिकों" का यह नया वर्ग ब्रिटिश शासकों के उद्देश्यों को हर प्रकार से पूरा कर रहा था और उनके लिये सामाजिक और राजनीतिक रूप से बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा था। कुछ समय बाद ये जमींदार भारत में ब्रिटिश राज के सामाजिक आधार स्तम्भ का काम करने लगे थे। इस व्यवस्था के संबंध में लार्ड बेन्टिंग का वह कथन इस तथ्य को समझने में सहायक होगा जिसके अनुसार - "यदि जबरदस्त जन विद्रोहों या क्रांति का मुकाबिला

करने के लिए सुरक्षा की जरूरत है तो मैं यह कहना चाहूँगा कि कई मामलों में और कई महत्वपूर्ण बातों में असफल होने के बावजूद स्थायी बन्दोबस्त का कम से कम यह एक बहुत बड़ा फायदा है कि उसने धनी भूस्वामियों का एक विशाल संगठन खड़ा कर दिया है जो हृदय से यह चाहते हैं कि अंग्रेजी राज्य भारत में बना रहे। इस वर्ग का ग्रामीण जनता पर पूरा दबदबा भी कायम है।

1925 में जमींदार संघ ने तत्कालीन वायसराय को यह आश्वासन दिया कि "महामहिम, इस बात का भरोसा कर सकते हैं कि जमींदार लोग सरकार का पूरा समर्थन करेंगे और पूरी निष्ठा के साथ सरकार की सहायता करेंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि यदि वर्ग के रूप में जमींदार अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम सरकार के हाथ मजबूत करें। बदले में ब्रिटिश सरकार ने भी जमींदारों के हितों का पूरी तरह ध्यान रखा। 1935 के संविधान में इस बात का विशेष प्रावधान रखा गया कि प्रान्तीय और संघीय विधान सभाओं में जमींदारों को प्रतिनिधित्व दिया जाये।

संयुक्त प्रान्त में यह नयी भूमि व्यवस्था अस्थायी रूप में थी जिससे समय-समय पर जमीन का नये सिरे से बन्दोबस्त होता था और अंग्रेज सरकार को अपनी आवश्यकतानुसार माल गुजारी बढ़ाते रहने का अवसर मिलता रहता था। यह बात स्थायी बन्दोबस्त में संभव नहीं थी। इसी कारण उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के किसानों की स्थिति और दयनीय हो गयी थी। जमींदारों को भी मौका मिल गया था कि वे बढ़ी हुई माल गुजारी के नाम पर किसानों से अतिरिक्त लगान वसूली करते जाएँ। इसीलिए इन क्षेत्रों में जमींदारी व्यवस्था का रूप अन्य स्थानों की अपेक्षा अत्यंत घृणित और निकृष्टतम दृष्टिगोचर होता है।

जमींदार वर्ग कृषि-व्यवस्था पर एक अनावश्यक बोझ की भाँति था जो उत्पादन में किसी भी प्रकार का योगदान नहीं देता था। उसका काम केवल लगान तथा अन्य टैक्स वसूल करना मात्र था। उसके बदले में उसे सरकार से एक निश्चित हिस्सा प्राप्त होता था।

18वीं शताब्दी में बिचौलिया वर्ग के रूप में उत्पन्न यह उपजीवी वर्ग 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के आरंभ तक एक महत्वपूर्ण वर्ग के रूप में स्थापित हो गया। यह अब माल गुजारी वसूल करने वाला ही नहीं, बल्कि अपने इलाके में एक शासक की भाँति व्यवहार कर रहा था। अपनी जमींदारी की रक्षा के लिए अब वह सशस्त्र सिपाही रखता था। फालतू जमीन किसानों को खेती करने के लिए देता और उसका लगान स्वयं

हड़प लेता था। किसानों के मुकद्दमे निपटाने के लिए कचहरी करता था। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे अधिकारों का उपयोग करने लगा था जिनका उसे कोई कानूनी अधिकार नहीं था। केवल लगान वसूली को अपनी जीविका का साधन बनाने वाले शोषक वर्ग की संख्या संयुक्त प्रांत (उ०प्र०) में 1891 से 1921 के बीच 46% बढ़ गयी। इसी अनुपात में खेतिहर काश्तकारों की संख्या भी निरंतर बढ़ रही थी। 1931 की जनगणना से भारत के कृषि संबंधों की जो तस्वीर हमारे सामने है, वह निरंतर बढ़ते हुए वर्ग-भेद की तस्वीर है। उस समय लगान पर मौज करने वाले भूस्वामियों की संख्या 41 लाख 50 हजार थी और कृषि मजदूरों की संख्या 3 करोड़ 52 लाख से भी अधिक थी।

प्रथम महायुद्ध के दौरान (1914-18) में संयुक्त प्रान्त, विशेषकर अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश में कृषि के व्यापारीकरण के कारण भूमि की माँग बहुत अधिक बढ़ने लगी। जमींदार और उनके सहायकों ने धोखेबाजी और शक्ति-प्रदर्शन के द्वारा किसानों की बेदखली आरंभ कर दी। धनवान लोगों ने कृषि पर तेजी से पूँजी लगाना आरंभ कर दिया था। 1920-21 में अवध के क्षेत्र में यह कार्य बहुत बड़े पैमाने पर हुआ।

इसके साथ ही साथ बहुत सी नयी समस्याएँ भी उत्पन्न हुई। स्वार्थी बिचौलियों का एक नया वर्ग ही उत्पन्न हो गया था जिसने किसानों के शोषण को उस सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ किसान-असंतोष एक विद्रोह की स्थिति तक पहुँच गया। जमींदारी व्यवस्था की असंगतियों को भारत के किसान बदली हुई परिस्थितियों में अधिक समय तक सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। किसान आन्दोलनों के (1920-32) पूरे देश में फैलने की यह स्वाभाविक प्रक्रिया थी।

किसान आन्दोलन

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद से ही किसानों के विद्रोह हुए। यह संख्या निरंतर बढ़ती रही। उनका आक्रोश स्थानीय जमींदारों, साहूकारों तथा सरकारी अधिकारियों के प्रति होता था। यह विद्रोह कभी संगठित आन्दोलनों का रूप नहीं ले सके, जिसके अनेक ऐतिहासिक कारण हैं।

प्रथम महायुद्ध के बीच राष्ट्रीय दिशा ग्रहण की और वह अधिक संगठित हुआ। युद्ध की परिस्थितियों के कारण भारतीय पूँजीपति वर्ग भी उत्तरोत्तर शक्तिशाली हुआ।

उसने अपने वर्गहितों के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को सहयोग दिया। उसने सरकार में हिस्सेदारी तथा अधिक आर्थिक सुविधाओं की माँग की। युद्ध के दौरान मजदूर वर्ग भी मजबूत हुआ। अनेक ट्रेड यूनियनें बनीं और बेहतर जीवन यापन के लिए संगठित संघर्ष आरंभ हुए। अक्तूबर 1917 की रूसी समाजवादी क्रांति ने किसान और मजदूर आन्दोलनों को आशा की नयी किरण दी। अब साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था के समानान्तर एक नयी व्यवस्था थी जो उनके सपनों को वास्तविकता में ढालने का प्रयास कर रही थी।

युद्ध ने साम्राज्यवाद का संकट और भी अधिक बढ़ा दिया। युद्ध का बोझ सबसे अधिक किसानों पर पड़ा। आर्थिक संकट, अकाल और महामारी ने किसान असन्तोष में आग में घी का काम किया। किसान आन्दोलन ने पंजाब के अकाली आन्दोलन, मालाबार में मोपला विद्रोह और संयुक्त प्रान्त में जमींदार और साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन का रूप धारण किया। 1919-23 के किसान आन्दोलनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नगरों से देहातों तक ले जाकर उसे विस्तार दिया।

पंजाब का किसान आन्दोलन बड़े-बड़े महन्तों (जो जमींदार भी थे) और साम्राज्यवाद के विरुद्ध था। वह मूलत: सिक्ख किसानों का आन्दोलन था। गुरुद्वारों की जमीन सम्पूर्ण सिक्ख समुदाय की भलाई के लिए उपयोग की जाए, यह उनकी प्रमुख माँग थी। ब्रिटिश शासक खुलकर महन्तों का साथ दे रहे थे। सिक्ख किसानों ने बहुत बलिदान दिये लेकिन सही नेतृत्व के अभाव में यह आन्दोलन बहुत बड़ी सफलता नहीं प्राप्त कर सका। इसी प्रकार मालाबार में मोपला विद्रोह, जो मूलत: सामन्तों और जमींदारों के विरुद्ध था और जिसने आगे चलकर साम्राज्यवाद विरोधी रूप ले लिया था, बुर्जवा राष्ट्रीय नेताओं की ढुलमुल नीति और दुर्बलता के कारण सांप्रदायिक रूप में बदल गया। वर्ग आन्दोलनों में धार्मिकता का जब प्रवेश हो जाता है तो उसके परिणाम कभी अच्छे नहीं होते। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबंध में भी यह बात उतनी ही सच्च है।

इस दौरान संयुक्त प्रदेश किसान आन्दोलनों का सबसे प्रमुख केन्द्र बन गया। ये आन्दोलन अपने पूरे चरित्र में सामन्तवादी और साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध थे। ये राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ मिलकर किसानों की मुक्ति का प्रयत्न कर रहे थे। अनेक स्थानों पर सशस्त्र विद्रोह भी किसानों द्वारा हुआ, जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने डकैती की संज्ञा दी।

इस आन्दोलन का प्रभाव यूँ तो पूर उत्तर प्रदेश में था लेकिन अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र इससे विशेष रूप से प्रभावित थे। अवध के जिलों में किसानों का निर्मम शोषण पश्चिमी उत्तर प्रदेश की अपेक्षा अवर्णनीय था। तत्कालीन प्रतापगढ़ के डिप्टी कमिश्नर वी.एन.मेहता की एक रिपोर्ट (1920) के अनुसार अवध के किसान लगान और कर्जे से मुक्ति पाने के लिए 5 से लेकर 12 वर्ष तक की उम्र की लड़कियों को 50 से लेकर 60 या और अधिक उम्र के आदमियों को 300 रु. तक के लिए बेच दिया करते थे। ऐसी सैकड़ों घटनाएँ मेहता रिर्पोट में बतायी गयी थी।

फैजाबाद जिले में जमींदारों के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध हमला आरम्भ किया गया। हजारों किसानों ने फैजाबाद शहर में प्रदर्शन किये। प्रदर्शनकारियों ने पुलिस का भी डट कर मुकाबला किया। फलत: उनका दमन करने के लिए लखनऊ से फौज भेजी गयी। रायबरेली में भी किसान विद्रोह फैल गया। यहाँ के किसानों का नेतृत्व किसान सभा कर रही थी। अवध के किसान आन्दोलन के विषय में लंदन के 'टाइम्स' समाचार पत्र ने अपने 6 मार्च 1922 के अंक में लिखा है - "पहले सब किस्म के अधिग्रहणों से कुचले गये काश्तकारों की हालत ऐसी न थी कि वे प्रभावशाली ढंग से अपना विरोध भी प्रकट करते। लेकिन हाल के राजनैतिक जागरण के संपर्क में आकर उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संगठित हो कर लड़ना आरम्भ किया है।'' अपने अधिकारों की रक्षा की इस लड़ाई में किसानों ने जमींदारों की कचहरियों में आग लगाई, लगानबन्दी का रास्ता अपनाया और अपने साथियों को गिरफ्तारी से बचाने के लिए सशस्त्र प्रतिरोध किया।

ज्ञातव्य है कि किसान-सभा बहुत पहले से ही सक्रिय थी जिसका फैजाबाद किसान सम्मेलन बहुत विशाल हुआ था और लगभग एक लाख लोगों ने उसमें भाग लिया था। बाबा रामचन्द्र इसके प्रमुख संगठनकर्ता थे। फैजाबाद सम्मेलन के बाद किसानों में सचमुच एक जबरदस्त चेतना और विरोध की लहर आई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के बड़े नेताओं का विशेष सहयोग किसान आन्दोलन को नहीं मिला। इलाहाबाद के कुछ बड़े वकील अवश्य इसके साथ थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बड़े नेता वास्तव में किसानों की माँग "भूमि का अधिकार जोतने वाले को'' से डर गये। किसान सभा के अनपढ सदस्यों द्वारा सैंकड़ों की तादाद में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेना और अपने 'देहाती' 'जंगली' व्यहार द्वारा भद्र सुसंस्कृत उच्च वर्गीय नेताओं के कांग्रेस

अधिवेशनों का रंग फीका करना, उन भद्र नेताओं को मान्य न था। कांग्रेस का उच्च-मध्य वर्गीय नेतृत्व किसान संगठनों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। क्रांतिकारी किसान आन्दोलन उसके वर्ग हितों के विरुद्ध जाते थे। वह किसान शक्ति का उतना ही उपयोग करना चाहता था जितने से उसके मूल वर्गहितों पर चोट न पड़े। यदि किसान आन्दोलन उसकी इच्छाओं के विपरीत क्रांतिकारी मोड़ लेने लगते थे तो इस राष्ट्रीय नेतृत्व ने या तो बिचौलियों की भूमिका का निर्वाह किया अथवा खुल कर उन की निन्दा की।

किसानों के इस संघर्ष के अन्दर से उनका संगठन पैदा हुआ और उसके अपने नेता भी उभर कर आये। अवध में उनके संगठन का नाम 'एका' था। और उनके दो नेताओं के नाम मदारी पासी और सहदेव थे। ये दोनों नीची जात कहे जाने वाले किसान थे। 'एका' की स्थापना से अवध का किसान आन्दोलन 1922 में 1920 की अपेक्षा दुगना शक्तिशाली हो गया।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में मनोहर, बलराज और कादिर मियाँ के रूप में इन स्थानीय किसान नेताओं की अभिव्यक्ति मिलती हे। 'कर्मभूमि में बाबा रामचन्द्र और उनके सहयोगियों का चित्रण विस्तार से हुआ है। प्रेमाश्रम' का लेखन 1920 में समाप्त हो चुका था। अवध का यह किसान आन्दोलन काफी लम्बे समय तक चला; इसीलिये इस पूरे आन्दोलन को पूरी अभिव्यक्ति 'कर्मभूमि' में ही मिल सकी। ब्रिटिश सरकार ने फौज और पुलिस की मदद से जिस निर्ममता से इस आन्दोलन का दमन किया इतिहास में ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं। प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश सरकार और सामन्तों के किसानों के विरुद्ध संयुक्त दमन का विस्तार से चित्रण किया है। इन आन्दोलनों पर आधारित दोनों उपन्यास ऐतिहासिक दस्तावेज हैं।

इस दमन और शोषण का विरोध करने के स्थान पर कांग्रेस के राष्ट्रीय नतृत्व ने किसानों के क्रांतिकारी संघर्ष को देख उन्हें अहिंसात्मक समर्पण का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया। "उन्हें लाठियों और चाकुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिय। जमींदारियों का लूटना नहीं चाहिये। किसानों को अपने शत्रुओं के पत्थर जैसे कठोर हृदयों को अपनी दया और प्रेम से जीतना होगा। जमींदारों को कानूनी लगान देने से इन्कार कर इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना या काम करने से इन्कार करना अनैतिक समझा जा सकता है।

इस आन्दोलन का विस्तार बंगाल, आंध्र, राजस्थान तक हुआ। आंध्र और राजस्थान में यह आदिवासी विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। इन आदिवासियों ने सामन्तों और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष भी किये। आदिवासियों के एक नेता 'राजाराम' ने 1923 में कांग्रेस के अध्यक्ष से यह माँग की कि उन्हें कई हजार बन्दूकें मिलें तो उनके साथी सारे हिन्दुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत खत्म कर सकते हैं और स्वराज्य कायम कर सकते हैं। लेकिन राजाराम को बन्दूकें नहीं मिलीं-ब्रिटिश शासन ने उसे मौत के घाट उतार दिया। ब्रिटिश शासन की फौजों ने इस सशक्त और काफी हद तक सफल आन्दोलन को निर्ममता से कुचल दिया।

1921-22 मे राजपूताना के भील आन्दोलन ने सामन्त जागीरदार और ब्रिटिश शासन की नींद हराम कर दी। भीलों के ऊपर सशस्त्र हमले किये गये। सिरोही, मेवाड़ दांता में उनके गाँवों मे आग लगा दी गयी। 1922 में ईडर नामक स्थान पर बहुत से भील मारे गये। ऐसा दमन जिसमें 1800 आदमी मारे गये और 680 घर जला कर ढहा दिये गये, इस शताब्दी में कम ही देखने को मिला है। प्रेमचन्द ने रंगभूमि में इस आन्दोलन को अभिव्यक्ति दी है। दमन और निर्ममता की कहानी राष्ट्रीय नेताओं ने नहीं, बल्कि एक साहित्यकार ने देश को बताई।

1930-32 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की मुख्य शक्ति भी किसान ही थे। इस आन्दोलन में किसान संगठन और मजबूत हुए। बंगाल और पंजाब में किसान लीग नाम से नये किसान संगठन अस्तित्व में आये। 1929-33 के आर्थिक संकट ने किसानों को नये सिरे स संगठित होने और अपनी रक्षा करने की प्रेरणा दी। किसानों की इस शक्ति से कांग्रेस का सुधारवादी नेतृत्व परिचित था। अतः क्रांतिकारी लड़ाकू किसानों के संगठनों को सहयोग देने के स्थान पर उनके द्वारा समानान्तर किसान संगठन बनाने के प्रयास हुए। इन नेताओं ने किसान आन्दोलन में भटकाव पैदा कर उसे कमजोर करने के अनेक प्रयास किये और उसमें वे सफल भी हुए। समानान्तर किसान संगठन बनाने की यह घटना 1935-36 की है।

प्रेमचन्द और किसान-आंदोलन

किसान प्रेमचन्द की सबसे अधिक चिन्ता का विषय रहा है। वे भारतीय किसान की दुर्दशा और शोषण से भली प्रकार परिचित थे। अपनी चिन्ता को व्यक्त करते हुए हंस

की एक टिप्पणी में प्रेमचन्द ने लिखा "अंग्रेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है, और होती जाती है उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं-लेकिन यह सब होते भी सरकार के हाथों किसी संप्रदाय की इतनी बरबादी नहीं हुई है जितनी किसानों और मजदूरों की-खास कर किसानों की। .....किसानों की हालत रोज ब रोज खराब होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है......सख्तियाँ बढ़ती जाती हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। ....अगर उन्हें संगठित करने की कोशिश की जाती है तो सरकार जमींदार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं। चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है। बोलशेविज्म का हौवा बताकर उस आन्दोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है।''

उनके प्रमुख उपन्यासों का मुख्य विषय ही किसान और उनसे जुड़ी हुई समस्याएँ हैं। अपने आरम्भ के उपन्यास 'वरदान' (जिसका लेखन काल 1905-06 है) तथा अंतिम उपन्यास "गोदान'' तक यह चिन्ता उत्तरोत्तर गहरी और यथार्थवादी होती गयी है। इस गहरी सहानुभूति और प्रतिबद्धता ने किसानों के प्रति कांग्रेसी नेताओं की कृत्रिम सहानुभूति से उन्हें भलीभांति परिचित करा दिया। प्रेमचन्द के किसान निरीह और बेजबान नहीं हैं। वे अपने अधिकरों के प्रति सजग हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष भी करते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में किसान समस्याओं, उनके संघर्षों आदि का विशद, प्रामाणिक और कलात्मक चित्रण करने वाले प्रेमचन्द भारत के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने जटिल होते हुए शोषण तंत्र, पूँजीवादी, सामन्ती अन्तर्द्वन्द्वों, टूटते हुए साम्राज्यवाद के शोषणतंत्र, उसकी कुटिल राजनीति, राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र, आदि का हृदयग्राही चित्रण किया है।

अपने आरम्भिक उपन्यास 'वरदान' में, जो सुधारवादी दृष्टि से लिखा गया है, प्रेमचन्द किसानों की गरीबी से हमारा परिचय कराते हैं। रात दिन पसीना बहाने पर भी भूखे पेट और नंगे बदन रहने वाले किसान, टूटे फूटे-फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, ओले पानी से मारी हुई फसलें, गाली गलौच और मारपीट से उघाये जाने वाला लगान, सूदखोर महाजन, झूठे मुकदमे बनाने में पारंगत अधिकारी, दुर्गन्धपूर्ण गलियाँ और वहाँ रहने वाले निम्न जाति के लोग, प्रगतिशील समाज-सुधार आंदोलन के विरुद्ध नगर के सेठ साहूकारों, पंडे-पुजारियों का गठबन्धन आदि प्रश्न इस उपन्यास में हमें मिलते हैं। ये 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की पूर्व भूमिका है।

'सेवासदन' का फलक और विस्तृत है। यह नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं पर आधारित है लेकिन प्रेमचन्द यहाँ भी किसान को नहीं भूलते हैं। चेतू अहीर, बलराज और मनोहर का पूर्वरूप है। वह शोषण और अन्याय का प्रतिकार करने वाले नये किसान का प्रतिनिधि है। महन्त रामदास का सारा कारोबार 'श्री बांके बिहारी जी' के नाम पर चलता है। "श्री बाके बिहारी जी लेन देन करते थे और 32/- सैंकड़ा से कम ब्याज नहीं लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे। वही रेहननामे, बैनामे लिखाते थे। श्री बांके बिहारी जी को रुष्ट करके इस इलाके में रहना कठिन था।'' धन-धर्म और राजनीति के अपवित्र गठबन्धन अत्यन्त क्रूर और अमानवीय होते हैं। यज्ञ के नाम पर जमींदार महन्त जी प्रत्येक किसान से 5 रु० प्रति हल चन्दा देने की आज्ञा देते हैं। किसी ने राजी से दिया, किसी ने उधार लेकर और जिसके पास न था उसे रुक्का ही लिखना पड़ा। भला श्री बांके बिहारी जी की आज्ञा को, जो उनकी जमीन के ही नहीं उनकी जमीर के भी मालिक थे, कौन टाल सकता था। चेतू अहीर दुस्साहस करता है और इस दुस्साहस और अवज्ञा के बदले उस बूढ़े दरिद्र किसान को ठाकुर जी की साक्षी में मार ही नहीं पड़ती बल्कि अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। धर्म के शोषण तन्त्र का प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में भी उद्घाटन किया है। नये पूँजीवादी शोषण तंत्र का प्रतीक जॉन सेवक अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए धर्म का सहारा लेता है "अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़ कर गिरजे अवश्य जाता हूँ। न जाने से समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा''।

किसानों के प्रति सहानुभूति दिखाने वाले उच्च मध्यम वर्ग के चरित्र को भी प्रेमचन्द भली भाँति समझते है। जब इस वर्ग के अपने हितों पर कुठाराघात होता है तो वह अपने असली रूप में आ जाता है। 'सेवासदन'का मदनसिंह जमींदार था और वह किसानों पर दया करना चाहता था पर उसे मंजूर न था कि कोई उसे दबाये और किसानों को भड़का कर जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दे।

किसानों के प्रति उचित ध्यान न देने के लिए कांग्रेस के कुछ नेताओं ने आत्मालोचना की है। प्रो.एन.जी. रंगा ने यह कहा था कि "कांग्रेस ने भारतीय किसान की कठिनाइयों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना उद्योगपतियों की आवश्यकता की ओर। बारदोली आन्दोलन (1928) से पूर्व कांग्रेस का कोई उच्चस्तरीय नेता किसान आन्दोलन से सीधा नहीं जुड़ा था, लेकिन प्रेमचन्द 1918-1923 के किसान आन्दोलन की माँगों का

समर्थन करते हैं। "भूमि उसकी है जो उसको जोते-किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।"(प्रेमाश्रम) जमींदारी को प्रेमचन्द ने निरी दलाली कहा है। किसी तीसरे उपजीवी वर्ग को किसानों के परिश्रम पर ऐश करने का कोई अधिकार नहीं हैं। वह आरंभ से ही जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन के पक्ष में है। उन्होंने यह राय व्यक्त की है कि जमींदारी प्रथा का अन्त होना चाहिये। उसके बिना न तो भारत का सामाजिक जीवन उन्नत हो सकता है न किसान सुखी और संपन्न हो सकता है। वे किसान की गरदन पर किसी प्रकार का जुआ रखने के विरुद्ध थे। हर प्रकार के अन्याय, इजाफा, बेगार आदि को वे मानव-विरोधी समझते थे।

प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर अत्यन्त क्रूर जमींदार-वर्ग का प्रतिनिधि है लेकिन उदारतावादी राय कमलानन्द और धर्मावतार रानी गायत्री वाणी से कुछ कहें लेकिन किसानों के शोषण में वे किसी से पीछे नहीं। रानी गायत्री मानती है कि किसानों पर निर्दयता कोई अच्छी बात नहीं लेकिन यदि जमींदार असामियों पर निर्दयता करते है। तो उनका कोई दोष नहीं। आखिर रुपये कैसे वसूल हों। अपने पति के संबंध में वे बताती है कि बड़े ही सज्जन पुरुष थे, सत्कार्यों में हजारों रुपये खर्च कर डालते थे। कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जब कि सौ पचास साधुओं को भोजन न कराते हों। हजारों रुपये चन्दे में दे डालते थे। लेकिन वे भी आसामियों की मुश्कें कसवा कर पिटवाते थे और उनके घरों में आग लगवा देते थे।

प्रेमशंकर के संबंध में भी प्रेमचन्द को कोई भ्रम नहीं है। वे अपने भाई से बहुत भिन्न हैं, बहुत उदारमना हैं और राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए हैं। किसानों से सहानुभूति होने पर भी वे जमींदारी उन्मूलन और वर्ग संघर्ष के पक्षधर नहीं है। उन्हें जमींदारों से कोई द्वेष नहीं। प्रेमशंकर गांधीवादी पात्र है और गांधीवादी विचारधारा की सीमा और अन्तर्विरोधों से बंधे हैं।

मनोहर जमींदार के कारिंदे गौस खां की हत्या कर देता है। लेकिन प्रेमचन्द कहीं उसकी निन्दा नहीं करते बल्कि उससे सहानुभूति रखते हैं। बलराज नये किसान का प्रतीक है जो अपने चारों तरफ के संसार के विषय में भी जानकारी रखता है। किसान मजदूरों की मुक्तिदायिनी सोवियत क्रांति को वह भारतीय किसान और मजदूरों की मुक्ति के रूप में ग्रहण करता है। वह भावी भारत के क्रांतिकारी किसान का प्रतिनिधित्व करता है।

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत को कृषि प्रधान देश बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन ऐतिहासिक परिस्थितियों के सामने उन्हें झुकना पड़ा। अपने साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी पूँजीवाद को देशी पूँजीवाद से समझौता करना पड़ा। 'रंगभूमि' सामन्तवाद और पूँजीवाद, कृषि-सभ्यता और औद्योगिक सभ्यता के इसी संघर्ष की गाथा है। प्रेमाश्रम' की भांति इसमें किसान समस्याओं का विस्तृत चित्रण नहीं है। कहीं-कहीं किसान आन्दोलन के संकेत जरूर हैं। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में सामन्तवाद के ह्रास और पूँजीवाद के उदय को एक महान यथार्थवादी कलाकार के रूप में चित्रित किया है। प्रेमचन्द शुद्ध व्यवसाय और मुनाफा पर आधारित व्यवस्था के घोर विरोधी रहे। वे इसे भी सामन्तवाद की भाँति भारत के किसान-मजदूरों के लिए अहितकर समझते थे। इस उपन्यास में उन्होंने राजस्थान के किसानों की देशी रजवाड़ों में दुर्दशा और निर्मम शोषण का चित्रण किया है। विनय इन किसानों के बीच रहकर कुछ दिन कार्य करता है, परन्तु अपने वर्गगत संस्कारों के कारण अधिक दिन उनका साथ नहीं दे पाता। गाँधीवादी विनय के मुकाबिले आतंकवादी वीरपाल सिंह के चरित्र में कहीं अधिक मानवीय गरिमा और ऊर्जा है। प्रेमचन्द आतंकवाद को राजनीतिक दर्शन के रूप में गलत समझते हैं। जनमत के बिना, व्यक्तिगत हिंसा से किसान-मजदूरों की समस्याओं का समाधान असंभव है, लेकिन प्रेमचन्द की फिर भी उसके साथ सहानुभूति है, क्योंकि वह शोषित-पीड़ित जनता की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।

किसान आन्दोलनों की एक प्रमुख माँग 'बेगार' के विरुद्ध थी। 'कायाकल्प' में जगदीशपुर की जनता बेगार के विरुद्ध सामन्तवाद और साम्राज्यवाद की सम्मिलित शक्तियों से सशस्त्र मोर्चा लेती है। निरंकुश अधिकारियों के बढ़ते हुए अत्याचार के कारण इन रियासतों की जनता का असंतोष इस चरमसीमा तक पहुँच गया था कि यह अब अधिक दिनों तक मूक होकर अपमान पीड़ा और शोषण नहीं सहन कर सकती थी। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द पहली बार मजदूरों और किसानों को मिल कर संघर्ष करते हुए चित्रित करते हैं। वे अपना नेतृत्व स्वयं करते हैं। गांधीवादी चरित्र चक्रधर मजदूरों और किसानों के इस क्रांतिकारी कृत्य का विरोध करते हुए कहता है "अगर तुम्हें खून की ऐसी प्यास है तो मैं हाजिर हूँ। ये पीड़ित लोग चक्रधर से सीधा प्रश्न करते हैं - "जब हम गोलियों से भुन रहे थे तब आप कहाँ थे? अब जब हम सफ़लता के द्वार पर पहुँच गये हैं आप हमें शांति और अहिंसा का उपदेश देने आये हैं?" यह प्रश्न प्रेमचन्द और किसान आन्दोलन में आ रहे विचारधारात्मक परिवर्तन का सूचक है।

'कर्मभूमि' उपन्यास और 'समरयात्रा' कहानी संग्रह का रचनाकाल 1929-32 है। इस समय भारतीय स्वाधीनता संग्राम के विविध आयामों का अभूतपूर्व विकास और विस्तार हुआ। इस उपन्यास पर 1920 और 1923 के किसान आन्दोलनों का प्रभाव तो है ही, 1928 के बारदोली के आन्दोलन की भी स्पष्ट छाप है। प्रेमचन्द ने इसमें भारत के अछूतों की समस्या को ग्रामीण जीवन की मूल समस्या-किसानों के शोषण के साथ देखा और परखा। यहाँ भी धर्म, अर्थ और राजनीति के गठबंधन का शोषण तंत्र अपने निकृष्टतम रूप में है जिसके प्रतिनिधि पात्र के रूप में महन्त आशाराम गिरि को प्रेमचन्द सामने लाते है। 'सेवासदन' के महन्त जी के मुकाबिले यह अधिक धूर्त और क्रूर है।

'कर्मभूमि' के लगानबन्दी आन्दोलन के मूल में 1929-33 का वह विश्वव्यापी आर्थिक संकट है जिसका सर्वाधिक दुष्प्रभाव किसानों पर पड़ा। कृषि उत्पादन की कीमतों में भारी गिरावट आई। मन्दी का दौर शुरू होने के पहले वर्ष में फसल कटने के समय के औसत दामों को आधार मानने पर खेती से लगभग दस अरब चौंतीस करोड़ रुपये मूल्य की पैदावार हुई थी। 1933-34 में वह घट कर चार अरब तिहत्तर करोड़ की हुई। पाँच साल में पचपन प्रतिशत गिरावट आई। अकाल के कारण किसानों की भी दुर्दशा हुई। संयुक्त प्रान्त में उन काश्तकारों द्वारा जो लगान नहीं दे सके, मजबूरी में भूमि का परित्याग करना पड़ा। 1931 में यह संख्या 71500 थी। 256000 लोगों से जबरन मालगुजारी वसूल करने के आदेश जारी किये गयें। किसानों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। फिर भी उनमें से अधिकांश लगान देने में असमर्थ रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि 1934-35 तक 50 लाख एकड़ कृषि क्षेत्र में कमी आई। इससे उत्पादन में भी भारी गिरावट आई।

'कर्मभूमि' के किसान इस संकट से मुक्ति पाने के लिए स्वामी आत्मानन्द के नेतृत्व में एकत्र होते हैं। अमरकान्त और स्वामी जी के बीच किसान आन्दोलन के नीति संबंधी सिद्धान्तों पर बहस होती है। आत्मानंद का विचार है कि महन्त जी अथवा और किसी हाकिम के पास जाकर प्रार्थना करने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि महन्त जी को उत्सव मनाने के लिए और हाकिमों को बड़ी-बड़ी तलबों के लिए रुपये चाहिए। किसानों के मरने जीने की इनमें से किसी को चिन्ता नहीं है। स्वामी जी की राय में, महन्त जी का मकान और ठाकुर द्वारा घेर लिया जाय और उस समय तक कोई उत्सव न होने दिया जाय जब तक कि किसानों की सभी माँगे पूरी न हो जायें।

अमरकान्त आत्मानन्द की नीति का विरोध करता है। लगानबन्दी आंदोलन के प्रति उसके दृष्टिकोण और कांग्रेसी मंत्रियों के दृष्टिकोण मे कोई अन्तर नहीं था। किसान आन्दोलनों में भाग लेकर वे गांधी-इर्विन समझौते को भंग नहीं करना चाहते थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि पहल उनके हाथ से निकल कर स्वयं किसानों के हाथ में जा रही है और आंदोलन क्रमश: क्रांतिकारी रूप धारण करता जा रहा है तब नीति वश उन्होंने इन आन्दोलनों में भाग लेना उचित समझा। यह नेतृत्व जमींदारों और ताल्लुकेदारों के मूल अधिकारों को नष्ट करना नहीं चाहता था।

अमरकान्त एक ओर तो किसानों को सत्य-अहिंसा के मार्ग पर चलने की सलाह देता है, दूसरी ओर अपने साथी स्वामी आत्मानन्द को विश्वासघात करके गिरफ्तार करवाने की चाल चलता है। किसान जब उसकी बात नहीं मानते तब वह उन्हें धमकाते हुए कहता है- "अगर धैर्य से काम लोगे तो सब कुछ हो जायेगा। हुल्लड़ मचाओगे तो कुछ न होगा, उल्टे डंडे और पड़ेंगे।" अमर अपने वर्ग के अनुरूप ही व्यवहार करता है। वह विनय और चक्रधर की ही परम्परा का किसान नेता है, जो किसानों के हितों की अनदेखी करके समझौता कर लेते हैं या उनके साथ विश्वासघात करने से नहीं चूकते हैं। जब किसान आन्दोलन अपनी सफलता के सिंहद्वार पर होता है तब अमर सेठ ध नीराम के प्रस्ताव को फौरन स्वीकार कर समझौते के लिए तैयार हो जाता है, हालांकि सरकार लिखित रूप में कोई आश्वासन नहीं देती। इस प्रकार यह क्रांतिकारी आन्दोलन गांधी जी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की भाँति कमेटीवाद और समझौतावाद की भूलभुलैया में खो जाता है। जनता के बलिदानों का बुर्जुवा नेतृत्व की दृष्टि में कोई अर्थ नहीं। सेठ धनीराम और लाला समरकांत जैसे महाजनों ने हमेशा जन आंदोलनों को दबाने में सरकार का साथ दिया। जब दमन से काम नहीं चलता तो ये चालाक लोग सरकार की प्रेरणा से समझौते से जन आंदोलनों को तोड़ने में सफल हो जाते हैं। उच्च मध्यवर्गीय नेतृत्व इससे आगे किसान आन्दोलन को ले जा भी नहीं सकता, यह 'कर्मभूमि' का मूल स्वर है।

1934 के बाद मूल्यवृद्धि की स्थिति में मामूली सा सुधार हुआ लेकिन इससे आर्थिक मन्दी की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। विध्वंस के प्रभावों पर भी काबू नहीं पाया जा सका। 1934 के बाद से जनता के कष्ट और भी गंभीर हो गये। आय कम और कर्ज़ दूने हो गये। 1921 में कुल कृषि-ऋण 40 करोड़ पौंड था जबकि 1931

में यह राशि 67 करोड़ 50 लाख पौंड हो गयी। 1936-37 में यह 1 अरब 35 करोड़ थी। इन तथ्यों से कृषि व्यवस्था के गंभीर संकट का आभास होता है। 'गोदान' किसान के इस गहरे होते संकट और 'पूँजीवादी' व्यवस्था के वर्चस्व का दस्तावेज है। जमींदार अब पूँजीपति का स्वयं कर्जदार है। राय अमरपाल सिंह बैंकर और मिलमालिक खन्ना से कर्ज लेते हैं और वह उनका अपमान भी करता है लेकिन अब इस नयी शक्ति का राय साहब प्रतिरोध नहीं कर पाते। खन्ना के बिना उनका काम नहीं चल सकता। 'गोदान' कर्मभूमि से आगे की कहानी है। साहूकारों द्वारा कराये गये 'कर्मभूमि' के समझौते से किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी स्थिति निरन्तर बिगड़ती गयी। आर्थिक मन्दी और उसके बाद लगान उसी हिसाब से वसूल किया जाता रहा। 'गोदान' का शोषण-तन्त्र सूक्ष्म और जटिल है। प्रेमचन्द ने बहुत विस्तार से भारतीय कृषक पर पड़ने वाले प्रभावों का व्यापकता से परिचय दिया है। गाँव के किसान का शोषण करने में अब पूँजीपति खन्ना भी प्रत्यक्ष रूप से आगे है। खन्ना की स्वीकारोक्ति-कि, "(मैंने) कितनी रिश्वतें दी हैं। कितनी ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाट रखे" इस तथ्य को उजागर करती है।

पूँजीपति का शोषण तंत्र सामन्त की अपेक्षा अधिक विस्तृत और निर्मम है। उसके सामने मुनाफे के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं। धन के संबंध में प्रेमचन्द की यह उक्ति है-"सारी आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों के सामंजस्य का नाम धन है। उसके लिए व्यापार के क्षेत्र में न कोई दोस्त है न दुश्मन है न भाई।" इस प्रवृत्ति का प्रभाव धीरे-धीरे गाँव पर भी पड़ने लगता है और उसका सामूहिक जीवन तेजी से नष्ट होने लगता है।

'गोदान' में किसानों के शोषण-कर्ताओं की एक लंबी सूची है जिसमें आधा दर्जन, महाजन, जमींदार, उनके कारकुन, पटवारी, तहसीलदार, थानेदार व पुलिस के दूसरे कर्मचारी तथा पुलिस के दूसरे सरकारी और अर्धसरकारी अफसर हैं। इस निर्मम शोषण ने किसान को मनुष्यता की हालत में भी रहने नहीं दिया है। "कौन कहता है हम तुम आदमी हैं, हम में आदमीयत कहाँ? आदमी वह है जिस के पास धन है, अख्तियार है, इल्म है। हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं। उस पर एक दूसरे को देख नहीं सकते। एका का नाम नहीं। एक किसान दूसरे के खेत पर न चढ़े तो जाफा कैसे करे।"

धन, धर्म और राजनीति के गठबंधन को 'गोदान' में भी प्रेमचन्द नहीं भूले। "पाप का धन कैसे पचे, इसलिए दान-धर्म करना पड़ता है। भगवान का भजन भी इसीलिये होता है। भूखे नंगे रह कर भगवान का भजन करें तो हम भी देखें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़ें तो सारी भक्ति भूल जायें।" प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि जिसके हाथ में लाठी है और जो गरीबों को जितना अधिक कुचलने की सामर्थ्य रखता है वह उतना बड़ा आदमी बन जाता है।

महाजनों का जो एक बार कर्ज ले लेता है, कई पीढ़ियों तक वह किसान गुलामी करने के लिए विवश हो जाता है। 'सवा सेर गेहूँ' में भी पंडित दातादीन की परंपरा के एक विप्रवर ने जो धर्म के साथ महाजनी भी करते हैं, बीस साल गुलामी करने पर भी शंकर के परिवार को मुक्ति नहीं दी और 120 रु. की देनदारी सवासेर गेहूँ के बदले फिर भी बाकी रखी।

किसान आन्दोलन के दबाव से इस बीच में जो कानून बने थे उनका लाभ छोटे किसान को बिल्कुल नहीं मिला। कानून, न्याय, पुलिस और अदालत उसी के साथ हैं जिसके पास धन और शक्ति है। झिंगुरी सिंह दातादीन को इन कानूनों से न डरने की सलाह देता है। "तुम क्या कहते हो पंडित, तब क्या संसार बदल जायेगा? कानून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है। आसामी में इतना बूता है कि वह रोज अदालत दौड़े? सारा कारोबार इसी तरह चलता जायेगा जैसे चल रहा है। कचहरी, अदालत उसी के साथ है जिसके पास पैसा है।" स्वतंत्रता के अनेक वर्ष बाद भी स्थिति वैसी ही है।

किसान आन्दोलनों की सीमा प्रेमचन्द की नहीं ऐतिहासिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय आन्दोलन की सीमा है। एक सामाजिक यथार्थवादी कलाकार एक सीमा तक ही उसका अतिक्रमण कर सकता है। इस सामन्ती महाजनी समाज व्यवस्था में वे किसानों की मुक्ति नहीं देखते। उनके लेखन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मजदूरों और काश्तकारों का राज स्थापित करने की उनकी इच्छा है जो समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों टिप्पणियों और व्यक्तिगत पत्रों में बार-बार रूस की समाजवादी व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। वे रूसी क्रांति के पश्चात् स्थापित वहाँ की समाज-व्यवस्था से सहमति प्रकट करते हैं। "रूस है जहाँ पर बड़े बड़ों को मार मार कर दुरुस्त कर दिया है। अब वहाँ गरीबों का आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।"

प्रेमाश्रम' का बलराज भी किसान समस्या का एकमात्र हल रूस जैसी समाज व्यवस्था के रूप में देखता है। किसान और मजदूरों के राज्य के बिना किसानों की मुक्ति संभव नहीं है। प्रेमचन्द की राय में आदर्श व्यवस्था वह है कि सबके अधिकार बराबर हों। कोई जमींदार बन कर, कोई महाजन बन कर जनता पर रोब न जमा सके। ऊँच-नीच का भेद समाप्त होना चाहिए।

किसान आन्दोलनों के संबंध में प्रेमचन्द मध्यवर्ग के शहरी लोगों से और उनकी भूमिका से सदैव ही असंतोष प्रकट करते रहे हैं कि वे किसान आन्दोलनों से पूरे मन से नहीं जुड़ते। "हमारे नेताओं में यही बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में रहते हैं जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती। न उन्हें वह शक्ति ही हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव ही पड़ता है।" (कायाकल्प)

प्रेमचन्द यह अनुभव करते हैं कि बिना सही संगठन और सही कार्यक्रम के किसानों की मुक्ति संभव नहीं। "क्या यह शर्म की बात नहीं है, जिस देश में 90 फीसदी आबादी किसानों की हो, उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई के आन्दोलन का व्यवस्थित प्रयत्न न हों? आने वाला जमाना किसानऔर मजदूरों का है।"

आने वाले जमाने में किसानों और मजदूरों की मुक्ति का यह प्रश्न प्रेमचन्द के लिए भावुकता का आवेग मात्र नहीं था। बल्कि उनका यह पक्का विचार था जो समय के साथ साथ अधिक प्रगाढ़ तथा तर्कसंगत होता गया। जीवन की अंतिम संध्या में उन्होंने अपने इस विश्वास को फिर दुहराया था-"जब तक कोई काश्तकारों के बीच रह कर काम नहीं करेगा तब तक उनकी स्थिति सुधारी नहीं जा सकती। जरूरत है कि खुद उनके बीच रह कर काम करें। लंबी लंबी स्पीचों से किसानों की भलाई संभव नहीं। यह पढ़ने लिखने का काम छोड़ कर देहातों में काम करने की मेरी इच्छा है।"

यह जरूरत प्रेमचन्द के युग से आज कहीं अधिक है।

8. प्रेमचंद का नारी परिप्रेक्ष्य

जवरीमल्ल पारख

किसी ने उचित ही कहा है कि समाज की वास्तविक स्थिति का अभिज्ञान नारी की दशा से लगाया जा सकता है। मानव जाति के आदिम युग को छोड़ दिया जाए तो दास युग से लेकर पूँजीवादी समाज तक में नारी की सामाजिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है उसका सही अभिज्ञान इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि नारी को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाने बिना उसके प्रति सही दृष्टिकोण का निर्धारण असंभव है। प्रेमचंद ने 'कुसुम' कहानी में नारी की ऐतिहासिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा, "आदिकाल में स्त्री पुरुष की उसी तरह सम्पत्ति थी, जैसे गाय, बैल या खेती बाड़ी। पुरुष को अधिकार था स्त्री को बेचे, गिरवी रखे या मार डाले। विवाह की प्रथा उस समय केवल यह थी कि वर पक्ष अपने सूर सामंतों को लेकर सशस्त्र आता था और कन्या को उड़ा ले जाता था। कन्या के साथ कन्या के घर में रुपया पैसा, अनाज या पशु जो कुछ उसके हाथ लग जाता था, उसे भी उठा ले जाता था। वह स्त्री को अपने घर ले जाकर, उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर घर के अंदर बंद कर देता था। उसके आत्म सम्मान के भावों को मिटाने के लिए यह उपदेश दिया जाता था कि पुरुष ही उसका देवता है, सोहाग स्त्री की सबसे बड़ी विभूति है। आज कई हजार वर्षों के बीतने पर भी पुरुष के उस मनोभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पुरानी सभी प्रथाएँ कुछ विकृत या संस्कृत रूप में मौजूद है।"

नारी की उपर्युक्त स्थिति प्राक् पूँजीवादी वर्गसमाजों में थी, जिसकी बिल्कुल सही तस्वीर प्रेमचंद ने प्रस्तुत की है। पूँजीवादी समाज में नारी की बाह्य स्थिति में परिवर्तन हुआ। औद्योगिकरण के कारण पूँजी पर अधिकार राज्य और परिवार के हाथ से निकलकर व्यक्ति के हाथ में आ गया। इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। पूँजी के विकास के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता भी अनिवार्य थी। राजनीतिक स्वतंत्रता मानवीय समानता के आदर्श के बिना संभव नहीं थी। जाति, धर्म, लिंग और वर्ण के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव का विरोध किया गया। परिणामतः नारी स्वतंत्रता की आदर्श धारणा भी सामने आई। किंतु समानता और स्वतंत्रता के ये आदर्श केवल उनके लिए था जिनका पूँजी पर अधिकार था, अन्यथा सामान्य जन का तो पहले से अधिक शोषण होने लगा था। यह सही है कि अब स्त्री का जीवन केवल घर की चारदीवारी में ही कैद नहीं था किंतु घर के बाहर आकर भी उसकी सामाजिक स्थिति में वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ। वह पहले भी जिन्स थी, अब भी जिन्स समझी गई। पहले उसे बेचने खरीदने

का अधिकार परिवार और राज्य को था, अब यह अधिकार पूँजी के हाथों में आ गया था। सामंती समाज में नारी के दो रूप थे-देवी और कामिनी का। अब 'देवी' का आदर्श समाप्त हो रहा था, सतीत्व की धारणा भी लुप्त हो रही थी। विज्ञापन के इस युग में जहाँ हर चीज खरीदी और बेची जा सकती थी, नारी भी नए-नए रूपों में बिकने लगी। नारी-सौंदर्य प्रचार का साधन हो गया। उसकी रही सही गरिमा भी समाप्त हो गई।

अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ भारत में पश्चिमी औद्योगीकरण का जो प्रभाव पड़ा उसके परिणामस्वरूप यहाँ भी सामंती ढाँचा चरमराने लगा। उन्नीसवीं शती का पुनर्जागरण इसी प्रभाव का परिणाम था। सामंती मूल्यों के आगे लगने वाले प्रश्नचिह्न, उन्हें पुन: स्थापित करने के प्रयास, नए मूल्यों के साथ उनके संघर्ष ने नारी की स्थिति में मूलभूत परिवर्तन किए। एक ओर प्रतिगामी सामंतयुगीन (मध्ययुगीन) मूल्य थे तो दूसरी ओर पश्चिम के आधुनिक पूँजीवादी मूल्य। तत्कालीन लेखक के सामने तीन रास्ते थे-प्रथम, वह मध्ययुगीन मूल्यों को पुन: स्थापित करने का प्रयास करें; दूसरे, आधुनिक मूल्यों के आगे बिना सोचे-विचारे समर्पण; तीसरा रास्ता था-दोनों युगों के मूल्यों का तत्कालीन भारतीय संदर्भों में मूल्यांकन कर गलत मूल्यों का विरोध एवं सही मूल्यों की स्थापना और विकास का प्रयास। जैसा कि स्वाभाविक था, प्रेमचंद ने तीसरा रास्ता अपनाया।

प्रेमचंद का युग नारी आंदोलन का युग भी था। उनके जन्म के समय भारत में पुनर्जागरण का राष्ट्रव्यापी आंदोलन स्वतंत्रता के आंदोलन में परिवर्तित हो रहा था। पुनर्जागरण आंदोलन के फलस्वरूप ही कई अमानुषिक कुरीतियों पर वैधानिक प्रतिबंध लगना संभव हुआ था। सन् 1829 में सती प्रथा निषेधक कानून बनाया गया। बाल विवाह निषेधक शारदा अधिनियम सन् 1929 में पारित हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की उम्र चौदह और वर की आयु अठारह वर्ष होनी चाहिए। तलाक के कानून को लेकर भी बराबर बहस छिड़ी रही। तलाक का सर्वप्रथम प्रस्ताव भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् द्वारा सन् 1924 में लाया गया जिसका तीव्र विरोध हुआ। बड़ौदा राज्य की सरकार ने सन् 1931 में हिंदू तलाक कानून बना भी डाला। विधवा विवाह के पक्ष में समाज सुधारक बराबर कार्य कर रहे थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन एवं दयानंद सरस्वती ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। स्त्री शिक्षा का भी खूब प्रचार हुआ। स्वातंत्र्य संघर्ष में भी स्त्रियों की समान भागीदारी थी। स्वयं प्रेमचंद की धर्मपत्नी शिवरानीदेवी पिकेटिंग करते हुए गिरफ्तार हुई थीं।

नारी की तत्कालीन दशा से प्रेमचंद संतुष्ट नहीं थे। स्त्रियों को जिस दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ रहा था, उससे प्रेमचंद अनभिज्ञ नहीं थे। शरत्‌चंद्र की तरह प्रेमचंद की संपूर्ण सहानुभूति स्त्रियों के साथ थी। शरत् की तरह प्रेमचंद भी मानते थे कि पतित कही जाने वाली स्त्रियों में भी मानवीय गरिमा का भाव अवश्य होता है, आवश्यकता उसके प्रस्फुटन की है लेकिन प्रेमचंद का नारी संबंधी दृष्टिकोण ज्यादा वस्तुगत था। उनकी सहानुभूति केवल भावना के स्तर पर नहीं थी। यही कारण है कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में नारी जीवन के जितने रूप मिलते हैं, उतने शरतचंद्र के यहाँ नहीं है। केवल भावात्मक सहानुभूति के कारण शरत् की नायिकाएँ पथभ्रष्ट, पतित और समाज द्वारा परित्यक्त होने के बावजूद सक्रियता और संघर्ष से वंचित हैं; वे अभिजात्य गरिमा से महामण्डित रहती हैं और उपन्यासों में व्यक्त उनके चरित्र से उनकी चरित्रहीनता प्रकट नहीं होती। वे समाज की रूढ़ियों की शिकार हैं, लेकिन उनके प्रति विद्रोह नहीं करती, पुरुषों ,द्वारा किए जाने वाले हर अत्याचार को सहती हैं परंतु उसका प्रतिकार नहीं करती। शरत् की नायिकाएँ त्यागमयी, सहनशीला, करुणामयी हैं किंतु उनके सारे गुणों का सामाजिक धरातल लुप्त हैं। इससे विपरीत प्रेमचंद की नारी-पात्राएँ कहीं ज्यादा सक्रिय, संघर्षशील और सचेतन हैं इसलिए वे ज्यादा विश्वसनीय लगती हैं। उनके जीवन की समस्याएँ केवल उनकी नहीं हैं। वे तत्कालीन भारत की नारी जाति की समष्टिपरक समस्याएँ हैं जिनसे उस युग की नारी जाति संघर्ष कर रही थीं। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में इसी संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की है। नारी मुक्ति का यह संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है इसलिए प्रेमचंद का साहित्य आज भी हमारे लिए प्रासंगिक एवं सार्थक है।

प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में नारी जीवन के हर पहलू को चित्रित किया है। उनके जीवन की प्रत्येक समस्या, उनके चरित्र का प्रत्येक पक्ष, उनमें विद्यमान साहस, त्याग, करुणा, दृढ़ता एवं संयम जैसे उच्च, मानवीय गुणों के साथ-साथ ईर्ष्या, द्वेष, आभूषणप्रियता, रुढ़िवादिता, धर्मभीरुता, अंधविश्वास जैसी दुर्बलताओं को भी चित्रित किया है।नारी जीवन के अंधेरे पक्षों के उद्‌घाटन को प्रेमचंद केवल स्त्री-पुरुष के व्यक्तिपरक संबंधों तक सीमित नहीं रखते अपितु उसे तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता संघर्ष से जोड़कर नया आयाम देते हैं। उनके लिए स्त्री-पुरुष संबंध रूमानी भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन मात्र नहीं हैं; वे उसे प्रेम कथाओं के वायवीय भावबोध का आधार नहीं बनाते, उसे वे ठोस सामाजिक धरातल देते हैं।

नारी के संदर्भ में इस सामाजिकता का आरंभ परिवार से होता है जो प्रेमचंद की रचनात्मकता का एक मुख्य आयाम है। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में प्रमुख पात्रों के पारिवारिक जीवन के चित्र अवश्य दिए हैं। एक सीमा तक प्रेमचंद पारिवारिक जीवन के प्रति मोहग्रस्त भी रहे हैं। हमारे जीवन आदर्शों एवं विश्व दृष्टि की पहली परीक्षा परिवार में ही होती है। पारिवारिक संस्कारों एवं संघर्षों का गहन एवं व्यापक असर हमारे समस्त जीवन पर पड़ता है। पारंपरिक भारतीय परिवार का आदर्श संयुक्त परिवार रहा है जिसमें परिवार का मुखिया वयोवृद्ध पुरुष होता था और जिसके आदेशों का पालन करना परिवार के प्रत्येक सदस्य का अनिवार्य कर्त्तव्य था। परिवार की संपूर्ण सम्पत्ति पर उस मुखिया का अधिकार होता था जो उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में बँट जाती थी। स्त्री को कोई अधिकार नहीं था। उसका पारिवारिक जीवन पुरुषों के कठोर अनुशासन में व्यतीत होता था। यह केवल आर्थिक जकड़न ही नहीं थी, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक जकड़न भी थी। स्त्रियाँ उन सामान्य मानवीय अधिकारों से भी वंचित थी, जिसके बिना स्त्री जीवन पशुवत् था। पति की मृत्यु के बाद स्त्री को आजीवन वैधव्य स्वीकार करना पड़ता था। (मां, बेटों वाली विधवा, स्वामिनी, धिक्कार) जबकि पुरुष वृद्धावस्था में भी दूसरा विवाह करने के लिए स्वतंत्र था (निर्मला, नया विवाह, नरक का मार्ग)। स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी पर पुरुष से किसी भी तरह का संबंध नहीं रख सकती थी (लांछन, सेवासदन)। पति की आज्ञा के बिना घर से बाहर रहने पर निर्वासित की जा सकती थी (सेवा सदन, निर्वासन); पति द्वारा त्यागी हुई स्त्री को उसके माता-पिता के यहाँ भी पनाह नहीं मिलती थी। स्त्रियों को पर-पुरुषों की नजरों से बचाने के लिए पर्दे में रखा जाता था (दुराशा)। स्त्री को रजस्वला होने से पूर्व ही बाल्यावस्था में विवाह बंधन में बांध दिया जाता था। पतिव्रता ही स्त्री का सबसे बड़ा धर्म था जिसके लिए अपने जीवन की आहुति भी कम थी (रानी सारंधा, शाप, मर्यादा की बेदी)। सतीत्व (निर्वासन, सती, सोहाग का शव, लांछन) एवं मातृत्व (मां, माता का हृदय, मंदिर) स्त्री जीवन के आभूषण थे। ऐसी स्थिति में उन स्त्रियों को लांछना का जीवन व्यतीत करना पड़ता था, जिनके बच्चे नहीं होते थे। लड़की का होना अत्यंत शोक की बात होती थी (नैराश्य) और लड़का न होने पर सारे परिवार का अपमान सहना पड़ता था। दहेज प्रथा ने स्त्री जीवन को अत्यंत दुखमय बना दिया था। पर्याप्त दहेज न मिलने पर पति का प्यार नहीं मिलता था (कुसुम), प्रेम संबंध टूट सकते थे (विद्रोही), अनमेल विवाह होते थे (निर्मला, नया विवाह, सेवा सदन) जिससे नारी जीवन में दु:खों का न खत्म होने वाला सिलसिला चल पड़ता था। औरत या तो घुल-घुलकर

मर जाती थी (निर्मला) या वेश्या जीवन अपनाना पड़ता था (सेवासदन)। वेश्या जीवन बाहर से कितना ही विलासिता पूर्ण नजर क्यों न आए, स्त्री जीवन की भयावह त्रासदी का चरम रूप था। एक बार वेश्या पथ गई हुई औरत को पुनः सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी (सेवा सदन, वेश्या, दो कब्रें, एकट्रेस)। सेवा, त्याग, संयम, क्षमा एवं करुणा यही स्त्री जीवन के परम आदर्श थे (सेवा का मार्ग, शूद्रा, मर्यादा की वेदी, स्वर्ण की देवी); स्त्री की विलासिता को अनैतिक माना जाता था।

स्त्री जीवन की इन त्रासदियों के बीच शिक्षित स्त्रियाँ सहज ही पाश्चात्य पद्धति के जीवन की ओर आकृष्ट हो जाती थी। पश्चिम की नारी स्वाधीनता उन्हें प्रभावित करती थी। परिणामतः विवाह प्रथा एवं सामाजिक रूढ़ियों पर से उनका विश्वास डगमगाने लगा था। मिस पद्मा की पद्मा, 'मालती' की मालती और 'दो सखियाँ' कहानी की पद्मा आदि ऐसी ही नारियाँ है। इस तरह की स्त्रियों के संकट दूसरी तरह के थे। उनकी उदारता का लाभ उठाकर पुरुष उन्हें शोषण चक्र में फांसते थे (मिस पद्मा, दो सखियाँ)। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में नारी मुक्ति की कामना करने वाले पुरुषों की स्त्री लोलुपता का पर्दाफाश भी किया है। नारी के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण एवं व्यवहार के द्वैत को प्रेमचंद ने अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी है। अपने ही परिवार की स्त्रियों के प्रति हमारे व्यवहार और संबंध से ही हमारी वास्तविक प्रगतिशीलता का प्रमाण मिलता है। नारी मुक्ति के कई उद्घोषक अपनी ही पत्नी और बहिन को वह आजादी नहीं देते जिसे वे दूसरे परिवारों की स्त्रियों के लिए अपेक्षित मानते हैं। वस्तुतः हमारी नारी विषयक दृष्टि कई तरह के अंतर्विरोधों का शिकार होती है। प्रेमचंद में भी ये अंतर्विरोध मौजूद थे जिसकी अभिव्यक्ति उनके साहित्य में हुई है। किंतु इन अंतर्विरोधों के बावजूद उनकी नारी विषयक दृष्टि में निरंतर परिवर्तन हुआ है और जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह यहाँ भी उनकी दृष्टि प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख है। लेकिन इन अंतर्विरोधों को जाने समझे बिना प्रेमचंद के नारी चरित्रों को नहीं समझा जा सकता और न ही उनके नारी संबंधी दृष्टिकोण को।

प्रेमचंद के नारी संबंधी विचार उनके जीवनानुभवों से निःसृत हुए थे। एक ओर वे नारी की तात्कालिक स्थिति से विकल थे और उसे बदलने के लिए कटिबद्ध थे, वहीं दूसरी ओर वे नारी मुक्ति के पश्चिमी आदर्श के प्रति भी शंकालु थे। सेवा, करुणा, पवित्रता और क्षमा जैसे सामंती मूल्यों को उन्होंने अपने साहित्य में जिस दृढ़ता से प्रस्तुत किया है तथा कहीं कहीं नारी के लिए इन आदर्शों का उल्लंघन अक्षम्य तक माना है, उससे

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद की नारी विषयक दृष्टि प्रतिगामी थी। सेवा का मार्ग, शूद्रा, स्वर्ग की देवी, मर्यादा की वेदी, शाप, रानी सारंधा जैसी कहानियाँ तथा रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, गोदान जैसे उपन्यासों में प्रेमचंद ने नारी चरित्रों को इन मूल्यों से विभूषित किया है। प्रेमचंद की ऐसी कई कहानियाँ जिसका परिवेश और काल सामंती है, स्त्रियों के जीवन को इन्हीं आदर्शों से परिचालित किया है। प्रश्न यह है कि क्या प्रेमचंद स्त्रियों के सामंती आदर्श को ही श्रेयस्कर समझते थे? क्या वे नारी की आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता के विरोधी थे? क्या वे नारी मुक्ति के शत्रु थे? ऐसे कई सवाल हमारे दिमाग में उपजते हैं जिसका जवाब पाए बिना प्रेमचंद के नारी संबंधी विचारों को समझना कठिन होगा।

प्रेमचंद ने नारी संबंधी विचारों की ठोस अभिव्यक्ति 'गोदान' में की है। इस उपन्यास में मिस्टर मेहता जो विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं, एक लंबे व्याख्यान में नारी संबंधी अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। मेहता के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा का मत है "अगर मेहता से होरी को जोड़ा जा सके तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत कुछ प्रेमचंद से मिलता जुलता होगा। मेहता को यदि उन्होंने अपने विचार दिए हैं तो होरी को बराबर परिश्रम करते रहने की दृढ़ इच्छा शक्ति।'' उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद के विचार मेहता के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं। मेहता पूँजीपतियों एवं जमींदारों द्वारा किए जाने वाले शोषण का विरोध करता है किंतु नारी संबंधी उसके विचार मध्ययुगीन है। मेहता स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ मानता है (बराबर नहीं)। वह क्षमा, त्याग और अहिंसा को जीवन के उच्चतम आदर्श घोषित करता है जिसे नारी प्राप्त कर चुकी है लेकिन पुरुषों को अभी प्राप्त करना है। वह वोट को नए युग का मायाजाल मानता है और स्त्रियों को उसके छलावे में न आने की सलाह देता है। वह नारी के पश्चिमी आदर्श को गलत मानता है, नारी स्वतंत्रता को विलासिता का दूसरा रूप तथा घर से बाहर के जीवन को उच्छृंखलता समझता है। वह प्रेम विवाह का विरोधी है। सेवा और त्याग को भारतीय नारी का सबसे बड़ा आभूषण समझता है।मेहता तलाक के अधिकार का विरोध करता है।जो विवाह नहीं करना चाहते उनके लिए मुक्त भोग का सिद्धांत प्रस्तुत करता है। इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि मेहता के विचार प्रतिगामी एवं प्रतिक्रियावादी हैं। अगर डॉ. रामविलास शर्मा के कथन को दृष्टि में रखें तो यही प्रेमचंद के भी विचार है।

लेकिन वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। अगर मेहता के विचार से प्रेमचंद पूर्णत: सहमत होते तो वे मेहता के चरित्र को उस ढंग से प्रस्तुत नहीं करते, जैसा कि उन्होंने किया है।

मेहता को समझने के लिए मालती के साथ उसके संबंधों की जाँच करना जरूरी है। मालती जिसने डॉक्टरी की शिक्षा विदेश में रहकर प्राप्त की थी मुक्त विचारों वाली आधुनिक महिला है। उच्च वर्ग के साथ अपने सामाजिक संबंधों के कारण, उस वर्ग के पुरुषों की स्वार्थपरता, स्त्री लोलुपता, प्रदर्शनप्रियता एवं आंतरिक खोखलेपन से वह अच्छी तरह परिचित है। इसी अभिजन समाज में उसका परिचय मेहता से होता है, जो इसी वर्ग के अन्य पुरुषों से भिन्न साहस, दृढ़ता एवं पौरुष गुणों मे युक्त है। वह मालती को अपनी ओर आकर्षित करने का वैसा प्रयास नहीं करता जैसा कि अन्य पुरुष करते हैं। मालती उसके इन गुणों से प्रभावित होती है। मेहता मूलत: एक रोमांटिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है जो विचारों में 'एडवंचरिस्ट' एवं कर्म में निष्क्रि...वादी है। उसके विचारों की ठोस दिशा नहीं है। मेहता के विचारों में अंतर्विरोधों की भरमार है लेकिन अपनी लच्छेदार भाषा में वह लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है जब तक मालती मेहता के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके आगे समर्पण की मुद्रा में रहती है तब तक मेहता उसके सामने नहीं झुकते। जब मालती विवाह का प्रस्ताव रखती है तो मेहता पति-पत्नी के बीच बेवफाई का सवाल उठाता है। वह मालती से पूछता है कि अगर मैं तुम्हें धोखा दूँ तो तुम क्या करोगी? मालती सहज रूप से कहती है, "मैं उसका कारण खोजूँगी और उसे दूर करूँगी। फिर भी न माने तो विष खाकर मर जाऊँगी।'' लेकिन मेहता के अनुसार अगर उसकी पत्नी उसे धोखा दे तो वह "पहले उसे जान से मार दे और फिर खुद मर जाऊँगा। वह अपने प्रेम तत्व की व्याख्या करते हुए कहता है, "नहीं मालती, इस विषय में मैं पूरा पशु हूँ और उसपर लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता। आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम तथा नि:स्वार्थ प्रेम जिसमें आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उसके आनंद से आनंदित होता है और उसके चरणों पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं। मैने पुस्तकों में ऐसी प्रेम कथाएँ पढ़ी हैं, जहाँ प्रेमी ने प्रेमिका के नए प्रेमियों के लिए जान दे दी है, मगर उस भावना को मैं श्रद्धा कह सकता हूं, सेवा कह सकता हूं, प्रेम कभी नहीं। प्रेम सीधी सादी गऊ नहीं, खूंखार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।'' मालती जिसने मेहता का प्रेम पाने के लिए अपने जीवन की दिशा बदल दी थी, जिसने सेवा और त्याग को ही जीवन का ध्येय बना लिया था, जो मेहता को अपना गुरु, पथ-प्रदर्शक और देवता मानती थी, उसके ये विचार सुन स्तम्भित रह जाती है। स्वयं लेखक के शब्दों में मालती को "एक धक्का सा लगा, मानो कोई शिष्य अपने गुरु को कोई नीच कर्म करते देख ले।'' इसके बाद मालती मेहता के संबंधों में परिवर्तन हो जाता

है। मालती पर मेहता का प्रभुत्व समाप्त हो जाता है। मेहता मालती की तटस्थता एवं निर्वेदता के सामने अपनी सारी दृढ़ता खो बैठता है। वह अपने किए पर पछताता है, मालती से क्षमा याचना करता है, लेकिन मालती द्रवित नहीं होती। उनके संबंध मित्र-भाव तक ही सीमित रह जाते हैं।

उपर्युक्त कथा इस बात का प्रमाण है कि मेहता प्रेमचंद की दृष्टि में आदर्शवादी चरित्र नहीं हैं बल्कि मेहता के माध्यम से प्रेमचंद मध्यवर्ग के चारित्रिक खोखलेपन को चित्रित करते हैं। जहाँ मालती का चरित्र निरंतर विकसित होता है, मेहता के चरित्र का ह्रास ही होता है। अगर मेहता लेखक का आदर्श चरित्र होता तो उसका इस तरह वैचारिक पतन नहीं दिखाया जाता। इससे यही प्रमाणित होता है कि प्रेमचंद मेहता के सारे विचारों से सहमत नहीं है। किंतु यहाँ यह ध्यातव्य है कि मालती में परिवर्तन मेहता के संपर्क में आने से ही होता है। मेहता के संपर्क में आने के बाद मालती में स्वार्थपरता, विलासिता एवं उच्छृंखलता के स्थान पर सेवा, त्याग एवं करुणा का समावेश होता है। उसके 'स्व' का विस्तार होता है। अब डाक्टरी का पेशा उसके लिए 'स्टेटस' बढ़ाने और पैसा कमाने का साधन नहीं है बल्कि गरीब, निरीह एवं असहाय जन की सेवा करने का माध्यम है। मेहता मालती के समक्ष इन उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करता है अतएव मालती उसका अनुकरण करती है लेकिन, इसके प्रतिकूल जब मेहता नारी के संबंध में प्रतिगामी विचार रखता है तो मालती उन्हें अस्वीकार कर देती है। प्रेमचंद मेहता के व्यक्तित्व के अंतर्विरोध को उजागर कर यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी वैचारिक सहमति मेहता से नहीं अपितु मालती से है। सेवा, करुणा आदि आदर्शों पर इतना बल देने का कारण प्रेमचंद पर गांधीवाद प्रभाव है जिससे मुक्त होने का प्रयास वे निरंतर करते रहे हैं। उपर्युक्त मूल्य अपने आप में उतने गलत नहीं है लेकिन स्त्री के लिए अनिवार्य आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना, तथा इसके द्वारा स्त्री को पुरुष से भिन्न बताना सही नहीं कहा जा सकता।

नारी विषयक प्रेमचंद के दृष्टिकोण में अंतर्विरोध की शुरुआत यहीं से होती है। प्रेमचंद नारी संबंधी मध्ययुगीन नैतिक आदर्शों को पूरी तरह नहीं त्याग पाए। सतीत्व, मातृत्व, सेवा, करुणा जैसे आदर्शों के समक्ष पश्चिम द्वारा प्रचारित मूल्यों को भारतीय संदर्भ में पूरी तरह से लागू करने में झिझक रहे थे। इसका एक कारण तो यह था कि प्रेमचंद इन मूल्यों के दुष्प्रभावों को भी देख रहे थे कि किस तरह स्वतंत्रता और मुक्त-भोग के

नाम पर उच्छृंखलता, विलासिता एवं अनुत्तरदायित्व बढ़ रहा है। किस तरह गुलामी की मनोवृत्ति भारतीयों में जड़ जमा रही है। फिर, किसी भी लेखक के लिए यह संभव नहीं है कि वह एक साथ अपने सारे संस्कारों को तोड़ दें। प्रेमचंद ही नहीं वह युग भी नारी संबंधी इन अंतर्विरोधों की गिरफ्त में था।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमचंद रूढ़िवादी थे। उन्होंने उन मध्ययुगीन धारणाओं को जिन्हें वे पूरी तरह त्याग नहीं पाए थे, अपने ढंग से अधिकाधिक लचीला और अपने समय के अनुकूल बनाने का प्रयास किया था। उदाहरण के लिए, 'सतीत्व' की धारणा को लें; प्रेमचंद के अधिकांश नारी-चरित्र विरोधी स्थितियों में भी अपनी दैहिक पवित्रता अक्षुण्ण रखती हैं। 'सेवासदन' की नायिका सुमन वेश्या बन जाने के बावजूद अपने शरीर को अपवित्र नहीं होने देती। लेकिन प्रेमचंद ने ऐसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें उनका यह पवित्रतावादी दृष्टिकोण खंडित हुआ है। 'नया विवाह' कहानी की कथावस्तु अनमेल विवाह की समस्या पर आधारित है। लाला डंगामल की दूसरी पत्नी आशा जो आयु में उनसे बहुत छोटी है, निर्मला की तरह अपने को पति की सेवा में डुबो नहीं देती। लालाजी द्वारा अपनी पत्नी को आभूषणों एवं सैर सपाटों से बहलाने की असफल कोशिश, उसे उसी घर के जवान रसोइए जुगल के प्रति आकर्षण से नहीं रोक पाती। जिन इच्छाओं को बूढ़े पति के कारण अपने मन के किसी कोने में दबा दिया था, थोड़ी सी आँच लगते ही अत्यंत वेग के साथ बाहर छलक पड़ती हैं। नौकर मालकिन का रिश्ता तिरोहित होकर एक और रिश्ता कायम होने लगता है। इस कहानी के अंत में जुगल एवं आशा के बीच का वार्तालाप एवं कहानी जिस बिंदु पर समाप्त होती है वह द्रष्टव्य है। जुगल, आशा और लालाजी के अनमेल विवाह की आलोचना करते हुए कहता है:

"मेरा ब्याह कोई 50 साल की बुढ़िया से कर दे तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊं। या तो खुद जहर खा लूं या जहर देकर मार डालूं।''

इस पर आशा भाग्य का रोना रोती है। यह तर्क देती है कि "बुढ़िया तुम्हारी जवान स्त्री से ज्यादा सेवा करेगी, तुम्हें सीधे रास्ते पर रखेगी।''

"यह सब माँ का काम है। बीबी जिस काम के लिए है, उसी काम के लिए है।''

"आखिर बीबी किस काम के लिए है?''

"आप मालकिन हैं, नहीं तो बता देता, बीबी किस काम के लिए है?''

प्रेमचंद इसके बाद इस कहानी की समाप्ति इस ढंग से करते है: "मोटर की आवाज आई। न जाने कैसे आशा के सिर का आंचल खिसककर कंधे पर आ गया। उसने जल्दी से आंचल खींचकर सिर पर कर लिया और यह कहती हुई अपने कमरे की ओर लपकी कि लाला भोजन कर चले जाएँ तब आना।'' यह कहानी पवित्रतावादी दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करती। इसी तरह 'बालक' कहानी की नायिका गोमती को गंगू (जो मामूली नौकर है) यह जानते हुए अपनाता है कि गोमती की कोख में बच्चा उससे नहीं है। गंगू जो अनपढ़, गरीब एवं मामूली आदमी है, एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो प्रेमचंद की प्रगतिशील एवं मानवतावादी दृष्टि का सही प्रतिनिधित्व करता है। गंगू गोमती से कहता है, "मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो, बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है। मैने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था।'' ये कहानियाँ इस बात का प्रमाण है कि वे पवित्रतावादी दृष्टि के प्रति दुराग्राही नहीं थे। स्त्री के लिए चाहे वे कितने ही ऊंचे आदर्शों की बात करें लेकिन वे ये मानते थे कि नारी पुरुष समानता के बिना नारी शोषण का अंत संभव नहीं है।

प्रेमचंद स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों के पक्षधर थे। अगर पुरुष स्त्री के प्रति ईमानदार नहीं है, वह अपनी पत्नी को धोखा देता है, विलासिता में डूबा रहता है, पत्नी के प्रति अपने दायित्वों को स्वीकार नहीं करता तो ऐसे पुरुष की स्त्री को भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। 'जीवन का शाप' कहानी में उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों को आर्थिक पृष्ठभूमि में अंकित किया है। उन्होंने सतीत्व की परंपरावादी मान्यता पर प्रहार करते हुए स्त्री के अधिकारों को नवीन आयाम दिया है। इस कहानी में प्रेमचंद यह बताते हैं कि धन कैसे ऐयाशी की प्रवृत्ति को पनपाता है। धनी आदमी की पत्नी को अकेले जलने और कुढ़ने की बजाय विलासिता का आनंद लूटना चाहिए। "ऐयाश मर्द की स्त्री ऐयाश न हो, तो यह उसकी कायरता है। लतखोरपन है।'' प्रेमचंद यह भी मानते हैं कि ऐयाशी आर्थिक विषमता का परिणाम है। इस कहानी की नायिका कहती है, "मैं बहुत दिनों पापा के इलाके में रही हूं। चारों तरफ किसान मजदूर रहते थे। बेचारे दिन भर पसीना बहाते थे, शाम को घर जाते थे। ऐयाशी और बदमाशी का कहीं नाम न था।

और यहाँ शहर में देखती हूँ कि सभी बड़े घरों में यही रोना है। सब के सब हथकंडों से पैसा कमाते है और अस्वाभाविक जीवन बिताते हैं।''

प्रेमचंद स्त्री के आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों के भी पक्षधर थे। वे ये मानते थे कि कानूनी तौर पर आर्थिक अधिकार न होने के कारण स्त्रियों को अधिक कष्टकारक जीवन जीना पड़ता है। 'बेटों वाली विधवा' में पति के मरने के बाद स्त्री का अपने लड़कों द्वारा जिस तरह अपमान होता है उसके मूल में स्त्री की आर्थिक परावलंबता ही है। 'कुसुम' कहानी में नायिका कुसुम द्वारा किया हुआ स्त्री-पुरुष संबंधों का आर्थिक विश्लेषण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसके द्वारा प्रेमचंद ने स्त्री शोषण का सही ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। इसीलिए इसी कहानी में कुसुम के जीवन की त्रासदी से मर्माहत होकर लेखक कहता है, ''जब तक स्त्री-पुरुष के अधिकार समान न होंगे, ऐसे आघात नित्य होते रहेंगे। सुखमय दाम्पत्य की नींव अधिकार साम्य पर ही रखी जा सकती है। इस वैषम्य में प्रेम का निवास हो सकता है, मुझे तो इसमें संदेह है। हम आज जिसे स्त्री-पुरुष में प्रेम कहते हैं, वह वही प्रेम है, जो स्वामी का अपने पशु से होता है। पशु सिर झुकाए काम किए चला जाए, स्वामी उसे भूसा और खली भी देगा, उसकी देह भी सहलाएगा, उसे आभूषण भी पहनाएगा; लेकिन जानवर ने जरा चाल धीमी की, जरा गर्दन टेढ़ी की कि मालिक का चाबुक पीठ पर पड़ा। इसे प्रेम नहीं कहते।''

प्रेमचंद नारी पराधीनता के लिए विवाह संस्था को भी दोषी मानते थे जिसकी नींव स्त्री-पुरुष असमानता पर टिकी हुई थी। वे स्त्री का 'कन्यादान' करने के कतई पक्षधर नहीं थे। स्वयं अपनी पुत्री के विवाह में उन्होंने 'कन्यादान' की इस रस्म का विरोध किया था। वस्तुतः हिंदू विवाह प्रथा के साथ जुड़ी कुरीतियों के कारण स्त्री का जीवन अधिक नारकीय हुआ है। हिंदू विवाह प्रथा स्त्री-पुरुष प्रेम पर आधारित नहीं है बल्कि उसका आधार धर्म है। जैसा कि होता है, धार्मिकता के साथ कुरीतियाँ सरलता से सम्पृक्त हो जाती हैं। हिंदुओं में यह माना जाता है कि अगर लड़की का कन्यादान माता-पिता समय पर नहीं करते तो वे पाप के भागीदार होते हैं। 'कन्यादान' से पितृ-ऋण से मुक्ति मिलती है। कन्या के विवाह का निर्णय माता-पिता अपनी इच्छा से करते हैं। इसमें कन्या की किसी तरह की राय नहीं ली जाती, इसे निर्लज्जता समझा जाता है। अगर विवाह पूर्व कन्या किसी पुरुष से किसी भी तरह का संबंध रखे तो इसे घोर पाप माना जाता है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं है। यह बात विवाह बाद के पर पुरुष से संबंध पर भी लागू

होती है। पर-पुरूष से संबंध चाहे इच्छा से हो या विवशता से, समाज में उस स्त्री के लिए फिर कोई जगह नहीं है। कन्या पक्ष को विवाह में दहेज के रूप में काफी धन वर पक्ष को देना पड़ता है जिसे विवाह से पहले तय किया जाता है। इच्छित दहेज न दे पाने के कारण लड़की के माता-पिता को अयोग्य वरों से अपनी लड़कियों की शादी करनी पड़ती है। अनमेल विवाह का मूल कारण यही है। सामान्यत: इस तरह के विवाहों में लड़की को कई तरह के कष्ट उठाने पड़ते है। लड़कियाँ कई बार जल्दी विधवा हो जाती है। अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद प्रेमचंद के पिता ने भी दूसरा विवाह किया था और विवाह के कुछ वर्षों बाद ही उनके पिता का देहांत हो गया था। बाल विवाह भी वैधव्य का एक कारण है। एक बार विधवा होने के बाद कुलीन घर की स्त्रियों के लिए दूसरा विवाह धर्म-विरुद्ध माना जाता था। परिणामस्वरूप विधवाओं को आजीवन पराश्रय में रहना पड़ता था। विधवा किसी प्रकार के सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, तीज त्यौहारों में भाग नहीं ले सकती थी। किसी तरह का शृंगार नहीं कर सकती थी, सैर-सपाटे नहीं कर सकती थी। अपनी हर तरह की इच्छाओं का दमन करना पड़ता था। और सबकी गुलामी करती हुई अपनी जिंदगी की आहुति दे देनी पड़ती थी। प्रेमचंद नें अपना कथा साहित्य में वैधव्य के इस त्रासद पक्ष का अत्यंत मार्मिक चित्र खींचा है। स्वयं प्रेमचंद ने बाल विधवा शिवरानी देवी से विवाह कर अपनी सहानुभूति को कर्म का ठोस आधार दिया था। 'नरक का मार्ग' कहानी की नायिका हिंदू विवाह प्रथा की आलोचना करते हुए कहती हैं, "मैं इसे विवाह का पवित्र नाम नहीं देना चाहती। यह कारावास ही है। मैं इतनी उदार नहीं हूं कि जिसने मुझे कैद में डाल रखा हो, उसकी पूजा करुँ, जो मुझे लात से मारे, उसके पैरों को चूमूं। मुझे तो मालूम हो रहा है, ईश्वर इन्हें इस पाप का दंड दे रहे है। मैं निस्संकोच होकर कहती हूं कि मेरा इनसे विवाह नहीं हुआ। स्त्री को किसी के गले बाँध दिये जाने से ही उसकी विवाहिता नहीं हो जाती। न ही संयोग विवाह का पद पा सकता है जिसमें कम से कम एक बार तो हृदय प्रेम से पुलकित हो जाए।'' 'दो सखियाँ' कहानी में प्रेमचंद ने वैवाहिक प्रथा की आलोचना की है। इस कहानी का नायक विनोद कहता है,"मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तब से दुनिया बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जी-भर भी अंतर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं।'' विनोद के अनुसार इस प्रथा में "सबसे बड़ा ऐब यह है कि यह एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देती है।'' दूसरा यह कि यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्री-व्रत और पातिव्रत्य

का स्वांग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है, उतनी और किसी भौतिक या दैनिक क्रांति से भी नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी सड़ी हुई, लज्जाजनक, पाशविक लकीरों को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्वपूर्ण नाम देकर हमने उसे कैद का धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिए कि वह उसका भरण पोषण करता है? क्या स्त्री का कर्त्तव्य केवल पुरुष की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है? उस सम्पत्ति के लिए जिस पर, हिंदू नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहांत के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। हमारे ही वीर्य से उत्पन्न संतान हमारी कमाई हुई जायदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थांधता, कितना दासत्व छिपा हुआ है, इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस कैद में जकड़ी हुई समाज की संतान यदि आज घर में, देश में, संसार में अपने क्रूर स्वार्थ के लिए रक्त की नदियाँ बहा रही है, तो क्या आश्चर्य है। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।'' इसी कहानी में प्रेमचंद ने विनोद के माध्यम से विवाह की एक आदर्श कल्पना भी प्रस्तुत की है, "मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझता हूँ, जो जीवन पर्यंत एक साथ रहते हैं, मगर स्वेच्छा से।'' पशु-पक्षी के आदर्श जीवन को सामने रखते हुए लेखक कहता है, "उनके यहाँ कोई कैद नहीं, कोई राजा नहीं। दोनों अपने अपने चारे दाने की फिक्र करते हैं। दोनों मिलकर रहने का स्थान बनाते हैं, दोनों साथ बच्चों का पालन करते हैं।''

प्रेमचंद ने विवाह प्रथा के वर्तमान रूप के प्रति अपना आक्रोश तो व्यक्त किया ही है, पश्चिम के 'मुक्त भोग' की भी तीखी आलोचना की है क्योंकि यह सिद्धांत भी मूलतः स्त्री शोषण पर आधारित है। 'मिस पद्मा', 'उन्माद', 'नई शांति' जैसी कहानियों से ऐसा प्रतीत होगा कि वे स्त्री पुरुष समानता और स्त्री अधिकारों के विरोधी हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। पश्चिमी औद्योगिक समाज में नारी स्वतंत्रता का चाहे जैसा भी रूप हो, भारतीय जीवन पर उसका जो विकृत प्रभाव पड़ रहा था, उसे वे ठीक नहीं समझते थे। 'मिस पद्मा' कहानी में प्रेमचंद की दृष्टि प्रतिगामी नहीं है अपितु नारी मुक्ति के उस विकृत रूप को उद्घाटित किया है जहाँ पुरुष नारी की दैहिक विवशता का लाभ उठाकर शोषण

करता है। इसलिए प्रेमचंद नारी स्वतंत्रता के साथ-साथ नारी के अधिकारों की बात भी करते हैं।

प्रेमचंद के कथा साहित्य में सैक्स जीवन का नितांत अभाव है। संभव है इसके पीछे कारण प्रेमचंद युग की नैतिक सीमा रही हो। लेकिन इसका एक कारण प्रेमचंद की प्रगतिशील विचारधारा भी है जो नारी के सम्मान को किसी तरह ठेस नहीं पहुँचाना चाहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमचंद नारी मनोविज्ञान के जानकार नहीं है। उन्होंने हर वर्ग, जाति, उम्र एवं वर्ण की स्त्रियों का कुशलता से चित्रण किया है; किंतु यह भी सही है कि उन्हें जितनी सफलता ग्रामीण, गरीब अथवा मध्यवर्गीय और घरेलू औरतों के चित्रण में मिली है, उतनी अमीर, मध्यवर्गीय, शिक्षित स्त्रियों के चित्रण में नहीं। धनिया, जालपा, निर्मला, मुन्नी, झुनिया, सुमन आदि स्त्रियों का चित्रण इस दृष्टि से अप्रतिम है। प्रेमचंद की कहानियों में स्त्रियों के साहस का चित्रण जिस प्रभावशाली ढंग से हुआ है, वह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि इसके द्वारा स्त्री को अबला मानने की मध्ययुगीन धारणा को खंडित किया है। 'कर्मभूमि' में सारे आंदोलन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भूमिका कहीं ज्यादा प्रभावशाली दिखाई गई है। प्रेमचंद ने ऐसी कई कहानियाँ लिखी हैं जिनमें स्त्रियाँ देश की आजादी के लिए पुरुषों से बढ़कर त्याग करती हैं, जो पारिवारिक बंधनों, सामाजिक रूढ़ियों, वैयक्तिक रिश्तों एवं प्राण की लालसा का त्याग कर गोलियों का हँसते हुए सामना करती हैं जैसे 'जेल', 'समरयात्रा' आदि कहानियाँ।

उपर्युक्त सारे विश्लेषण से प्रमाणित होता है कि प्रेमचंद का नारी विषयक दृष्टिकोण प्रगतिशील है। वे कुछ अंतर्विरोधों के बावजूद स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों एवं स्त्री के हर तरह के शोषण का विरोध करते हैं। प्रेमचंद स्त्री-पुरुष संबंधों को वैयक्तिक धरातल पर ही नहीं प्रस्तुत करते अपितु समष्टिगत दृष्टि के अनुसार वे समस्त समस्याओं को राष्ट्रीय जागरण एवं स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में चित्रित करते हैं। प्रेमचंद साहित्य का इस दृष्टि से आज भी महत्व है कि नारी जीवन के संदर्भ में जिन सवालों को प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से उठाया था उनमें से कई अब भी अनुत्तरित हैं। नारी अब भी दोहरे शोषण का शिकार है। अब भी वह घर की चारदीवारी में कैद है। महानगरों के जीवन को छोड़ दिया जाए तो नारी अब भी मध्ययुगीन मान्यताओं के शिकजे में जकड़ी हुई सिसक रही है ऐसी स्थिति में हमें प्रेमचंद की परंपरा के साथ अपने को जोड़ना होगा।

9. टूटी हुई नारी की बिखरी हुई छाया

शैलेश ज़ैदी

प्रेमा के लेखक को उपन्यासकार के रूप में हिन्दी जगत में कोई ख्याति या सम्मान नहीं मिला, किन्तु इसी लेखक ने जब ग्यारह वर्ष बाद **सेवासदन** की इमारत तैयार की, तो वह चर्चा का विषय बन गया। **प्रेमा** में अपरिपक्व कलाकार की कच्ची अनुभूतियाँ बोल रही थीं, तो **सेवासदन** में व्यापक अनुभव से प्राप्त संतुलित और यथार्थ दृष्टि कार्य कर रही थी। **प्रेमा** सामंती सभ्यता के रूढ़िगत प्रेम पर आर्यसमाजी सुधारवाद का मुलम्मा चढ़ाकर प्रस्तुत की जाने वाली एक असफल कृति थी। **सेवासदन** सामंत वर्ग की उच्च अट्टालिकाओं पर व्यंग्यपूर्ण अट्टहास करने वाला एक सफल उपन्यास था। **प्रेमा** में नारी के टूटने-जुड़ने और बनने-संवरने की कृत्रिम, सुखन्त-कथा का छाया और प्रकाश से रहित एक सपाट चित्र था। **सेवासदन** में टूटी हुई नारी के खण्ड-खण्ड चित्रों की जीवन्त छवि थी।

सेवासदन की मूल उर्दू पाण्डु लिपि अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि उपन्यास की उठान को देखकर प्रेमचन्द को अपनी सफलता का विश्वास हो गया। उन्होंने निगम को बड़े उत्साह पूर्वक लिखा-'मुझे ऐसा ख्याल होता है कि मैं अबकी बार नाविल नवीसी में भी कामयाब हो सकूँगा।' वैसे तो यह वाक्य साधारण सा है, किन्तु इसमें जो ध्वनि है उसकी कोमल तरंग अपने में एक गंभीर अर्थ रखती है। जैसे लेखक को वह दिशा मिल गई हो जिसकी खोज में वह वर्षों से भटक रहा था। आखिर यह 'कामयाबी' का विचार मन में आया ही क्यों? ऐसे कौन से तत्व थे जो इस विचार को प्रेरणा दे रहे थे?

किसी भी औपन्यासिक कृति का मूल्यांकन उसके सम्यक् रूप को सामने रखकर ही किया जा सकता है। उसके विशिष्ट गुणों को उससे पृथक् करके किसी निष्कर्ष तक पहुँचने में जहाँ एक ओर सुविधा हो सकती है, वहीं यह निष्कर्ष घातक भी सिद्ध हो सकता है। एक आलोचक यदि किसी ग्रंथ को आलोचना के विशिष्ट औजारों से चीर-फाड़ कर देखता है, तो इसका खतरा बना रहता है कि वह दुबारा उस ग्रंथ के सम्यक् रूप को कभी न देख सके। साहित्यालोचक जर्राह या शल्यकार नहीं होता, यह और बात है कि शल्यकार की दृष्टि से उसके विवेक को शक्ति मिलती है। उपन्यास के पात्र को कथावस्तु से और कथा को पृष्ठ भूमि से सर्वथा पृथक् करके देखा भी नहीं जा सकता। 'इन विषयों के संदर्भ

में' (अंग्रेजी उपन्यासकार हेनरी जेम्स के शब्दों में) 'कुछ इस प्रकार बातें की जाती है जैसे प्रत्येक खाँस पर परस्पर विलीन होने तथा अभिव्यक्ति के एक सामान्य प्रयास का अभिन्न अंग होने के बजाय इनमें एक प्रकार का मिथ: सांघातिक-पृथकत्व विद्यमान हो। विभागों की कड़ियों में विद्यमान रचना की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। किसी भी सजीव की भाँति उपन्यास एक समूची और लगातार जीवित वस्तु है और समानुपातिक रूप में यह जैसी भी है वैसी ही पायी जायेगी।'

किसी भी ग्रंथ की रचना अथवा उसके पठन-पाठन की क्रिया शून्य में नहीं होती। साहित्य को जीवन के प्रसंगौचित्य में ही देखा और परखा जा सकता है, और यह जीवन स्थिर न होकर गतिमय और परिवर्तनशील है। इसलिए साहित्यलोचना को एक गतिशील-सौन्दर्य बोध की संज्ञा दी जा सकती है। किसी भी उपन्यास का मूल्यांकन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हम समूची कृति का मूल्यांकन करने जा रहे हैं न कि उसके उद्देश्य का अथवा उसमें विद्यमान सामाजिक वैशिष्ट्य का। इस दृष्टि से एक कृति महत्वपूर्ण तो हो सकती है, किन्तु मात्र इन गुणों से वह उत्तम और श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। **परीक्षा गुरु** तथा **सौ अजान एक सुजान** उपन्यास अपनी सोद्देश्यता के कारण महत्वपूर्ण हैं, **हिंन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पत्ति, आदर्श हिन्दू** आदि कृतियाँ भी सामाजिक वैशिष्ट्य की दृष्टि से महत्व रखती हैं, किन्तु इन्हें श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यह हमारे ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार तो कर सकती हैं किन्तु इनमें हमारी जीवन शक्ति का विस्तार करने की क्षमता नहीं है।

एक श्रेष्ठ और सफल औपन्यासिक कृति में मूलत: दो तत्वों का होना आवश्यक प्रतीत होता है, एक जीवन और दूसरा क्रमादर्श (Pattern)। यह दोनों ही तत्व एक दूसरे से प्रबल रूप से जुड़े हुए हैं फिर भी एक सीमा तक पृथक् हैं। किसी उपन्यास को पढ़ते समय, उसमें जो कुछ भी लिखा गया है, उसे हम यदि अपनी नाड़ी पर महसूस नहीं कर सकते, तो वह अन्वीक्षण योग्य भले ही हो, सफल और श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ उपन्यास, जीवन की केवल सूचना ही नहीं देता, वह जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहता भी है। वह जीवन में एक प्रकार के क्रमादर्श की व्याख्या करता है। प्रेमचन्द को जब इस तथ्य का बोध हुआ, तो **सेवासदन** के रूप में उनकी प्रथम सफल औपन्यासिक कृति प्रकाश में आई।

सेवासदन की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही पाठक को जीवन का अत्यधिक तीव्र और विस्तृत विवेक प्रदान करती हैं। दारोगा कृष्णचन्द्र और उनके परिवार के सम्बन्ध में हम

एकाएक बहुत कुछ जान लेते हैं। लगता है कि प्रेमचन्द अपने लहजे के तीखेपन से सीधे पाठक के हृदय में उतर जाना चाहते हैं। ऐसा इसलिए लगता है क्योंकि प्रेमचन्द जीवन का केवल चित्र ही नहीं उतारते, उसकी छाया और प्रकाश को भी रूपायित करते हैं। इस प्रकार वे जीवन और उसके क्रमादर्श को शब्दों के भीतर पिरो देना चाहते हैं। यह वही कलाकार कर सकता है जिसकी यथार्थ की पकड़ बहुत गहरी हो।

सेवासदन के श्रेष्ठ और सफल कृति होने का कारण यह नहीं है कि उसमें वैवाहिक-समस्या पर प्रकाश डाला गया है अथवा मध्यम वर्ग की समस्याओं को उजागर किया गया है। उसके श्रेष्ठ होने का कारण यह भी नहीं है कि वेश्या जीवन को उसमें ज्वलन्त समस्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है अथवा ब्रिटिश पुलिस पद्धति की उसमें बुराई की गई है या नैतिक उपदेश देकर सुधारवादी दृष्टि का परिचय दिया गया है। किसी समस्या विशेष को सामने रखकर लिखा जाने वाला उपन्यास श्रेष्ठ हो भी नहीं सकता। **सेवासदन** की श्रेष्ठता का कारण यह है कि उसमें जीवन के पहलुओं को अनुभव की सच्चाई के पैने शीशे से तराश कर संचारित करने का यत्न किया गया है। उसमें एक प्राणयुक्त जीवन है जो अपने अस्तित्व के स्पन्दन से विद्यमान रहता है। फील्डिंग्स के प्रसिद्ध उपन्यास **टॉम जोन्स** की भाँति उसकी घटनाओं का क्रम सप्रयास निकाला हुआ प्रतीत नहीं होता, जेन्स आस्टीन के **एम्मा** की भाँति वह जीवन के अन्तःकीलित तर्कों के साथ निकट से जुड़ा हुआ है। व्यक्तिगत अनुभवों और सामाजिक चेतना के योग से उसके कथात्मक तानों बानों का सहज निर्माण हुआ है।

सेवासदन हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास है। आधुनिक इसलिए है कि वह अपने युग के व्यक्तिगत और सामूहिक सत्य का यथार्थ, व्यापक और संश्लिष्ट निरूपण करता है। आधुनिक इसलिए भी है कि उसमें मानव समाज की परिस्थितिगत और मानसिक उथल-पुथल की एक ऐसी कथा है जिसे हम अपनी नाड़ी पर महसूस करते हैं। जब हम **सेवासदन** को एक आधुनिक उपन्यास के रूप में मान्यता देते हैं, तो हमें इतिहास के संदर्भों में विचारने की आवश्यकता पड़ती है। इतिहास केवल वही नहीं है जो पुस्तकों में लिखा हुआ है, इतिहास मनुष्य का कृत्य है और यह पतिवर्तनमय और विकासशील है। मनुष्य इतिहास का निर्माण करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस इतिहास का एक पात्र है। इसलिए जब हम इतिहास की बात करते हैं तो हमें वैयक्तिक स्तर पर मानव समाज से अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। लेखक भी एक व्यक्ति है इसलिए वह भी अपने युग के इतिहास का अभिन्न

अंग है। उसके जीवन की कटु और मधुर स्मृतियाँ उसके अवचेतन में सुरक्षित रहती हैं और युगीन सन्दर्भों के साथ जुड़कर तथा उसकी निरीक्षण शक्ति का स्पर्श पाकर आन्दोलित हो उठती हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास भक्ति युगीन नैतिकता और शृंगार युगीन रोमांस से यदि कुछ आगे बढ़ा भी तो भारत के गौरवपूर्ण अतीत का कीर्त्तन करने में खो गया। लेखक ने अपने युग की चेतना से पूरी तरह घुल-मिलकर बातें नहीं कीं। उसका यथार्थ बोध करने की बात तो दूर रही, उसने अपनी श्वासों के स्पन्दन को भी संकीर्ण दिशा में घुट जाने के लिए छोड़ दिया।

सेवासदन का लेखक अपने युग की चेतना को अपने भीतर पका रहा था। उसने परम्परागत नैतिकता को नकारा नहीं, हाँ उसे मध्ययुग से निकाल कर अपने युग में खड़ा कर दिया। उपन्यास के सोद्देश्य होने की उसने अवहेलना नहीं की, हाँ उसे स्वस्थ धरातल प्रदान करके एक नई दिशा जरूर दे दी। उसने अपने भीतर के यथार्थ को युगीन यथार्थ के साथ अन्तर्ग्रंथित करके देखने का यत्न किया। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन के अनुभव और सामूहिक जीवन के निरीक्षण की सहायता से उसने सेवासदन को अपने युग का एक प्रामाणिक इतिहास बना दिया।

प्रेमचन्द ने एक हिन्दू परिवार में जन्म लिया था। हिन्दू जाति के उत्थान के लिए उनके मन में गहरी पीड़ा थी। किन्तु यह पीड़ा साम्प्रदायिकता की गन्ध से मुक्त थी। इसमें राष्ट्र-हित की भावना सर्वोपरि थी। फलस्वरूप उनकी जातीय भावना, व्यापक राष्ट्रीय भावना से जुड़ी हुई थी। अतीत का गौरव गान करके उनकी आत्मा को सन्तोष नहीं मिल सकता था। किशोरी लाल गोस्वामी के **तारा** उपन्यास की रानी चन्द्रावली उनके मस्तिष्क में अपना स्थान नहीं बना सकती थी। कारण यह है कि वे विधर्मियों को हेय दृष्टि से देखने के पक्ष में नहीं थे। वे उनके गुणों का आदर करते थे और उन गुणों को स्वधर्मावलम्बियों में देखना चाहते थे। उन्होंने महसूस किया था कि नारी को देवी समझने वाली हिन्दू जाति ही उसके साथ सबसे अधिक अन्याय करती है। उसकी एक साधारण सी त्रुटि पर उसे समाज से बहिष्कृत कर देती है। इसके विपरीत मुसलमानों के धर्म में नारी के लिए विशेष स्थान है।

'हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। जरा सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू समाज ने बहिष्कृत किया। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ

चकले खाने में हैं। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान होती हैं। ये आठ करोड़ मुसलमान बाहर के नहीं हैं, घरके ही हैं।.....हिन्दुओं की कोशिश तो यह होती है कि उन स्त्रियों को दुनिया ही से विदा कर दिया जाय। सरकार के भय से जरा चुप रहते हैं। उधर मुसलमानों का धर्म बहुत विशाल है। उसमें सबको रखने की ताकत है।' (प्रेमचन्द:घर में)

उनका यह अहसास **सेवासदन** की सुमन को विभिन्न परिस्थितियों में समेटता और फैलाता चला गया। इस प्रकार सेवासदन के मूल में राष्ट्र के एक टूटे हुए कमजोर और शोषित वर्ग की कहानी है। यह शोषित वर्ग नारी का है और यह नारी हिन्दू नारी है। इसलिए कि शोषण की मात्रा यहाँ अपेक्षाकृत अधिक है। प्रेमचन्द का **सेवासदन** इसी टूटी हुई नारी की बिखरी हुई छाया को रूपायित करता है।

नारी की पराधीनता और उसके टूटे हुए कमजोर शोषित रूप के चित्रण की प्रेरणा प्रेमचन्द को जहाँ अपने युग से मिली, वहीं उनके वैयक्तिक जीवन का योग भी उसमें कुछ कम नहीं है। जार्ज इलियट की भाँति प्रेमचन्द ने भी जीवन की कटु और मधुर स्मृतियों को अपनी रचनाओं मे जहाँ तहाँ स्थान दिया है। **सेवासदन** में लेखक के जीवन का वैयक्तिक यथार्थ सामुदायिक यथार्थ के साथ घुल-मिलकर एकदम से बोल पड़ा है। यथार्थ की यह अंतरंगता ही उपन्यास की सफलता पर मुहर लगाती है।

सेवासदन की सुमन के विवाह का प्रसंग प्रेमचन्द के अपने विवाह का स्मरण दिलाता है। सुमन एक रूपवती, गुणशीला और पढ़ी लिखी लड़की है जिसका विवाह कर दिया जाता है एक बदमिजाज और अनमेल पुरुष से। धनपतराय गुणशील, शिक्षित और सुन्दर लड़का है, जिसकी शादी हो जाती है एक चिड़चिड़ी, अनपढ़ और अनमेल लड़की से। वहाँ शादी मामा तय करते हैं। यहाँ नाना के सुझाव पर विवाह होता है। 'गंगाजली दामाद को देखकर बहुत रोई। उसे ऐसा दुख हुआ मानो किसी ने सुमन को कुएँ में ढकेल दिया।' अजायब लाल की निगाह जब बहू पर पड़ी तो एक आह भरकर रह गये और अपनी पत्नी से बोले - लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। गजाधर की बड़ी फुआ घर का सारा कामकाज करती थीं, इसलिए सुमन आजाद थी, किन्तु फुआ के निधन से सारा बोझ सुमन

पर आ पड़ा। अजायब लाल घर की जिम्मेदारियाँ संभाले हुए थे, इसलिए धनपत स्वतंत्र था, पर उनके स्वर्गवास से सारा बोझ धनपत के कन्धों पर आ पड़ा। गजाधर ने सुमन के चरित्र पर प्रश्न चिन्ह लगाये और एक झड़प के बाद उसे घर से निकाल दिया। धनपतराय ने भी पत्नी को इसी दृष्टि से देखा और उसकी रामयाद राय नामक संतान को किसी अन्य से उत्पन्न माना। "अमृतराय ने इस प्रसंग में लिखा है-'एक बार यह बात भी उड़ी कि उन्हें लड़का हुआ है जिसका नाम उसके घर वालों ने राम याद राय रखा है।... अगर यह बात सच भी हो कि वह स्त्री जानकी मैया के समान ही निर्दोष थी, तो भी शायद इस मामले में प्रेमचन्द को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो, क्योंकि यह प्रसंग केवल दु:ख का है।'' पति-पत्नी में लड़ाई हुई और पत्नी को घर छोड़कर जाना पड़ा। सुमन अब पति का मुँह भी नहीं देखना चाहती और इस बिगाड़ को स्थायी समझती है। धनपत पत्नी की सूरत से बेजार है और इस वियोग को दायमी मानते है। गजाधर पत्नी को मनाने नहीं गये। धनपत राय ने भी ऐसा करने में अपना अपमान समझा। गजाधर ने घूम-घूमकर पत्नी पर कीचड़ उछाला। धनपत ने चिट्ठी-पत्री और आपस की बातचीत में पत्नी की बुराई की। गजाधर को आगे चलकर अपने इस कृत्य पर ग्लानि हुई और वह स्वामी गजानन्द बनकर परोपकार में जुट गये। धनपत को बस्ती के निवासकाल में शिवरानी देवी के लज्जित करने पर अपनी भूल का अहसास हुआ और वह प्रेमचन्द के रूप में जनता के सेवक बन गये। फिर क्या था, स्वामी गजानन्द और प्रेमचन्द के प्रयत्नों से **सेवासदन** की इमारत खड़ी हो गई।

गजाधर, स्वामी गजानन्द हो जाने पर भी, एक बार भी सुमन से यह नहीं कह सके, कि वह उनके साथ चलकर रहे। हाँ कथा के अन्त में स्वामी जी की ज्योति ने सुमन को ले जाकर उनकी चौखट पर खड़ा अवश्य कर दिया। धनपतराय को यह शिकायत जरूर रही कि उनकी पत्नी ने घर से जाने के बाद न चिट्ठी लिखी न पत्तर किन्तु प्रेमचन्द के रूप में लोकहिताय सब कुछ लिखने पर भी वे पत्नी को एक चिट्ठी भी न लिख सके और जब शिवरानी देवी को उसने लिखा कि पतिदेव आकर ले जायँ, तो प्रेमचन्द ने उत्तर दिया - 'नहीं आयी तो मैं क्या करूँ? अन्ततोगत्वा वह प्रेमचन्द का दर्शन किये बिना मर गई।

सेवासदन की सुमन को गजाधर की चौखट पर पहुँचा कर प्रेमचन्द ने अपने आदर्श-पुरुष के स्वाभिमान को झुकने नहीं दिया। किन्तु प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी के साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार यदि सुमन के साथ किया गया होता और वह गजाधर के यहाँ जाने के बजाय इधर-उधर की ठोकरें खाकर मर गई होती तो कथा यथार्थ के और भी निकट रहती और अतः कहीं अधिक जानदार होती। फिर भी द्रष्टव्य यह है कि सतीत्व और पतिव्रत धर्म का गीत गाने वाला हिन्दू समाज सुमन जैसी पवित्र आत्मा को गजाधर की पत्नी के रूप में उसका अधिकार नहीं दिला पाता। वह उसे सेवासदन की देख-रेख के लिए चुनकर संतोष कर लेता है और दाम्पत्य जीवन के सुख से वंचित कर देता है। इस प्रकार सुमन कथानक के अन्त तक हमारी दया और सहानुभूति पाती रहती है।

सेवासदन के मूल में वेश्या समस्या को तलाश करना न्यायसंगत न होगा। वस्तुतः कथानक का मूलाधार वह सामाजिक और सांस्कृतिक रीतियाँ हैं जिनके पथरीले पाटों के बीच में पड़कर एक अबला टूढ-टूट जाती है और उस टूटी हुई नारी को या तो पतिता होना पड़ता है या पतिता होने का लांछन उसके गले मढ़ दिया जाता है।

सुमन गजाधर के घर से निकलकर पद्मसिंह के यहाँ जाती है और अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए वहाँ जीवन के शेष दिन इज्जत से काट देना चाहती है। किन्तु वहाँ जाने पर भी, जो निश्चित रूप से एक वेश्या का कोठा नहीं था, उसके सद्चरित्रा होने में सन्देह किया जाने लगता है। यदि ऐसा न होता, तो पद्मसिंह को और उसको लेकर शहर में इतनी बातें उड़ाई ही क्यों जातीं? पद्मसिंह शर्मा समाज के झूठे आरोपों के समक्ष हथियार डाल देते हैं और सुमन को अपने घर से निकल जाने के लिए मजबूर कर देते हैं।

सुमन, भोली बाई के यहाँ आती है, जो वेश्या ही नहीं है, उसकी पड़ोसिन भी है? (प्रेमचन्द ने कथा के विकास के लिए 'भोली-बाई' का परिचय कराया है, जो एक वेश्या है। आश्चर्य यह है कि यह वेश्या दाल मण्डी में न रहकर शरीफों के मोहल्ले में रहती है और स्वतंत्रतापूर्वक वेश्यावृत्ति करती है। इस मोहल्ले में और दूसरी वेश्याएँ नहीं रहती। यहाँ एक कारखाने का बाबू , एक वकील साहब और कुछ दूसरी छोटी जातियों के लोग रहते है और किसी को भोली बाई के यहाँ रहने

पर आपत्ति नहीं होती। फिर सुमन को कोठे तक पहुँचाकर वह न जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है। उपन्यासकार को उसकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।) इस हैसियत से वह उसके यहाँ पहले भी आ-जा चुकी है। किन्तु पहले के आने में और आज के आने में बड़ा अन्तर है। आज वह केवल शरण की याचना करने आई है, दिल बहलाकर वापस लौट जाने के लिए नहीं।

सुमन भोली बाई से कहती है कि वह उसके लिए एक किराये के मकान का बन्दोबस्त कर दे जिसमें रहकर वह सीने-पिरोने का काम करके शेष जीवन का निर्वाह कर सके। किन्तु भारतीय समाज में एक अबला अकेले रहकर शोहदों से बच जाय, यह संभव नहीं। इसलिए उसे भोली बाई की सहायता से स्वावलम्बी जीवन बिताने के लिए नाचना-गाना सीखना पड़ता है। इसमें उसकी अपनी रुचि भी है और यह उसके मन का उल्लास भी है। उसका दोष इतना ही है कि वह वेश्या के कोठे पर बैठती है। इस नाते समाज उसे सुमन बाई कहता है। वह जैनेन्द्र के त्याग पत्र की मृणाल की तरह कोयले वाले का गर्भ धारण नहीं करती। इसलिए कि अपने स्वाभिमान की रक्षा करने की उसमें शक्ति है और परित्यकता होकर भी वह स्वावलम्बी बन सकती है। दाल मण्डी के एक कोठे पर अपनी कला प्रदर्शन करके अर्थोपार्जन करने मात्र से तो वह वेश्या नहीं कही जा सकती। वह एक पेशेवर वेश्या है भी नहीं। वेश्या-वृत्ति का आधार तो यह माना गया है, कि नारी धन तथा सुख के लिए बदले में पुरुष को तन बेचती हो। सुमन ने ऐसा नहीं किया। फिर उसे लेकर इतना बवण्डर किस बात का? क्या वही सुमन दस-दस बीस-बीस दिन विभिन्न पुरुषों के यहाँ रहा करती और हरजाई होकर भी ऐश से जीवन बिताती, तब भी पद्मसिंह शर्मा और बिट्ठलदास को इतनी ही चिन्ता होती? या वह सुमन ब्राह्मणी न होकर कायस्थ या मुसलमान रही होती और कोठे पर आकर वेश्या बनकर बैठ जाती, तब भी समाज के ये ठेकेदार इतना ही चिन्तित होते? सुमन को एक ब्राह्मणी के रूप में प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने संकीर्ण दृष्टि रखने वाले समाज सेवियों पर गहरी चोट की है।

बिट्ठलदास जी एक सुधारवादी व्यक्ति हैं। किन्तु उनका सुधारवाद केवल ब्राह्मण जगत तक सीमित है, जन सामान्य के लिए नहीं है। या कुछ और फैला दीजिए,

तो बस हिन्दू जाति की उन्हें चिन्ता है। जिस देश में ऐसे सुधारवादी होंगे, उस देश का क्या होगा? प्रेमचन्द की यही व्यथा है।

बिट्ठलदास, सुमन से कहते हैं - "जब हमारी पूज्य ब्राह्मण महिलाएँ ऐसे कलंकित मार्ग पर चलने लगीं तो हमारे अध:पतन का अब पारावार नहीं है। सुमन, तुमने हिन्दू जाति का सर नीचा कर दिया।'

उत्तर में सुमन के शब्दों में प्रेमचन्द बोल पड़े - 'आप ऐसा समझते होंगे और तो कोई ऐसा नहीं समझता। अभी कई सज्जन यहाँ से मुजरा सुनकर गये हैं, सभी हिन्दू थे, लेकिन किसी का सर नीचा नहीं मालूम होता था।'

इस स्थल पर प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा पर भी चोट करना नहीं भूलते। सुमन कहती है -'पद्मसिंह को भी जो चिढ़ है वह मुझसे है, मेरी बिरादरी से नहीं। मैंने इन्हीं आँखों से उन्हें होली के दिन भोली से हँसते देखा था।'

यह शर्मा जी सुमन की गुजर-बसर के लिए, पचास रुपये मासिक तक देने को आमादा हो जाते हैं। ये समाज सुधारक, ब्राह्मणी सुमन को यानी वेश्या को नहीं-विधवा आश्रम में दूसरों की निगाह से बचाकर रखते हैं। आखिर क्यों? सुमन ही के साथ यह सुलूक क्यों हैं?

इस अभागिनी ब्राह्मणी के प्रति दर्द तो इतना है, किन्तु बिट्ठलदास जी या पद्मसिंह शर्मा इसे अपने घर में शरण नहीं दे सकते। पाठशालाओं में इसके लिए जगह नहीं है। विधवा आश्रम में रह सकती है, किन्तु चोरी से। सदन के परिवार के लोग उसके हाथ का पानी नहीं पी सकते? आखिर कैसी है यह सनातनी सभ्यता और कैसा है यह ब्राह्मण समाज? प्रेमचन्द ने सेवासदन के कथानक में यह प्रश्न टाँक दिये।

सुमन एक नारी है और नारी ने वेश्या के कोठे को अपने विलास के लिए चुन लिया है - यह चिन्ता का विषय नहीं है। चिन्ता का विषय यह है, कि सुमन एक ब्राह्मणी है और ब्राह्मणी ने 'वह किया है जो नीच जाति की कुलटाएँ करती हैं। इस स्थिति में सेवासदन में वेश्याओं को लेकर जो सुधार के प्रयास किये गये, उनके मूल में ब्राह्मणवाद है, वेश्या समस्या नहीं। सोचने के इस अन्दाज ने बोर्ड के सदस्यों के बीच, मुसलमानों और हिन्दुओं के मिले-जुले दो गुट बना दिये। प्रेमचन्द **यहाँ पर इस विषय को बोर्ड में लाये ही इसलिए कि यह ब्राह्मणों के हाथों से**

निकलकर सभी के सोचने का विषय बन जाये। और जब यह सबके सोचने का विषय बन गया, तो अलग-अलग व्यक्तियों के चेहरों पर लगे हुए अलग-अलग मुखौटों के दर्शन हुए। मुसलमानों के सोचने का अन्दाज क्या है? हिन्दुओं के विचार करने का ढंग कैसा है? सब कुछ समझ में आ गया। यह भी व्यक्त हो गया कि यदि मुसलमानों में कुछ रूढ़िवादी और कुछ प्रगतिशील विचार के हैं तो हिन्दुओं में भी इसकी कमी नहीं। हाजी हाशिम, अबुलवफा, दीनानाथ तिवारी, सेठ चिम्मन लाल और सेठ बलभद्र दास सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। ये, वह लोग हैं जो किसी भी विषय को साम्प्रदायिक रंग दे सकते हैं। प्रभाकर राव का परिचय इस रूप में कराया गया, कि यह पता चल जाय कि हिन्दी के पत्रों का सम्पादक मानवतावादी न होकर, मुसलमानों का कट्टर विरोधी है। मौलाना तेग अली को एक इमामबाड़े का मुतवल्ली बताकर और सैयद शफ़कत अली और शरीफुल हसन के शीयों जैसे नाम रखकर, यह संकेत कर दिया गया, कि शीया मुसलमान उदारवादी और प्रगतिशील है और सुन्नी मुसलमान-हाजी हाशिम, अबुलवफा, अब्दुल लतीफ इत्यादि-कट्टर पंथी। फिर ऐसे-ऐसे लोग जहाँ मौजूद होंगे, वहाँ किसी समस्या का गंभीर हल निकल भी कैसे सकता है?

प्रेमचन्द को अपनी सीमाएँ मालूम थीं। लखनऊ की म्युनिसिपैलिटी से वेश्याओं के निकाले जाने का प्रस्ताव पारित होने पर शिवरानी देवी को पुरुषों पर बहुत क्रोध आया।

"शिवरानी देवी-आखिर ये जायेंगी कहाँ और इनका पेशा क्या होगा? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आखिर ये हमारे ही बीच की तो हैं?

प्रेमचन्द - 'रानी; यह न तुम्हारे वश की बात है, न मेरे। तुम जानती हो कि मेरे वश में यह सब कुछ नहीं है।

शिवरानी देवी - कोई उपाय हो तो बतलाइये।

प्रेमचन्द - जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं। तुम विश्वास मानो यह मेरे वश के बाहर की बात है। समाज से लड़ने के लिए स्त्रियाँ जितनी विवश हैं उससे कम पुरुष नहीं हैं।''

ऐसी स्थिति में डा० मदान का यह कहना कि इस सामाजिक बुराई का उपन्यासकार ने जो विश्लेषण किया है वह भी उथला है और जो उपचार सुझाया है वह भी प्रभाव रहित है; कहाँ तक न्यायानुकूल है? प्रेमचन्द ने सेवासदन में वेश्या-समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का ठेका नहीं लिया है। उन्होंने तत्कालीन समाज, इस विषय पर जिस ढंग से सोच रहा था उसे 'सेवासदन' की स्थापना करके केवल एक दिशा दे दी है। वे समाज सुधारकों के सोचने के ढंग से संतुष्ट दिखाई दिये हों, ऐसा इस उपन्यास में कहीं नहीं मिलता। वह तो संकीर्ण सुधारवादियों के दृष्टिकोण से संतुष्ट न होकर डा० श्यामचरण के शब्दों में बोल पड़ते हैं - "उद्योग यह होना चाहिए कि उन कुप्रथाओं का सुधार किया जाय जिनके कारण ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इस समय आप एक की रक्षा कर ही लेंगे तो इससे क्या होगा? यहाँ तो नित्य ही ऐसी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। मूल कारणों का सुधार होना चाहिए।

चीन में वेश्यावृत्ति का अन्त करने के सिलसिले में जो सफलता मिली, उसके लिए वहाँ कानून का सहारा लेने के अतिरिक्त, वेश्याओं के प्रति प्राचीन घृणात्मक दृष्टिकोण को बदला गया और उनके प्रति जनता में सहानुभूति और सहयोग की भावना अंकुरित की गई। वेश्याओं को उनके परिवार में लौटने, स्वतंत्र आजीविका अर्जित करने और विवाह करके दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की सुविधा दी गई। वहाँ की सरकार ने नवम्बर सन् 1951 ई० में सभी वेश्यालयों को एकाएक बन्द कर दिया। वेश्याओं के जीवन के नव-निर्माण का कार्य 'महिला संरक्षण एवं शिक्षण केन्द्र' ने अपने हाथों में लिया। इस केन्द्र में लगभग 4,500 ऐसी अभागिनी स्त्रियों को शरण दी गई। सेवासदन में वेश्याओं का निकाह कराके, उनकी लड़कियों के लिए अनाथालय की स्थापना करके और सारे शहर में उनके लिये सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करके, प्रेमचन्द ने समस्या के समाधान की ऐसी ही एक दिशा दिखाई है।

सेवासदन एक नायिका-प्रधान उपन्यास है। किन्तु सुमन इस उपन्यास की नायिका केवल इन अर्थों में है कि उपन्यास के प्रधान पात्र के रूप में उसे स्थान मिला है, और संपूर्ण कथा सूत्र उसकी चेतना से जुड़ा हुआ है। अन्यथा परम्परागत अर्थों में उसे नायिका नहीं कहा जा सकता। वह न केवल भ्रष्ट और दूषित है अपितु

अहम्मन्यता की भावना भी उसमें काफी प्रबल है जो उसे उस मार्ग पर ले जाती है जहाँ उसके वास्तविक सुखों का हनन होता है। वह होरी की तरह एक दरिद्र किसान परिवार में नहीं, बल्कि पुलिस के महकमें के दारोगा कृष्णचन्द्र के यहाँ एक सम्पन्न घराने में पैदा हुई है। किन्तु परिस्थितियाँ उसे होरी से भी अधिक दरिद्र बना देती है। होरी एक गाय रख सकने की अभिलाषा लिये हुए, बाप-दादा के धर्म का निर्वाह करता हुआ मर जाता है। सुमन एक सुखी दाम्पत्य जीवन की हसरतें दबाये हुए, आदर पाने की लालसा लिये हुए, समाज के प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा करती हुई, अपने स्वाभिमान की रक्षा का भार उठाये हुए, सामाजिक परिस्थितियों से जूझती हुई बार-बार मरते रहने के लिए जीवित रहती है। उसके दुखों और उसकी वेदनाओं की गाथा, एक टूटी हुई नारी की पराधीनता की गाथा है, सामाजिक कुरीतियों में पिसने वाली अबला की कहानी है।

इस कहानी में वे सभी प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सुमन से है। बज़ाहिर पात्रों की खासी भीड़-भाड़ दिखाई पड़ती है, पर ध्यान से देखने पर प्रत्येक पात्र सुमन के जीवन की कहानी को आगे बढ़ाने में योग दे रहा है। यहाँ दहेज-प्रथा की चर्चा इसलिए की गई है, कि कृष्णचन्द्र के आदर्शों का स्वप्न टूट जाय और शिक्षित समाज के चेहरे से नकाब उतार दी जाये। महन्त रामदास और चेतू किसान का जिक्र इसलिए हुआ है, कि धर्म का मजा चख लेने के बाद लोगों के गले दबाने और रिश्वतें लेने का प्रण करने वाले दारोगा कृष्णचन्द्र को इसका अवसर मिल सके, साथ ही सामंतवादी अत्याचार के विरुद्ध पीड़ित किसान का विद्रोही स्वर भी सुना जा सके। पुलिस के महकमें पर चोट इसलिए की गई है, ताकि बताया जा सके कि इतने गन्दे महकमें में रहकर भी सुमन का पिता एक ईमानदार आदमी था। सुमन का विवाह दोहाजू गजाधर से इसलिए हो जाता है कि उसकी माँ के पास पैसे नहीं है जिनसे दहेज की तैयारी की जा सके। भोली बाई और सुभद्रा की चर्चा इसलिए हुई है कि वे सुमन की पड़ोसिनें हैं। भोली बाई और सुभद्रा इसलिए आकृष्ट होती है, कि ऊपर से उससे घृणा करने वाले लोग उसे आदर देते हैं और ठाकुर द्वारे तक में उसके नाच का आयोजन करते हैं। वह भोली बाई की शरण में इसलिए जाती है, कि उसके लिए और कहीं सिर छुपाने की जगह नहीं है। पद्मसिंह शर्मा उसके कोठे पर बैठने से इसलिए चिन्तित हैं कि उन्होंने उसे अपने घर से निकाल दिया था और उसका गुनाह उनकी गरदन

पर है। बिट्ठलदास इसलिए परेशान हैं कि सजातीय ब्राह्मण कन्या वेश्या हो गई है। सदन का परिचय इसलिए दिया गया है कि सुमन की एक बहिन और भी है और सदन का विवाह-सम्बन्ध उसके साथ कर दिया जाता है। बारात वापस इसलिए लौट जाती है कि एक वेश्या की बहिन से शादी कौन कर सकता है? बोर्ड के सदस्य इसलिए बिठाये गये हैं, कि सुमन को लेकर जो वेश्या समस्या खड़ी की गई है उसका साधारणीकरण किया जा सके। गजाधर प्रसाद को स्वामी गजानन्द इसलिए बना दिया जाता है, कि समाज की यह पोल खुल सके कि सुमन के अधिक पैसे खर्च कर देने पर जब एक व्यक्ति उधार लेने के लिए निकलता है, तो दर-दर की ठोकरें खाने के बाद भी पाँच रूपये का प्रबन्ध नहीं कर पाता और जब वही व्यक्ति स्वामीजी का भेस धारण कर लेता है तो चार दिन में एक हजार रुपये का इंतजाम कर लेना भी उसके लिए आसान हो जाता है। इस प्रकार उपन्यासकार मंजिल की ओर निरन्तर आगे बढ़ता गया है, किन्तु इर्द-गिर्द के वातावरण से आँखें मूँदकर नहीं चलता।

प्रेमचन्द अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों पर गहरी दृष्टि रखते थे। **सेवासदन** के रचनाकाल तक शुद्ध वस्तुवादी दृष्टिकोण का पूर्ण बिकास नहीं हो सका था। इसलिए यह सोचना कि उन्होंने समस्या विशेष के मनोवैज्ञानिक कारणों की जाँच की है या नहीं? और यदि नहीं की है तो उनका दृष्टिकोण सीमित था-प्रेमचन्द के साथ अन्याय करना है। प्रेमचन्द ने अपने दायरे में रहते हुए वह सब कुछ सोचा, जिसे उनके बाद के विचारकों ने आगे बढ़ाया। प्रेमचन्द को जहाँ कहीं भी दुहरे मानदण्डों का आभास हुआ, वह उस पर चोट किये बिना आगे नहीं बढ़े।

सेवासदन का प्रारम्भ इस वाक्य से होता है - ''पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।''

पुलिस का मुकद्दमा राज्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। शासक वर्ग की नीति और नैतिकता उसका मानदण्ड है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपराध वृत्तियों का दमन करे और जनता की सुरक्षा करे। किन्तु जब साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए सरकार जनता का दमन करना आवश्यक समझने लगे, फिर पुलिस अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कैसे कर सकती है? जिस समाज में विलासी जमींदार और भ्रष्टाचारी

नौकरशाही का प्रभाव हो, वहाँ पुलिस-विभाग का भ्रष्टाचारी होना अनिवार्य सा है। दारोगा कृष्णचन्द्र पश्चाताप इसलिए करते हैं कि वह इस विभाग में रहकर भी कर्त्तव्य और ईमानदारी को गले से लगाये रहे। उनकी भल-मनसी का मातहतों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। होता भी कैसे? उन्हें काले धन पर हाथ साफ करने का अवसर ही नहीं मिलता था। वह कहा करते थे - 'यहाँ हमारा पेट नहीं भरता, हम इनकी भलमंसी को लेकर क्या करें-चाटें? हमें घुड़की डाँट-डपट, सख्ती सब स्वीकार है, केवल हमारा पेट भरना चाहिए। अफसर वर्ग भी कृष्णचन्द्र से खुश नहीं था, इसलिए कि वह उसकी दावतें नहीं करते थे-उसे तोहफे नहीं पेश करते थे। हालात से विवश होकर जब कृष्णचन्द्र ने बेटी का विवाह करने की नीयत से रिश्वत ली, तो उनके रिश्वत लेने की बात खुल गई। इसलिए कि उसमें से उन्होंने मुख्तार का हक नहीं दिया और मातहतों का विश्वास नहीं प्राप्त किया। यानी वह रिश्वत लेते और धड़िल्ले से लेते, पर इस चोरी के माल को बाँटकर खाते, तो उनकी खूब वाह-वाही होती और उन पर कभी आँच न आती। यह थी पुलिस-विभाग की स्थिति और यह थी ब्रिटिश शासन की नैतिकता।

ब्रिटिश सरकार को शासन चलाने के लिए अपने समर्थकों की आवश्यकता थी। इसके लिए जमींदार वर्ग को जन्म दिया गया। यह वर्ग शासन की शह पाकर किसानों का मनमाना शोषण करता था। आर्थिक दृष्टि से टूटा हुआ किसान चुपचाप अत्याचार सहन करता था और उफ भी नहीं करता था। फिर किसी जमींदार को अगर धार्मिक अधिकार भी प्राप्त हों तो पूछना ही क्या? सेवासदन के महन्त रामदास एक ऐसे ही जमींदार थे। 'उनके यहाँ सारा कारोबार 'श्री बांके बिहारी जी' के नाम पर होता था। श्री बांके बिहारी जी लेन देने करते थे, और 32 सैंकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे, वही रहेननामे लिखाते थे। उनको रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था। महन्त जी का अधिकारियों में खूब मान था।' मान इसलिए था, कि उनके यहाँ अधिकारियों का आशातीत आदर और सत्कार होता था।

महन्त जी ने तीर्थ यात्रा से लौटने पर एक बड़ा यज्ञ किया जिसके लिए प्रत्येक आसामी से हल पीछे पाँच रुपये चन्दा उगाहा गया। दरिद्र बूढ़े किसान चेतू ने चन्दा देने से इन्कार कर दिया। इस दुस्साहस और अवज्ञा का दण्ड उसे यह मिला कि ठाकुर द्वारे के सामने उस पर मार पड़ी और उसी रात को उसके प्राण हर

लिये गये। यह बूढ़ा किसान प्राणों की बलि देकर धर्म और धन के अपवित्र गठबन्धन के विरुद्ध लड़ते हुए नवयुग के किसान चरित्र का आभास दे जाता है। उस पर मार पड़ने लगी तो वह मौन नहीं रहा वह भी बिगड़ा, लेकिन उसके हाथ बँधे हुए थे। मुँह से लात घूसों का जवाब देता रहा और जब तक जबान बन्द न हो गई, चुप न हुआ। चेतू को जन्म देने में 1917 ई. की रूसी राज्यक्रान्ति से भी लेखक को प्रेरणा मिली है।

ब्रिटिश सरकार ने दुहरे मानदण्डों की जो नीति अपना रखी थी उससे लेखक के मन पर एक गहरा घाव था। शान्ता की आँखों से उसने मुगलसराय के स्टेशन पर देखा था - 'उसके देशवासी सिर पर बड़े-बड़े गट्ठर लादे एक संकरे द्वार पर खड़े हैं और बाहर निकलने के लिए एक दूसरे पर गिर पड़ते हैं। एक दूसरे तंग दरवाजे पर हजारों आदमी खड़े अन्दर आने के लिए धक्कम-धक्का कर रहे। लेकिन दूसरी ओर एक चौड़े दरवाजे से अंग्रेज लोग छड़ी घुमाते कुत्तों को लिए आते जाते हैं। कोई उन्हें नहीं रोकता, कोई उनसे नहीं बोलता।'' इस सामाजिक यथार्थ से लेखक अपनी आँखें नहीं मूँद सका। उसने यह भी महसूस किया कि यह पराधीनता शारीरिक ही नहीं मानसिक भी है। सेवासदन का एक पात्र कहता है - 'अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी के गुण दोष प्रकट न करे तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते है। आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है। आप उपनिषद् को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मनी में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृश्ना कहकर अपनी स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं। आपने इसी मानसिक दासत्व के कारण उस क्षेत्र में अपनी पराजय स्वीकार कर ली, जहाँ हम अपने पुरुषों की प्रतिभा और प्रचण्डता से चिर काल तक अपनी विजय पताका फहरा सकते थे।'

अंग्रेजी भाषा की गुलामी के प्रेमचन्द सशक्त विरोधी हैं। उन्हें यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक भारतवासी अंग्रेजों के देवता समाज में जाकर हिन्दी बोलने का साहस नहीं करता, किन्तु काले हिन्दुस्तानियों के बीच अंग्रेजी बोलना उसके लिए गौरव का विषय बन जाता है। **सेवासदन** में कुंवर साहब कहते हैं- मेरी समझ में नहीं आता कि अंग्रेजी भाषा बोलने और लिखने में लोग क्यों अपना गौरव समझते

हैं। मैंने भी अंग्रेजी पढ़ी है - पर मुझे उससे ऐसी घृणा होती है जैसे किसी अंग्रेज के उतारे कपड़े पहनने से।'

आगे चलकर अंग्रेजी का दासत्व स्वीकार करने वाले स्वार्थान्धों को सदन के मन में उमड़ने वाली क्रान्ति की यह लताड़ भी सुनाई गई है - 'यह सब स्वार्थ सेवी हैं, इन्होंने केवल दीनों का गला दबाने के लिए अंग्रेजी पढ़ी है। यह सबके सब फैशन के गुलाम हैं, जिनकी शिक्षा ने उन्हें अंग्रेजी का मुँह चिढ़ाना सिखा दिया है, जिनमें दया नहीं, निज भाषा प्रेम नहीं, चरित्र नहीं, आत्म बल नहीं, वे भी कुछ आदमी हैं?'

यह मानसिक गुलामी यूरोपीय प्रभुत्व का परिणाम है। यह 'उसी समय तक है जब तक संसार में निर्बल-असमर्थ जातियाँ वर्तमान हैं। उनके गले सस्ता माल मढ़कर यूरोप वाले चैन करते हैं। पर ज्यों ही वे जातियाँ चौंकेंगी यूरोप की प्रभुता नष्ट हो जाएगी।' (सेवासदन)

इस यूरोपीय प्रभुत्व का प्रभाव यह हुआ कि बौद्धिक कार्य करना, कुरसी पर बैठना, कृत्रिम ठाठ-बाट का प्रदर्शन करना गौरव का विषय बन गया तथा समाज में हीन-ग्रंथि एवं स्वयं को दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ समझने के भाव पनपने लगे। प्रेमचन्द ने इस खोखली प्रतिष्ठा के भाव को पहचाना और शहरों में ही नहीं देहातों में भी इसके दर्शन किए। **सेवासदन** के उमानाथ सुमन के लिए वर की तलाश में ज्यों ही किसी गाँव में पहुँचते, वहाँ हलचल मच जाती। युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते जिन्हें वह बरातों में पहना करते थे। अंगूठियों और मोहनमाल मँगनी माँग कर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला धुलाकर आँखों में काजल लगा देतीं और धुले हुए कपड़े पहनाकर खेलने को भेजतीं। विवाह के इच्छुक बूढ़े, नाइयों से मूँछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते। गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिए जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छटवाता।जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलतीं, कोई अपने हाथ से पानी न भरती, कोई खेत में न जाता।'

स्पष्ट है कि देहातों के सीधे-साधे लोगों में यह प्रवृत्ति सामंतवादी समाज से आयी है और सामन्तवादी समाज ने इसे अंग्रेजों के प्रभाव से स्वीकार किया है। इस प्रवृत्ति का मूल आधार शारीरिक परिश्रम से विलग रहना है। देहात में पैदा होने पर भी

देहात में फैली हुई इस बीमारी पर प्रेमचन्द ने परदा नहीं डाला है। प्रेमचन्द की यह यथार्थ दृष्टि किसी भी समझदार व्यक्ति को सहज ही झकझोर देती है।

सेवासदन के रचनाकाल तक म्यूनिसिपैलिटी को जनतांत्रिक प्रणाली की एकमात्र आवाज समझा जाता था। किन्तु ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में किसी भी संस्था का जनतांत्रिक आधार पर संगठित होना कब सम्भव था? जिस संस्था के चैयरमैन का उत्तरदायित्व-जनता द्वारा चुने जाने पर भी-जनता के प्रति न होकर सरकार के प्रति हो, वह संस्था क्या कर सकती है? यह सोचने की बात है। जनता द्वारा निर्वाचित होने पर भी म्यूनिसिपैलिटी में उच्च वर्ग के सदस्यों का ही आधिपत्य था। इन सदस्यों के हृदय में जनता के लिए कितना दर्द था, यह प्रेमचन्द से छुपा नहीं था। वह सेठ बलभद्रदास हों या हाजी हाशिम, सेठ चम्मनलाल हों या मुंशी अबुल वफा, ये सब राष्ट्र सेवी बनने का ढोंग करने वाले लोग हैं। ये अपने स्वार्थ के लिए किसी भी विषय को साम्प्रदायिक बना देने से भी नहीं चूकते। इन सदस्यों से म्यूनिसिपैलिटी के ही एक सदस्य रुस्तम भाई को कहना पड़ता है-'मुझे यह देखकर शोक हो रहा है कि आप लोग एक सामाजिक प्रश्न को हिन्दू मुसलमानों के विवाद का स्वरूप दे रहे हैं। सूद के प्रश्न को भी यही रंग देने की चेष्टा की गई थी। ऐसे राष्ट्रीय विषयों को विवाद-ग्रस्त बनाने से कुछ हिन्दू साहूकारों का भला हो जाता है किन्तु इससे राष्ट्रीयता को जो चोट लगती है उसका अनुमान करना कठिन है।'

प्रेमचन्द, स्वामी दयानन्द की शिक्षा से बहुत अधिक प्रभावित थे। परताबगढ़ ही से उन पर यह प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था और 1913 तक तो वे बाकायदा आर्य समाज के सदस्य बन गये थे। स्वामी जी के **सत्यार्थ प्रकाश** को उन्होंने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकाश पुंज समझ लिया था। उनका **प्रेमा** उपन्यास इसका स्पष्ट प्रमाण है जिसका नायक अमृतराय न होकर स्वयं प्रेमचंद हैं।

सेवासदन में भी स्वामी दयानन्द की शिक्षा को गाँठ में बाँध लिया गया है। **सत्यार्थ प्रकाश** में दयानन्द ने लिखा है-'चाहे लड़का-लड़की मरण पर्यन्त कुमार रहे परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।' प्रेमचन्द ने सुमन के जीवन की कुण्ठाओं की चर्चा करके अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का संकेत करते हुए स्वामी जी के ही कथन की पुष्टि की है। फिर माँ बाप के रूठ जाने की चिन्ता किये बिना सदन जब स्वतंत्र रूप से शान्ता से

विवाह कर लेता है, तो उसके सुखी दाम्पत्य जीवन का संकेत करते हुए सदृश स्वभाव वालों के विवाह की सफलता का प्रेमचन्द ने प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया है और **सत्यार्थ प्रकाश** की इस मान्यता पर हस्ताक्षर भी कर दिये हैं कि 'लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान बहुत उत्तम होती है।'

प्रेमचन्द का **सेवासदन** जार्ज इलियट के उपन्यास **ऐडम बीड** का स्मरण दिलाता है। **ऐडम बीड** की नायिका हेटी सोरेल **सेवासदन** की सुमन की भांति रूपवती और चंचल है। वह भी एक खाते-पीते घराने में पलती है। सुमन और सोरेल दोनों को अपने रूपवती होने का अहसास है। सौन्दर्य का प्रदर्शन करने की भावना भी दोनों में पाई जाती है। गाँव के सबसे बड़े जमींदार का बेटा आर्थर डानी थार्न, सोरेल के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करता है और विवाह से पूर्व ही सोरेल गर्भवती हो जाती है। सोरेल की इस भूल से उसके घर वाले, (मिस्टर तथा मिसेज प्वाइजर) जिनका उस इलाके में बड़ा सम्मान था, मुँह दिखाने के योग्य भी नहीं रह जाते। आर्थर को जब इसकी सूचना मिलती है तो वह ग्लानि से गड़ जाता है और सोरेल के घर वालों के सुख और शान्ति का हर संभव उपाय करता है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की नायिकाओं को किसी रूप में भी चित्रित करें, पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध बने-यह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इसलिए प्रेमचन्द ने कथा को अपने ढंग से दिशा दी है। महन्त रामदास जैसे जमींदार के इलाके में सुमन जैसी रूपवती और चंचल लड़की के साथ विवाह से पूर्व किसी प्रणय-सम्बन्ध का संकेत नहीं मिलता। विवाहोपरान्त जो सुमन दरवाजे की चिक पर खड़ी होकर राहगीरों को अपने सौन्दर्य से आकृष्ट करती दिखाई जाये, वह विवाह से पूर्व प्रकृतया चंचल होते हुए भी, घर की चार दीवारियों में सीमित रहे, यह किस प्रकार संभव हो सकता है? किंतु **सेवासदन** की सुमन के साथ ऐसा ही हुआ है। वह दालमण्डी आबाद करने के बाद भी किसी पुरुष के साथ शारीरिक **सम्बन्ध नहीं रखती। इसलिए जहाँ सोरेल के चरित्र में सहजता से संग्रथित यथार्थता हैं, वहाँ सुमन में विसामान्यता है। फिर भी सुमन के वेश्या बन जाने का प्रभाव सुमन के परिवार पर वैसा ही पड़ा है जैसा सोरेल के गर्भवती होने, तथा संतान**

उत्पन्न होने पर उसका गला घोंट देने और जेल जाने से उसके परिवार पर। जार्ज इलियट और प्रेमचन्द, दोनों यह दिखाना चाहते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने वाले का विनाश होना वांछनीय है। सोरेल को काले पानी की सजा भुगतनी पड़ी और सुमन स्वतंत्र रहते हुए भी मानसिक स्तर पर काले पानी की सजा काटने के लिए छोड़ दी गई। प्रकृति की ओर से दण्ड केवल सुमन को ही नहीं मिला। सुमन से सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में दण्डित होना पड़ा। गजाधर, गंगाजली, पदमसिंह, कृष्णचन्द्र, सदन, शान्ता सभी की मन:स्थिति इस दण्ड का संकेत करती है। ठीक वैसे ही, जैसे **ऐडेम बीड** में, मिस्टर तथा मिसेज प्वाइजर, आर्थर और ऐडेम बीड की मन: स्थिति। लेखक की दृष्टि में किसी एक व्यक्ति के कुकर्म से उससे सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति की शान्ति का भंग हो जाना लाजमी है। इस सिद्धान्त की प्रेरणा प्रेमचन्द को जार्ज इलियट के ही उपन्यासों से मिली।

सुमन के पिता कृष्णचन्द्र एक कस्बे में दारोगा है। लेखक ने कस्बे का नामोल्लेख नहीं किया है। कस्बे का रूप-चित्र भी उभरकर सामने नहीं आया है। इलाके के आसामियों से हल पीछे पाँच रुपया चंदा उगाहने की चर्चा करके लेखक ने इतना संकेत अवश्य किया है कि यह खेतिहर किसानों का कस्बा है। किन्तु कस्बे के खेतों खलिहानों की चर्चा करने में लेखक की कोई रुचि नहीं दिखाई पड़ती। कृष्णचन्द्र जिन परिस्थितियों में रिश्वत लेने का निश्चय करते हैं, वह परिस्थितियाँ समाज पर सीधी चोट करती हैं। लूट के माल से उन्होंने यदि अपना घर भर लिया होता, तो लोग उनसे सम्बन्ध करना अपना सौभाग्य समझते। इसलिए कृष्णचन्द्र ने जब तीन हजार रूपये की रकम घर में रख ली, तो सुमन की बात एक धनी और ऊँचे कुल में पक्की हो गई। वर भी सुन्दर, सुशील और सुशिक्षित था। धनी और ऊँचे कुल पर यहाँ बड़ा ही तीखा व्यंग्य किया गया है। कुलवान होकर दहेज की बड़ी रकम के लिए मुँह फैलाना कहाँ की मनुष्यता है? किन्तु बात इतनी ही नहीं है। इसके साथ और भी बहुत से प्रश्न जुड़े हुए हैं।

कृष्णचन्द एक खाते-पीते मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। सुमन के रिश्ते के लिए यदि वे अपने ही जैसा घर तलाश करते, तो क्या उस स्थिति में भी उन्हें वैसी ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ता? धनी और कुलवान वर न मिलने का क्या यही अर्थ है कि सुमन को किसी कंगाल के सिर मढ़ दिया जाय अथवा दोहाज़ के

साथ उसे नाथ दिया जाय? सुमन को ऐसी शिक्षा क्यों नहीं दी गई कि वह परिस्थितियों के साथ समझौता कर सके? क्या अच्छे कुल की स्त्रियाँ किसी निर्धन तथा चिड़चिड़े व्यक्ति के साथ सम्बन्ध हो जाने पर वही करती हैं जो सुमन ने किया? इन सारे प्रश्नों का उत्तर एक है और वह उत्तर यह है कि प्रेमचन्द ने अपने विवेक से कथा के तानों-बानों को जिस रूप में बुन लिया, उपन्यास का घटना-क्रम उसी के अनुरूप आगे बढ़ता रहा। पच्चीस वर्षों की नौकरी में जिस व्यक्ति ने कभी बेईमानी नहीं की, किसी का गला नहीं दबाया वह समाज से प्रतिशोध लेने की भावना में अपने स्वार्थ का योग करके कुकर्मों की सरिता में छलाँग लगा बैठा और उसकी सती-साध्वी पत्नी उसे मौन प्रोत्साहन देने में पीछे नहीं रही। महन्त रामदास के लिए तीन हजार रुपये बड़ी चीज नहीं थे। इसलिए कृष्णचन्द्र ने महन्त का गला दबाकर यह रकम नहीं प्राप्त की। यह रकम सत्य पर मर-मिटने वाले चेतू को दफन करने के लिए प्राप्त की गई। इस प्रकार चेतू की हत्या में कृष्णचन्द्र भी शरीक हो गये। वैसे तो चेतू उस इलाके का एक अहीर था। किन्तु यह तो उसका बाह्य और भौतिक रूप था। असलियत यह थी कि चेतू सत्य और साहस का एक सशक्त प्रतीक था। कृष्णचन्द्र ने इस प्रतीक को मिटा देने का प्रयत्न किया, इसलिए बात फैल गई और वह स्वयं मिट गये। जेल चले जाने को उन्होंने अपने इस कुकर्म का प्रायश्चित समझा। किन्तु न्याय की तराजू पर यह प्रायश्चित बहुत हल्का था, इसलिए सुमन, गंगाजली और शांता-सभी को इसका प्रायश्चित अदा करना पड़ा। पति-पत्नी दोनों ही इस मामले में शरीक थे। फलस्वरूप कृष्णचन्द्र और गंगाजली को सुलाकर ही चेतू ने दम लिया। यही कारण है कि अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद कथानक की उठान एक गंभीर प्रभाव रखती है। यह प्रभाव सर्वांगीण है जो कथानक के विकास के साथ पाठक की धमनियों में प्रवेश करता हुआ उसके पूरे अस्तित्व पर छा जाता है और उससे उपन्यास की सफलता पर हस्ताक्षर करा लेता है।

सुमन के माता-पिता कितने ही उदार, सज्जन और धर्मात्मा क्यों न हों, उनकी प्रकृति में कुछ ऐसे कीटाणु भी हैं जो उन्हें अपनी आत्मा का बलिदान करने के लिए प्रेरित करते हैं। सुमन के व्यक्तित्व में भी उन कीटाणुओं ने प्रवेश किया है। सुमन के माता पिता ने उसे स्त्री-धर्म और आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन की शिक्षा कभी नहीं दी। इसलिए सुमन के व्यक्तित्व के विकास में इनके लिए कोई स्थान नहीं

बन सका। लेखक ने अपने विवेक से सुमन के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण की असंगतियों में प्रत्यावलोकन-विश्लेषण के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को पकड़ने का प्रयत्न किया और पाठक को कथानक के मूल में संग्रंथित अमूर्त्त-नैतिकता को मूर्त्त करने की प्रेरणा दी।

सेवासदन एक प्रतीकात्मक उपन्यास नहीं है जो अपने व्यक्त अर्थों से परे, गूढ़ संदर्भों का सुझाव देता हो। यह एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कृति भी नहीं है जिसकी परीक्षा के लिए एडलर, युंग, फ्रायड आदि के पैमानों का प्रयोग किया जाय। **सेवासदन** का मूल्य इसके सर्वांगीण प्रभाव में निहित है जिसका एक युगीन ऐतिहासिक आधार भी है। इसकी ऐतिहासिकता इसमें विद्यमान सामाजिक जीवन-मूल्यों के साथ करवट लेती है और राजनीतिक चेतना को इसके साथ सहज रूप से गुंफित करके उपन्यास की प्रामाणिकता पर मुहर लगाती है।

सेवासदन एक स्थायी महत्व की कला-कृति है। यह एक सामयिक-उपन्यास नहीं है, जिसकी उपादेयता अपने समय और अपने युग के साथ समाप्त हो जाय। इसकी नैतिकता द्विवेदी युगीन नैतिकता से भिन्न है। इसका अध्ययन हम केवल अतीत को प्रभासित करने की दृष्टि से नहीं करते। इसमें वर्तमान के प्रकाशन की अपूर्व क्षमता है। आज के संदर्भों में इसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। पाठक के लिए इसे एक 'मुर्दा-दस्तावेज' कहकर टाल जाना संभव नहीं है। जीवन मूल्यों में आज तेजी से विघटन हो रहा है और एक नये ढंग का समाज सिर उभारने के लिए प्रयत्नशील है। ऐसी स्थिति में **सेवासदन** यदि आज हमारी कल्पना को कैद करले और हमारी सहानुभूति को अपने साथ जोड़ ले, तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें निश्चित रूप से हमारे लिए कुछ प्रामाणिक-मूल्य विद्यमान हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते, तो इसका अर्थ यह है कि या तो सेवासदन के साथ हमारी सहानुभूति एक ढोंग है या हम जीवन-मूल्यों की दृष्टि से सेवासदन के युग में जी रहे हैं।

प्रेमचन्द ने सेवासदन में यह माँग नहीं की है कि हमारी आत्मगत अन्तर्ग्रस्तता हमारे वस्तुगत निर्णय को पक्षपातमय बना दे। प्रामाणिक वस्तुगत निर्णय उसी स्थिति में संभव है कि जब हम यथार्थ अनुभव के साथ बहुत निकट से जुड़े हों। यह एक महत्वपूर्ण मानसिक अवस्था है। यह अवस्था आलोचनात्मक विचक्षणता की

अपेक्षा रखती है। उपन्यास में हम जो कुछ देखते और पाते हैं, हमारा निर्णय उसी से संबद्ध होता है। फलस्वरूप इस निर्णय में आलोचनात्मक विचक्षणता का अपूर्व योग होता है। सेवासदन में हमारी रुचि को बनाये रखने में संवेदनात्मक-आह्लाद का उतना योग नहीं है जितना उसके नैतिक पहलू का है और प्रेमचन्द का यह उपन्यास काल्पनिक जगत् की वस्तु नहीं है अपितु यथार्थ जगत् की कृति है इसलिए निष्प्राण जीवन के प्रति इसकी कोई रागात्मकता नहीं है। इसकी नैतिकता ऊपर-ऊपर झलकने वाली उपदेश परक नैतिकता नहीं है। यह अनूभूतियों के साथ अनुबंधित होकर भीतर-भीतर भावनाओं में घुलती चली जाती है।

सेवासदन एक 'युगन्तरकारी', 'यथार्थ' और आधुनिक कृति है। सामाजिक कुचक्रों में पड़कर, जीवन की असंगतियों की सलीब उठाए हुए इसकी नायिका 'सुमन' नारी के अस्तित्व को टूटते और बिखरते देखती है। उपन्यासकार ने इस अस्तित्व को सेवासदन के विशाल कैनवस पर अन्त तक अतीत और वर्तमान में घुली-मिली साँसों को सुनने के लिए छोड़ दिया है। 'सुमन' को अपने युग में भले ही अपेक्षित सहानुभूति न मिल सकी हो, पर आज पाठक की सहानुभूति सुमन के साथ है। उपन्यास के प्रमुख पात्र उसे अन्त तक सुमन बाई कहते हैं किन्तु पाठक के लिए वह केवल सुमन है। उसे सुमन बाई कहने वाले अपने व्यक्तित्व के खोखलेपन का परिचय देते हैं। ये वह लोग हैं जिन्हें उसके सामने आते हुए हुए भी लज्जा आती है। वह जीवित रहकर भी संसार की ओर से मर चुकी है और सेवा और त्याग के उच्च आदर्शों को सीने से लगाये हुए है। उसकी यह तपस्या समाज की एक खुली हुई पराजय है और उसका सेवासदन एक बड़ा सा प्रश्न चिन्ह है जिसका समाज के पास आज भी कोई उत्तर नहीं है।

10. प्रेमाश्रम

डा. रामविलास शर्मा

ऊपर से देखने में प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' से बिल्कुल दूसरी तरह का उपन्यास लगेगा, लेकिन वास्तव में दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में नारी-समस्या की छानबीन हल्के-फुल्के सतही ढंग से न की थी। उन्होंने दिखलाया कि वेश्यावृत्ति को पैदा करनेवाले और पालने-पोसनेवाले स्वार्थ समाज में मौजूद थे। इन स्वार्थों के निर्मूल हुए बिना किसी तरह का समाज-सुधार संभव नहीं था। महंत रामदास और बूढ़े किसान चेतू की घटना से उन्होंने दिखला दिया था कि ये स्वार्थ किस तत्परता और क्रूरता से अपनी रक्षा करते हैं। धर्म और कानून-सभी उनकी मदद के लिए आ जाते हैं। महंत रामदास ही दारोगा को घूस देते हैं। घूस देनेवाला हत्यारा तो बन जाता है, कृष्णचन्द्र और उनका परिवार तबाह हो जाते हैं।

प्रेमचंद उन उपन्यासकारों में थे जो पेड़ का पत्ता देखकर संतोष न करते थे, बल्कि उसकी जड़ें खोदकर देखते थे, चाहे वह पाताल तक ही क्यों न गई हों। यही सबब है कि नारी-समस्या और वेश्यावृत्ति की छानबीन करते हुए उन्होंने धर्म, कानून और संपत्ति के संबंधों पर भी अच्छी तरह प्रकाश डाला था। सामाजिक अन्याय के विष-वृक्ष की जड़ों को उन्होंने प्रेमाश्रम' में पूरी तरह उघाड़ दिया, शब्द-जाल और छल-कपट की मिट्टी हटाकर दिखला दिया कि अन्याय और अत्याचार के फल किन डालों में लगते हैं और कहाँ से उन्हें खाद-पानी मिलता है।

'सेवासदन' में कुँवर अनिरुद्धसिंह ने वेश्यावृत्ति पर जो विचार प्रकट किए हैं, उन पर ध्यान देने से यह संदेह नहीं रह जाता कि वे विचार प्रेमचंद के ही हैं। उनसे प्रेमचंद के व्यापक सामाजिक अनुभव और उनकी सूक्ष्म तर्क-बुद्धि का पता चलता है। कुँवर अनिरुद्धसिंह कहते हैं-

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं। यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन 'जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते है, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं है कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें। सबसे नीच हम हैं, सबसे बडे पापी, दुराचारी, अन्यायी

हम हैं, जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और उच्च समझते हैं। हमारे शिक्षित भाइयों ही की बदौलत दालमंडी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों में रौनक है। यह मीनाबाजार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फँसाई है। ये कठपुतलियाँ हमने ही बनाई है। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बंधु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है। जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी-पहले नहीं।''

अनिरुद्धसिंह जोर देकर कहते हैं-पहले नहीं। वह उन लोगों को चेतावनी देते हैं जो नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत किए बिना ही आत्मसुधार से समाज को बदल डालना चाहते हैं। समाज-सुधार का एक ही रास्ता है-सामाजिक संबंधों को बदलना। आत्म-सुधार से सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न का अंत नहीं हो सकता। प्रेमाश्रम' में उन्हीं अत्याचारी जमींदारों, रिश्वती राजकर्मचारियों, अन्यायी महाजनों और स्वार्थी बंधुओं की कहानी लिखी गई है जिनको प्रेमचंद 'सेवासदन' में ही वेश्यावृत्ति का जनक और पोषक बतला चुके थे।

प्रेमाश्रम' पहले महायुद्ध के बाद के दौर का उपन्यास है। यूरोप की बड़ी-बड़ी ताकतों ने युद्ध के जरिए अपना संकट हल करने की कोशिश की; लेकिन युद्ध से संकट हल नहीं हुआ। गुलाम देशों की हालत और बुरी हो गई। वहाँ की जनता को और भी दबाकर रखने के लिए पश्चिमी ताकतों ने जोर-जुल्म बढ़ाया। आजादी चाहनेवाली जनता को रौलट कानून और जलियाँवाला बाग मिला। लेकिन दूसरों को गुलाम बनानेवाले अब पहले-जैसे ताकतवर न थे। वे अब दुनिया को मनमाने ढंग से बाँट-चूँटकर लूट न सकते थे। उन्हें खासतौर से डर पैदा हो गया था, सोवियत रूस से। उस देश में मजदूरों और किसानों ने जमींदारों और पूँजीपतियों का राज खत्म कर दिया है - यह खबर दुनिया के सभी देशों में फैल गई थी। इसे हिंदुस्तान की जनता ने भी सुना था, पढ़े-लिखे लोगों ने ही नहीं गाँवों के किसानों ने भी। हिंदुस्तान के लोग अंग्रेजों की गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए और भी कोशिश करने लगे।

प्रेमचंद साहित्यकार की तटस्थता के हामी न थे। वह यह उपदेश देते थे कि अगर जन-साधारण के आंदोलन और संघर्षों को लेकर साहित्य न रचा जाएगा, तो

वह अमर न होगा। उनका सिद्धांत था-साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह जनता की सेवा करने के लिए साहित्य रचे। हिंदुस्तान की बहुसंख्यक जनता किसानी करती है। इस जनता को छोड़कर औरों के बारे में लिखने से उपन्यासकार अपने देश और युग का प्रतिनिधि कैसे होता? इसलिए उन्होंने किसानों के बारे में लिखा।

सन् 20 और 30 के आंदोलनों में किसानों के जमींदार-विरोधी संघर्ष को बराबर दबाकर रखने या उसे एकाध जगह सीमित करने की बराबर कोशिश की गई थी। इन आंदोलनों की असफलता का बहुत बड़ा कारण यह भी था कि देश की बहुसंख्यक किसान जनता को अपनी माँगों के लिए लड़ने से रोका गया था। प्रेमचंद के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन तभी सफल हो सकता था जब वह करोड़ों किसानों की अपनी माँगों का आंदोलन बन जाए। वह जानते थे कि किसानों के आंदोलन से स्वाधीनता का आंदोलन कमजोर न पड़ेगा, बल्कि उसे विजय की मंजिल तक ले जाएगा। हिंदुस्तान की सामंती ताकतें विदेशी प्रभुत्व का आधार थीं; इसलिए प्रेमचंद के लिए आजादी का मतलब था, इस आधार को खत्म करना।

जमींदार अंग्रेजों का दलाल हैं-प्रेमचंद ने इस बात को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में राय कमलानंद से कहलाया है। रायसाहब ज्ञानशंकर से कहते हैं-

"यह जायदाद नहीं है, इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है। मैंने इसे बाहुबल से नहीं लिया। नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की बड़ी कृपादृष्टि रही। इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राजद्रोह के समय पिता जी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की। शक्ति स्थापित होने पर हमें वहीं पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हक़ीक़त है।"

प्रेमचंद ने यहाँ बड़ी खूबी से दिखला दिया है कि अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई से जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष का क्या संबंध था। प्रेमचंद ने दिखलाया कि जमीन के वास्तविक स्वामी किसान हैं जबकि उसके मालिक बन बैठे हैं अंग्रेज और उनके

दलाल। इसीलिए अंग्रेजों के बनाए हुए कानून-उनकी कायम की हुई कचहरियाँ और शांति और व्यवस्था की रखवाली पुलिस-किसानों को दबाने में सबसे आगे रहते थे।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद और जमींदारों-जागीरदारों के आपसी संबंध समझे बिना 'प्रेमाश्रम' की रचना न हो सकती थी। प्रेमचंद में यह समझ उनके अध्ययन और मनन से पैदा हुई थी। इस समझ के बिना वह ज्ञानशंकर और गायत्री, ज्वालासिंह और गौसखाँ, मनोहर और कादिर - इन तरह-तरह के पात्रों को एक जगह न तो इकट्ठा कर पाते, न उनके जीवन-सूत्रों को एक दूसरे से जोड़ पाते। हिंदी में किसानों की समस्याओं पर ज्यादा उपन्यास लिखे ही नहीं गए, जो लिखे भी गए हैं, उनमें प्रेमचंद की सूझबूझ का अभाव है। इसलिए आज तीस साल बाद भी 'प्रेमाश्रम' हिंदी में अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास-रचना के साधारण नियम तोड़कर रचा गया है। कौन है इसका नायक, कौन है इसकी नायिका? जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उसके कथानक की शिथिलता दिखलाकर प्रेमचंद को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचंद को विश्व-साहित्यक़ार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचंद ने एक वाक्य में उत्तर दे दिया था-"आजाद-रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं।" ('हंस', मई 1937)

बड़े कलाकार अपने कायदे-कानून खुद बनाते हैं। प्रेमचंद भी कायदे पढ़कर उपन्यास लिखने न बैठे थे। 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की जिंदगी की तस्वीर अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उपपत्ति की चर्चा करनेवाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।

प्रेमचंद ने बेगार करनेवाले, हल जोतनेवाले, प्लेग और सरकार का मुकाबला करनेवाले किसानों को नायक बना दिया। मनोहर, बलराज, कादिर, दुखरन आदि इस उपन्यास के हीरो हैं। ये नई तरह के नायक हैं -गुण और अवगुण, दोनों से विभूषित। इनकी कहानी का आरंभ किसी रमणी से आँख लड़ जाने से नहीं होता और न उस कहानी का अंत नायक-नायिका के विवाह से होता है। लखनपुर का

गाँव-संक्षेप में इस उपन्यास का नायक है; ज्ञानशंकर, गौसखाँ, कचहरी-कानून और पुलिस की जमात खलनायक है।

हिंदी में इस तरह का उपन्यास किसी ने पहले लिखा न था। एक तो किसानों पर लिखना ही रसराज का अपमान करना था। उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था। प्रेमचंद ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस धड़कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को अपना कथा-विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह देखने का हियाव ही बड़ो-बड़ों को न हुआ था। उन्होंने दिखलाया कि हिंदुस्तान की साधारण जनता में साहस, धीरता और मनोबल के कौन-से स्रोत छिपे पड़े हैं। प्रेमचंद ने अपना कथा-विषय चुना-सदियों से पिसते हुए दासों की चेतना को, जो अब जाग रही थी और उनके हृदय में इंसान की तरह जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही थी। प्रेमाश्रम' लिखना एक अद्‌भुत साहस का काम था। साहित्य का झंडा लिए हुए प्रेमचंद ऐसे मार्ग पर चल पड़े जिसे पहले किसी ने तै न किया था। उनकी प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उन्होंने जो साहस किया, वह दु:साहस साबित नहीं हुआ। प्रेमाश्रम' एक अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास के रूप में आज भी जीवित है।

'प्रेमाश्रम' किसान-जीवन का महाकाव्य है। उसमें उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आसपास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।

यहाँ हमें दरवाजे पर बैठा मनोहर बैलों के लिए कड़वी छाँटता दिखाई देता है। कसरत और लावनी का शौकीन बलराज अपनी लाठी में तेल लगा रहा है। डपटसिंह मनोहर से उन डिप्टी साहब की चर्चा करता है जिनके इजलास में इजाफा-लगान का मामला तै होना है लेकिन जो जमींदार ज्ञानशंकर के दोस्त हैं। मनोहर सोचता है, कोई कानून ऐसा बन जाता जिससे इस तरह के मुकदमे इन हाकिमों के यहाँ न जाते तो कितना अच्छा होता! कानून सबके लिए एक-सा है फिर वह हाकिमों से क्यों डरता है? मनोहर का कहना है-

'हाकिम लोग आप भी तो जमींदार होते हैं, इसलिए वह जमींदारों का पच्छ करते हैं।'' फिर वह उम्मीद करता है कि शायद लाट साहब की पंचायत में किसानों की फरियाद सुनी जाए: लेकिन डपटसिंह इस आशा पर पानी फेर देते हैं। कहते हैं-''यहाँ भी तो सब जमींदार ही होते हैं, काश्तकारों की फरियाद कौन सुनेगा?''

किसानों के भय का कारण यह है कि पुराने जमींदार जटाशंकर के जमाने से उसके बेटे ज्ञानशंकर के जमाने में जोर-जुल्म और भी बढ़ गया है। जटाशंकर को अपनी इज्जत का बड़ा ख्याल रहता था। लड़कियों का विवाह हो तो ठाटबाट से, उत्सव मनाए जाएँ तो धूमधाम से, घर से निकलें तो पालकी पर चढ़कर। लेकिन ज्ञानशंकर के लिए पैसा ही इज्जत है। वह एक नए जमाने का जमींदार है, जब महायुद्ध खत्म हो चुका था और सारे हिंदुस्तान में दमन और लूट-खसोट का दौरदौरा था। वह अपने बाप का श्राद्ध भी करता है तो सोच-समझकर कि पैसा ज्यादा खर्च न हो जाए। अपनी 'रियासत' का इंतजाम करने में वह चचा-ताऊ के रिश्ते भूल जाता है, उसके लिए पैसे का रिश्ता ही सबसे बड़ा रिश्ता है। वह अपने भतीजे को ही जेल भिजवाना चाहता है लेकिन जब वह बरी हो जाता है, तो उसके श्रेय में हिस्सा बटाने भी पहुँच जाता है। उसका भाई अमरीका पढ़ने गया था। जब वह लौटकर आता है जो उसे खुशी नहीं होती, उसे डर लगता है कि वह जायदाद में हिस्सा माँगेगा। उसका ससुर निःसंतान है, इसलिए वह उसकी जमींदारी पर भी दाँत लगाए हुए है। वह उसे जहर देकर मार डालने में भी आगा-पीछा नहीं करता, ससुर न मरा तो इसमें उसका दोष नहीं। उसके एक साली है, गायत्री, जिसकी अपनी जमींदारी है। ज्ञानशंकर साली और जमींदारी दोनों को हड़पने की काफी कोशिशें करता है।

ज्ञानशंकर अपने वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। वह जितना धूर्त है, उतना चतुर नहीं। इसलिए उसकी बहुत कम योजनाएँ सफल हो पाती हैं। वह जितना धन का लोभी है। उतना ही कामी भी। इसलिए उसकी कामुकता कभी-कभी उसका बना-बनाया खेल बिगाड़ देती है। वह अपना काम बनाने के लिए दुःसाहस कर सकता है; लेकिन वह दूसरों का चरित्र समझने में असमर्थ है। इसलिए उसे दूसरों से अपनी निंदा सुननी पड़ती है। वह कपटी, छली और दगाबाज है, लेकिन उसमें हिम्मत चोरों के बराबर भी नहीं है। उसकी कायरता पाठक की सहानुभूति दूर कर देती

है। वह जितना कायर है, उतना ही कठोर और निर्दयी भी है। वह लखनपुर के किसानों का मुख्य प्रतिद्वंद्वी है लेकिन उनके सामने वह अपने पैरों खड़ा नहीं होता। उसे कानून और पुलिस की बैसाखियों में खड़ा रखनेवाली ताकत अंग्रेजी राज की है।

प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य में ज्ञानशंकर तमाम खल पात्रों का सिरमौर है। उसके चित्रण में प्रेमचंद ने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है। कथानक को सुसंबद्ध रखने के लिए भी वह कथाकार की बड़ी सहायता करता है।

उसके विरुद्ध लखनपुर की जनता है जो उससे उतनी ही भिन्न है जितनी मौत से जिंदगी।

प्रेमचंद ने बलराज को हिंदुस्तान के किसान-नौजवानों का प्रतिनिधि बनाया है। वह कसरत-कुश्ती का शौकीन है, गाना-बजाना, दोस्तों में गपशप करना उसे पसंद है। दुनिया का अनुभव कम है; इसलिए उतावलापन उसमें ज्यादा है। वह एक नये आदर्श से प्रभावित है, जिसके अनुसार हर इंसान को इंसान की तरह रहने का हक मिलना चाहिए। वह किसी भी तरह का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह उस लोहे की तरह है जो आग में तपकर इस्पात बनने की क्षमता रखता है।

गौसखाँ ने जब बेदखली की धमकी दी तो मनोहर ने जवाब दिया -"बेदखली की धमकी दूसरों को दें, यहाँ हमारे खेतों के मेड़ पर कोई आया तो उसके बाल-बच्चे उसके नाम को रोएँगे।''

बलराज इसी मनोहर का बेटा है। उसने पढ़ना-लिखना भी सीखा है। अखबारों से बदलती हुई दुनिया का हाल भी वह जानता है।

डपटसिंह जब मजाक करता है-"बलराज से कहो, सरकार के दरबार में हम लोगों की ओर से फरियाद कर आए'', तब मज़ाक में किसानों की बेबसी का छिपा हुआ भाव देखकर बलराज उत्तर देता है-

"तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो, जानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस में काश्तकारों ही का राज है,

वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।

प्रेमचंद का हृदय संकुचित राष्ट्रवाद से ऊपर था। वह जानते थे कि इंसाफ और नई जिंदगी के लिए तमाम दुनिया की आम जनता जो लड़ाई लड़ रही है, हिंदुस्तान का स्वाधीनता-आंदोलन उसी का एक हिस्सा है। वह हिंदुस्तान के लोगों में एक नया भाव देख रहे थे कि दुनिया के तमाम मेहनत करने वाले लोग भाई-भाई हैं। बलराज में उन्होंने इसी नई चेतना की किरनें फूटती दिखाई हैं।

बलराज दुनिया के तमाम मेहनत करने वालों को अपना भाई समझता है इसलिए वह खुद हिंदुस्तान के गरीब किसानों और खेत-मजदूरों के लिए लड़ने-मरने के लिए तैयार रहता है।

मनोहर, बलराज और हलवाहा रंगी चमार खाना खाने बैठते हैं। तीनों की थालियों में जौ की मोटी रोटियाँ, अरहर की दाल और बथुए का साग है। बलराज की माँ ने एक कटोरा दूध उसके सामने रख दिया। औरों को दूध क्यों नहीं मिला? इसलिए कि बाकी दूध बेगार में चला गया था। बलराज इस पर बिगड़ उठता है। वह एक नया सिद्धांत पेश करता है-"जो हमसे अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए।'' उसे दूध-घी मिले और उसका हलवाहा सूखी रोटियों से ही संतोष करे-"ऐसा दूध-घी खाने पर लानत है। ''

गायंत्री पर घात लगानेवाले, भाई के घर आने से दुखी होनेवाले, किसानों पर क्रूर अत्याचार करनेवाले ज्ञानशंकर की चरित्र-कालिमा के मुकाबले में बलराज की यह मानवता घी के दीये जैसी प्रकाशमान दिखाई देती है।

किसानों में यह मानववादी चेतना जमींदारों और हाकिमों को भयभीत कर देती है। किसानों को आतंकित करने के लिए वे उन पर तरह-तरह से अत्याचार करते जाते हैं। डिप्टी का दौरा होता है तो चपरासी एक किसान के पेड़ की लकड़ियाँ उठा ले जाते हैं। वह ठंड में दिन कैसे काटेगा, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। बकरीद मनाने के लिए कादिर मियाँ ने जो बकरा पाला था, वह हाकिमों के पेट में पहुँच जाता है। प्रेमचंद इस बात का संकेत करते हैं कि इस जुल्म के शिकार

हिंदू-मुसलमान दोनों हैं। पंसारी की दुकान से माल लूटा जाता था, उसकी कमी वह किसानों से ब्याज में पूरी करता था। हाकिमों को रोगी, नीरोग, बूढ़े, बच्चे, किसी का लिहाज नहीं। एक बूढ़ी अपने बेटे के साथ गाड़ी में अस्पताल जा रही थी, उसे उतारकर गाड़ी में लकड़ियाँ लादते उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता।

एक बार हाकिम के आने पर गाँव के किसान इकट्ठे किए जाते हैं। बलराज किसी काम से गया है। आने में देर होती है। दो सिपाही उसे पकड़ लेते हैं और उसे बाँधना चाहते हैं, तभी मनोहर - "बाज की तरह टूटकर बलराज के पास पहुँचा और दोनों कांस्टेबलों को धक्का देकर बोला - छोड़ दो, नहीं तो अच्छा न होगा। इतना कहते-कहते उसकी जबान बंद हो गई और आँखों से आँसू निकल पड़े।''

कुछ आलोचक कहते हैं कि प्रेमचंद में मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है। मनोविज्ञान का अर्थ विकृत काम-विकार ही न हो तो यह भी बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है। बेटे की दुर्दशा देखकर बाप अपने को रोक नहीं पाता। तैश में आकर सिपाहियों को धक्का देता है; लेकिन दूसरे ही क्षण अपनी बेबसी समझकर रोने लगता है।

ज्ञानशंकर लखनपुर के आसामियों पर इजाफा लगान का दावा करता है। परिस्थितियाँ किसानों की चेतना को और पैना करती हैं और वे अपना एका और मजबूत करते हैं और जमींदार का मुकाबला करने की ठानते हैं। गाँव में ताऊन फैल जाता है; लेकिन हाकिमों-जमींदारों की तरफ से कोई रियायत नहीं होती। उनकी जिंदगी कितनी कड़वी हो चुकी है, इसका अंदाज इस बात से लग सकता है कि जब ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर डपटसिंह के पास पहुँचते हैं, जिसका एक लड़का जाता रहा है और दूसरा जानेवाला है, तो वह कहता है-

"क्या जाफा वसूल करने आए हो? उसी से ले लीजिए जो वहाँ धरती पर पड़ा हुआ है। वह आपकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा। गौसखाँ से कह दीजिए, उसे पकड़ ले जाएँ, बाँधे, मारें, मैं न बोलूँगा। मेरा खेती-बारी से, घर-द्वार से इस्तीफा है।''

इस किसान के लिए जिंदगी जहर का घूँट बन गई है। सहन करने की सामर्थ्य खो चुका है। उसका सारा आवेग उसके व्यंग्य-वचनों में फूट पड़ता है जिससे

सुनने वाला तिलमिला उठे। प्रेमचंद का व्यंग्य उपन्यासों में पात्रों का रोष, क्षोभ और प्रतिहिंसा प्रकट करने का साधन है। जितना ही किसान हाथ उठाने में असमर्थ होकर मन में घुटता है, उतना ही उसका व्यंग्य आँच में तपकर पैना हो जाता है।

इन तमाम कठिनाइयों के बावजूद गाँववाले जीत गए। इनकी एकता के आगे सरकारी कचहरियों को झुकना पड़ा। लेकिन मुकदमा हारने पर भी जमींदार शक्तिशाली है। प्लेग की वजह से लोगों ने अपने झोंपड़े जमींदार के बाग में डाले थे। ज्ञानशंकर उनमें आग लगवा देता है। इसके बाद उसने ताल का पानी बंद कराने की कोशिश की। जिन चीजों पर किसानों का हजारों साल से पंचायती हक था, जमींदार उन्हें भी हड़पने की कोशिश कर रहा था। प्रेमचंद लिखते हैं -"लोगों को कभी स्वप्न में भी यह अनुमान न हुआ था कि जमींदार इतनी जबरदस्ती कर सकता है। उनका चिरकाल से इस पर अधिकार था। पर आज उन्हें ज्ञात हुआ है, इस पर हमारा स्वत्व नहीं है।"

कादिर हाथ-पैर जोड़कर किसानों को हमेशा मनाता रहता है कि वे झगड़ा न करें। जब तालाब को लेकर जमींदार के आदमी फसाद करना शुरू करते हैं, तब सुलह की राह न देखकर वह खिसक जाना चाहता है। लेकिन सुक्खू चौधरी उसका हाथ पकड़कर रोक लेता है और कहता है कि निपटारा होने तक रुकना पड़ेगा। तब क्या झगड़ा मोल लिया जाए? गाँव के किसानों की एकता किस तरह मजबूत हो रही है, यह कादिर और सुक्खू की संक्षिप्त बातचीत से मालूम हो जाता है:

"कादिर खाँ-तो क्या कहते हो, लाठी चलाऊँ?
सुक्खू-और लाठी है किस दिन के लिए?

कादिर-किसके बूते पर लाठी चलेगी? गाँव में रह कौन गया? अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया।

सुक्खू-पट्ठे नहीं है, न सही, बूढ़े तो हैं। हम लोगों की जिंदगानी किस रोज काम आएगी?"

परिस्थितियों की मार खाते-खाते किसान अब प्रतिरोध के लिए तैयार हो उठे थे। सुक्खू चौधरी उन लोगों में थे जो किसी हालत में जमींदार का विरोध न करना

चाहते थे। लेकिन मजबूर होकर उन्हें भी मनोहर और बलराज की तरह बातें करनी पड़ीं।

जमींदार पर फिर दावा हुआ और किसान फिर जीते। सत्यनारायण की कथा हुई, ब्राह्मणों का भोज हुआ। गौस खाँ ने दारोगा से मिलकर सुक्खू के यहाँ कोकीन बरामद करा दी और उन्हें दो साल की कैद की सजा सुना दी गई।

गाँव में एक पुलिस-अफसर आता है। लोगों से बेगार कराई जाती है। कादिर खाँ बलराज को याद करते हैं, उसके अखबार में लिखी बातों को याद करते हैं-

'देखते तो हो, बलराज के अखबार में कैसी-कैसी बातें लिखी रहती हैं। यह सब अपनी तकदीर की खूबी है।'' -और रोने लगते हैं।

प्रेमचंद ने कादिर जैसे किसानों के पुरानपंथी विचारों की दीवार को जर्जर होकर ढहता हुआ दिखाया है। वह अन्याय का विरोध नहीं करना चाहते; हर चीज अल्लाह और किस्मत के नाम पर सह लेना चाहते हैं; लेकिन बलराज की कही हुई बातों ने एक नया भाव पैदा कर दिया है। एक देश है जहाँ किसान घास छीलने के लिए मजबूर नहीं किए जाते। यह भाव उन्हें अपनी 'तकदीर' पर आँसू बहाने के लिए विवश करता है।

दुखरन साफ की हुई जमीन लीपने से इन्कार करता है। उसे बुरी तरह जूतों से पीटा जाता है। कादिर खाँ अपना सिर आगे कर देते हैं कि पहले इसे पीट लो। धक्का देकर उन्हें गिरा दिया जाता है। तभी प्रेमशंकर आते हैं और वे प्रेम से सब मसले तय करने के पक्षपाती हैं। वह लोगों से काम करने को कहते हैं। दुखरन ने घर आकर शालिगराम की बटिया एक तरफ फेंक दी। ईश्वर से उसका विश्वास उठ गया था। तहसीलदार प्रेमशंकर से कहता है-"हम लोग एक तौर पर आपके मददगार हैं, रिआया को सताकर, पीसकर मजबूत बनाते हैं और आप जैसे कौमी हमदर्दों के लिए मैदान साफ करते हैं।'' प्रेमशंकर के पास इस नीचता का कोई उत्तर नहीं है। प्रेमचंद ने दृढ़ता से सत्य को चित्रित करते हुए सिद्ध किया है कि किसानों को जिनसे निपटना पड़ता है, वे हृदयहीन राक्षस हैं।

गौस खाँ गाँव की चरावर पर रोक लगाता है। जिन मैदानों में किसानों के पुरखे सदा से अपने जानवर चराते आए थे, उन पर अन्याय से अब जमींदार अधिकार

करना चाहता है। बलराज की माँ वहाँ अपने जानवर लिए पहुँचती है। उसे सुनाया जाता है कि सरकारी हुक्म है कि अब कोई जानवर वहाँ न चरे।

जो काम सुमन न कर सकी थी, वह बलराज की माँ बिलासी करती है। वह गाँव की पंचायती जमीन के लिए लड़ती है। प्लेग, मुकदमा, आगजनी - इन सबसे निपटकर बिना आतंकित हुए वह कहती है-

"कैसा सरकारी हुकुम? सरकार की जमीन नहीं है।....हमारे मवेसी सदा से यहाँ चरते आए हैं और सदा यहीं चरेंगे। अच्छा सरकारी हुकुम है, आज कह दिया चरावर छोड़ दो, कल कहेंगे अपना-अपना घर छोड़ो, पेड़ तले जाकर रहो। ऐसा कोई अंधेर है?'' गौस खाँ के कहने से उसके जानवर घेर लिए जाते हैं और जमींदार के चाकर उन्हें मवेशीखाने ले चलते हैं। बिलासी रास्ता रोककर खड़ी हो जाती है।

फिर गौस खाँ से यह बातचीत होती है-

"गौसी खाँ-न हटे तो इसकी मरम्मत कर दो।

बिलासी-कहे देती हूँ इन जानवरों के पीछे लहू की नदी बह जाएगी। माथे गिर जायेंगे।

फैजू-हटती है या नहीं चुड़ैल?

बिलासी-तू, हट जा, दाढ़ीजार।''

फैजू के धक्के से गिरकर वह बेहोश हो जाती है, लेकिन जैसा उसने कहा था-माथे गिर गए। गौस खाँ को जान से हाथ धोना पड़ा। मनोहर औरत की इज्जत के लिए मर मिटा।

ज्ञानशंकर किसानों को इतना सताता है कि मनोहर अपने को धिक्कारने लगता है। गाँव के लोग उसके विरुद्ध हो जाते हैं, बलराज भी मनोहर का विरोध करने लगता है। ज्ञानशंकर पुलिस को मिलाकर बहुत से किसानों को हत्या के मामले में फँसा देता है। कादिर गाँव वालों की आलोचना का उत्तर देते हुए मनोहर के समर्थन में कहते हैं- "यारो! ऐसी बातें न करो. बेचारे ने तुम लोगों के लिए तुम्हारे हक

की रक्षा करने के लिए यह सबकुछ किया। उसके जीवट और हियाव की तारीफ तो नहीं करते और उसकी बुराई करते हो ! हम सब-के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।''

कादिर के ये शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचंद पाठक को याद दिलाते हैं कि मनोहर ने जो कुछ किया, वह अपनी स्त्री की इज्जत रखने के लिए ही नहीं, वह सभी के हक की लड़ाई थी, जिस हक को जमींदार छीनना चाहता था। प्रेमचंद ने बड़े कलात्मक ढंग से ये शब्द उस कादिर से कहलाए हैं जो हमेशा मनोहर और बलराज को रोका करता था, उन्हें ईश्वर का भरोसा करके अन्याय सहने का उपदेश दिया करता था। कादिर ने जिंदगी के स्कूल में नया सबक सीखा था-अन्याय का विरोध न करना कायरता है। इसीलिए वह कहता है-''हम सब-के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।''

लेकिन मनोहर को इससे संतोष न हुआ। वह अपने ही उन भाइयों से दुर्व्यवहार की आशा न करता था, जिनके लिए उसने क्या कुछ न सहा था। वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। धीर-वीर मनोहर मानसिक दृढ़ता की सीमा पार कर रहा था। हर व्यक्ति की सहनशीलता की सीमा होती है। उस सीमा तक पहुँचकर वह टूट जाता है।

प्रेमचंद के किसान देवता नहीं है; वे मनुष्य हैं। उनमें कमजोरियाँ हैं; वे उनसे लड़ हैं। कभी जीतते हैं, कभी हारते हैं। प्रेमचंद ने चरित्र का उत्थान-पतन दिखाने में, एक साहसी लेकिन अति व्यथित किसान का हृदय पढ़ने में, अपनी ज्वलंत प्रतिभा का परिचय दिया है और प्रेमचंद ही विधवा बिलासी में गर्व-भाव का उदय होना दिखा सकते थे कि विधवा हुई तो क्या, उसने अन्याय के सामने कभी सिर नहीं झुकाया।

वह कहती है-''मैं विधवा हो गई तो क्या, घर सत्यानास हुआ तो क्या, किसी के सामने आँख तो नीची नहीं हुई।''

लेकिन उसकी मुसीबतों का अंत नहीं हुआ। प्रेमचंद एक विशाल संघर्ष को निर्मम यथार्थवादी की तरह उसके तर्कसंगत परिणाम की तरफ बढ़ाकर ले चलते हैं। अमन और कानून की ताकतें अब भी बहुत मजबूत हैं। लखनपुर के किसान अकेले पड़

जाते हैं। किसी दूसरे गाँव में जूँ तक नहीं रेंगती, क्योंकि अभी उनका कोई संगठन नहीं है। शहर से उन्हें कोई मदद नहीं मिलती, क्योंकि मजदूर से उनका एका नहीं है। सन् 1920 में जब प्रेमचंद ने यह उपन्यास लिखा था, तब ऐतिहासिक परिस्थिति ऐसी ही थी। प्रेमशंकर की प्रेम से सब झगड़े निपटाने की नीति किसानों को एक तकलीफ से भी नहीं बचा सकी।

बलराज और कादिर को काला पानी हो गया। बिलासी पर बकाया लगान का दावा किया गया। उसके जानवर, जिन्हें चरावर में ले जाने के लिए वह लड़ी थी, कुर्क कर लिए गए। चपरासियों द्वारा खुद बिलासी बुरी तरह पीटी गई।

किसानों के पास मालगुजारी देने के लिए कुछ न था। उन पर ज्ञानशंकर किस तरह जुल्म करता है, इसका वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है-

"फैजुल्लाह ने सख्ती करनी शुरू की। किसी को चौपाल के सामने धूप में खड़ा करते, किसी को मुश्कें कसकर पिटवाते। दीन नारियों के साथ और भी पाशविक व्यवहार किया जाता, किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जातीं, किसी के जूड़े नोचे जाते। इन अत्याचारों को रोकनेवाला अब कौन था? सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया।''

यथार्थवादी चित्रण का इससे अच्छा निर्वाह और क्या हो सकता था? 'सेवासदन' की तरह यह उपन्यास भी वास्तव में दुःखांत है। सत्याग्रह भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया। ऐसा मार्ग जो अन्याय का दमन कर सके, किसानों के सामने न था। यह ट्रेजेड़ी व्यक्तिगत या घरेलू समस्याओं को लेकर लिखे हुए दुःखांत उपन्यासों और नाटकों से कहीं ज्यादा विशद और मार्मिक है। यह एक युग की ट्रेजेडी है, जब किसान पर अत्याचार बढ़े हैं, उसने उनका प्रतिरोध करने की कोशिश की है लेकिन सफल नहीं हो पाया। यह दुःखांत परिणति एक दीर्घकालीन और संहारकारी संघर्ष के बाद हुई थी। एक तरफ लखनपुर का गाँव अपनी शक्ति बटोरता है, लड़ता है, परास्त होता है, फिर बिखर जाता है, दूसरी तरफ ज्ञानशंकर और कारिंदे, थानेदार और तहसीलदार, जज, वकील और पेशकारों की फौज है जो अपनी सारी ताकत से गाँव को कुचल देना चाहती है। प्रेमचंद ने इस संघर्ष को विस्तार से चित्रित किया है और ऐसा प्रभावशाली कौशल, घटनाक्रम को सजीव कर देने की ऐसी क्षमता खुद उनके उपन्यासों में भी कम देखी जाती है।

इस संघर्ष में दोनों प्रतिद्वंद्वी बराबर के नहीं है। जमींदार और राजसत्ता असंगठित किसानों के मुकाबले में बहुत शक्तिशाली है। फिर भी पाठक की पूरी सहानुभूति लखनपुर के निवासियों के साथ रहती है, इसलिए कि वे नए जीवन के लिए, एक नए हिंदुस्तान के लिए लड़ते हैं। जहाँ तक किसानों का संबंध है, उनकी कहानी में पाठक की दिलचस्पी कम नहीं होने पाती। और अंत में प्रेमचंद, 1920 में ही पाठक के सामने यह निष्कर्ष रखते हैं-"सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया।"

इसके बाद वही काल्पनिक समाधान है जिसने सेवासदन को कमजोर बनाया था। 'प्रेमाश्रम' का समाधान और भी कमजोर है। जो प्रेमशंकर लखनपुर को एक आदर्श गाँव बना देते हैं, वह किसानों के संघर्ष के दिनों में न उन्हें संगठित कर पाते हैं, न दमन और जुल्म का मुकाबला करने में उनका साथ देते हैं। वह विदेश से पढ़े हुए एक अच्छे-खासे भलेमानुस हैं जो सपने देख सकते हैं लेकिन जीवन-संघर्ष की आँच सहने में असमर्थ हैं। वह 'प्रेमाश्रम' के सबसे निर्जीव पात्रों में हैं, खासकर उन तपे हुए मार खाए किसानों के मुकाबले में जिनके गाँव को वह स्वर्ग बना देते हैं। उपन्यास का अंत अस्वाभाविक ही नहीं है, वह उसके प्रभाव को भी कम कर देता है। जिन शक्तियों ने लखनपुर के किसानों को पीस डालने में कुछ उठा नहीं रखा, वे सब बरकरार रहती हैं। उस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता, जिसमें अंग्रेजों के दलाल किसानों की कमाई का फल कुछ खुद लूटते थे और बाकी अंग्रेज स्वामियों को भेंट कर देते थे। तब लखनपुर एक सुखी और आदर्श गाँव कैसे बन गया?

उपन्यास के काल्पनिक अंत का यही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है कि उससे प्रेमचंद की आशाएँ जाहिर होती हैं कि भविष्य में वह किस तरह के गाँव चाहते थे। उससे यह जाहिर होता है कि प्रेमचंद समझते थे कि जमींदारी प्रथा खत्म हो जाए तो किसानों का जीवन इस तरह सुखी हो सकता है। यह मान लेने पर भी ज्ञानशंकर-संबंधी कथा को जितना विस्तार दिया गया है, वह अनावश्यक ही साबित होता है और उससे उपन्यास की मूल कथा का प्रभाव काफी कम हो जाता है।

इस तरह की खामियों से मामूली कलाकार भी बच सकता है, लेकिन मुख्य बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' हिंदी का पहला 'हीरोइक' उपन्यास है जिसे लिखना एक

असाधारण कलाकार ही का काम था। उसमें जनता की वीरता का चित्रण है, बिना शब्दों की झंकार-टंकार का सहारा लिए हुए, बिना अलंकारों से साहित्य की आत्मा को ढाँके हुए। तुलसीदास ने भारतीय जनता के शौर्य का चित्रण किया था-पौराणिक गाथाओं के पात्रों द्वारा। प्रेमचंद तुलसीदास के त्याग, सहृदयता और शूरता की परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।

'प्रेमाश्रम' की कला किस बात में हैं? कथा गढ़ने में, कथोपकथन में, चरित्र-चित्रण में? इन सब में भी लेकिन इन सबसे अलग भी। उस कला का विश्लेषण उपन्यास के इन अंगों का अलग-अलग विवेचन करने से नहीं हो सकता। वह कला जीवन का संपूर्ण चित्र देने में हैं, उस चित्र से जीवन को एक नई गति देने में है।

प्रेमचंद हमें ठेठ किसानों के बीच ले जाते हैं। उनके अलाव, उनके खेत और ताल, उनके अखाड़े और लावनी-ख्याल, उनके अंधविश्वास और नए जीवन के कसमसाते हुए भावांकुर-प्रेमाश्रम' में यह सब कुछ सजीव है, उसके पृष्ठों में इतिहास जी रहा है। प्रेमचंद किसानों की प्राचीन परंपरा दिखाते हैं तो यह भी कि कहाँ उनकी कड़िया टूट रही हैं। प्रेमचंद की कला इस बात में है कि वे हिन्दुस्तान के बदले हुए किसान का चित्र खींच सके हैं। घटनाएँ साधारण हैं लेकिन उनसे वह अपने पात्रों का पुरानापन और नयापन, उनको पीछे ठेलनेवाली और आगे बढ़ाने वाली विशेषताएँ प्रकट करते हैं। पहाड़ की तस्वीर खींचना आसान है, नदी के बहाव को चित्रित करना मुश्किल। प्रेमचंद ने यथार्थ के बहाव को पकड़ लिया है। उसे उन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए प्रेमाश्रम' में सुरक्षित कर दिया है।

प्रेमचंद की कला उपन्यास की चित्रमयता में है। प्रेमचंद अपने पात्रों पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने नहीं बैठ जाते, जैसा कि कुछ अद्भुत कलाकार किया करते हैं। वह अपने पात्रों से लंबी-लंबी स्पीचें भी नहीं दिलवाते जिनमें थोथे तर्कजाल का विस्तार करके उपन्यास को वजनी बना दिया जाता है। प्रेमचंद पात्रों के, घटनाओं के, दृश्यों के ऐसे चित्र आँकते हैं कि पाठक उन्हें हमेशा याद रखता है और वे उसकी स्मृति में छिपे हुए उसके विचारों और कर्मों को प्रभावित करते हैं।

प्रेमचंद ने 'मनोवैज्ञानिक' कलाकारों की तरह इस उपन्यास को तर्कजाल और अपनी टीका से लाद दिया होता तो वह साधारण जनता में कभी इतना लोकप्रिय

न होता। वह जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे चित्रों द्वारा ही कहते हैं। पात्रों के संवादों में तर्कजाल भरनेवाले सज्जन वास्तव में अपने यथार्थ जीवन के अज्ञान को छिपाते हैं। उनका अनुभव बहुत ही सीमित और संकुचित होता है, लेकिन वह उसे हिंद महासागर की तरह गहरा दिखाना चाहते हैं। प्रेमचंद में यथार्थ जीवन की गहरी जानकारी है; उनके उपन्यासों में महत्वपूर्ण जीवन-दर्शन, सुलझा हुआ दृष्टिकोण और गंभीर विचार मिलते हैं।

प्रेमचंद के दृष्टिकोण की खूबी इस बात में है कि वह समाज में देख सकते हैं कि कौन-सी चीज मर रही है और कौन-सी चीज उग रही है। वह समाज को एक गतिशील क्रम के रूप में देखते हैं। यहाँ स्थिरता नहीं है लेकिन क्षण भंगुरता का नाम संसार नहीं है। यहाँ कुछ शक्तियाँ पतनशील हैं तो कुछ शक्तियाँ उदयशील भी। लखनपुर के किसान उगनेवाली शक्ति हैं। वे निरस्त्र हैं, संघर्ष में मार खा जाते हैं, भयानक यातनाएँ सहते हैं, अंधविश्वासों और कुसंस्कारों से पूरी तरह पीछा नहीं छुड़ा पाते, लेकिन भविष्य उन्हीं का है; समाज की उदीयमान शक्ति वही हैं। ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, गौस खाँ वगैरह भले ही शक्तिशाली दिखाई दे लेकिन उनका भविष्य अंधकारमय है। वे समाज की प्रगति को रोकनेवाली मरणशील शक्ति हैं। इन दो तरह के दलों में वर्षों तक संघर्ष चलता है और उसके दौरान नई नैतिकता पुरानी सामंती संस्कृति को चुनौती देती है, उससे टक्कर लेती है और दृढ़ होती है।

प्रेमचंद का जीवन-दर्शन इसी संसार में जूझनेवाले मनुष्यों के दुख-सुख, आशा-निराशा, विजय-पराजय का चित्रण करने में प्रकट होता है। वह पाठक को यह नहीं सिखाते कि यह संसार झूठा है, इसमें रहनेवाले मनुष्य झूठे हैं, उनका संघर्ष झूठा है। वह दिखलाते हैं कि मनुष्य जिन परिस्थितियों में पैदा हुआ है, उनसे प्रभावित होते हुए भी उन्हें बदलने की कोशिश करता है।

प्रेमचंद का गंभीर चिंतन, उनके ऊँचे विचार, एक नई मनुष्यता, एक नई नैतिकता का चित्रण करने में प्रकट होते हैं, जो हिंदुस्तान के किसानों में किरण की तरह फूट रही थी। इस घटना का अंतर्राष्ट्रीय महत्व था। हिंदुस्तान को आधार बनाकर हिंदुस्तान के जान-माल की मदद से अंग्रेजों ने ऐसा साम्राज्य कायम किया था जिसमें सूरज न डूबता था। उस साम्राज्य के स्तंभ थे, अंग्रेजों के दलाल, भारत के राजा,

जागीरदार और जमींदार। हिंदुस्तान के किसान उनके खिलाफ संघर्ष करके सिर्फ अपने सुखी जीवन के लिए न लड़ रहे थे बल्कि वह संसार के सभी दासों की शांति और स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। प्रेमचंद हिंदी के पहले लेखक थे जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय महत्व का ऐसा उपन्यास लिखा था।

यह उपन्यास असहयोग-आंदोलन के बाद छपा, यह हमारा दुर्भाग्य था। फिर भी उसे स्वाधीनता-आंदोलन को दृढ़ करने के लिए उसे एक नई गति देने में किसान-समस्या को आजादी की मूल समस्या के रूप में स्वीकार करने में बहुत बड़ा काम किया है। ऐसा सामाजिक महत्व विरले ही उपन्यासों का होता है।

प्रेमचंद की कला उनकी सजीव शब्दावली, वर्णन की काव्यमयता, उनके गद्य के वह सजीव अंश, जिन्हें पाठक कविता की पंक्तियों की तरह रट लेते हैं-इन सबमें प्रकट होती है। प्रेमचंद की कला मनोहर, बलराज, कादिर के सजीव चित्रण में प्रकट होती है जिनसे बिछुड़ने पर एक आत्मीय के बिछोह का सा दुख होता है।

किसी समय जब प्रेमचंद के मनोहर, बलराज़ और कादिर का जीवन बदल जाएगा और लखनपुर वास्तव में एक सुखी गाँव बनेगा, तब मनोहर, बलराज और कादिर की संतान 'प्रेमाश्रम' पढ़ेगी और कहेगी - हाँ हमारे पुरखे वीर थे; उन्होंने अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाया; वे अपना रक्त न बहाते तो यह गाँव सुखी न होता। और यह सब कहते-सोचते उनका हृदय प्रेमचंद के प्रति कृतज्ञता से भर उठेगा।

11. एक उपन्यास का अर्थ-ग्रहण असहयोग के दौर में 'प्रेमाश्रम'

वीरभारत तलवार

1922 की होली के आस-पास प्रेमचंद का उपन्यास **प्रेमाश्रम** छपा। इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य की एक ऐतिहासिक घटना बन गयी। उस जमाने में हिन्दी पर बंगला साहित्य का रोब छाया हुआ था। हिन्दी में अच्छे मौलिक उपन्यास नहीं लिखे जा सकते, यह आम धारणा थी। हिन्दी की अपनी उपन्यास परम्परा में किशोरीलाल गोस्वामी के 'लंदन रहस्य' जैसे उपन्यासों का चलन था। प्रेमाश्रम' जैसा उपन्यास न हिन्दी में था, न उर्दू में; बंगला में भी नहीं। रघुपति सहाय 'फिराक' ने 'प्रेमाश्रम' की समीक्षा करते हुए लिखा था कि देशी भाषाओं के इतिहास में, विशेषकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशित होना एक स्मरणीय घटना है।

उपन्यास की बिक्री, पाठकों की प्रतिक्रिया और पत्र-पत्रिकाओं में हुई चर्चा की दृष्टि से प्रेमाश्रम' हिन्दी का सबसे मशहूर और लोकप्रिय उपन्यास रहा है। इस उपन्यास पर जितनी लम्बी बहस चली, उतनी आज तक, हिन्दी के किसी दूसरे उपन्यास पर नहीं चली। उपन्यास के छपते ही उस पर समीक्षाओं की धूम मच गयी। उपन्यास के ऐसे स्वागत से खुश होकर प्रेमचन्द ने 31 मई, 1922 को अपने दोस्त दयानारायण निगम को खत में लिखा : "मेरा नया नाविल भी शाया हो गया है। अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।"

उपन्यास की पहली ब्यौरेवार समीक्षा बनारस के राष्ट्रवादी अखबार 'आज' के मई 11 और 12 के अंकों में छपी। उस पर एक लम्बी पाठकीय प्रतिक्रिया 31 मई को छपी। दूसरी महत्वपूर्ण समीक्षा 'प्रभा' (कानपुर) के जुलाई अंक में रघुपति सहाय ने लिखी। इस लम्बी प्रभावशाली समीक्षा ने इस उपन्यास पर ऐसे विवाद को जन्म दिया जो 'प्रभा' के अंकों में साल भर चलता रहा, फिर भी खत्म नहीं हुआ और वही बहस 1922 में निकली नयी पत्रिका 'माधुरी' के अंकों में भी चलती रही। बहस को भड़काने वाली कुछ बातें प्रेमाश्रम के पहले संस्करण में प्रस्तावना के रूप में छपे रामदास गौड़ के एक बयान में थी जिसमें कहा गया था कि

शरतचन्द्र ने दबी जबान से प्रेमचन्द की कहानी कला को रवीन्द्र की कला की टक्कर का माना है। उपन्यास की एक और महत्वपूर्ण समीक्षा जुलाई 1922 की 'माधुरी' में कालिदास कपूर ने लिखी थी। रघुपति सहाय, रामदास गौड़ और कालिदास कपूर-ये लोग हिन्दी साहित्य के दिग्गज न थे पर हिन्दी आलोचना में उस वक्त प्रेमचन्द का साथ देने वाले लोग यही थे। एक साल बाद तक, अखबारों में प्रेमाश्रम का जो विज्ञापन निकलता था, उसमें लिखा रहता था कि "यह वही उपन्यास है जिस पर अभी तक हिन्दी पत्रों में बराबर आलोचनाएँ निकल रही हैं।''

प्रेमाश्रम को अपने जमाने में असाधारण लोकप्रियता मिली। उपन्यास को बाजार में आये अभी सिर्फ तीन ही महीने गुजरे थे कि उसकी एक हजार प्रतियाँ बिक गयीं। यह सूचना प्रेमचन्द ने 14 जुलाई, 1922 के खत में निगम को दी। फिर अढ़ाई महीने बाद यह खबर दी, "आपको यह सुनकर खुशी होगी कि प्रेमाश्रम की 1200 जिल्दें निकल गयीं।'' इसके बाद यह महत्वपूर्ण सूचना : 'अब दूसरे एडीशन की तैयारी है।'' प्रथम प्रकाशन के सिर्फ छः महीने के अन्दर दूसरे एडीशन की तैयारी! 1923 में उपन्यास का दूसरा संस्करण भी निकल गया। इसके चार साल बाद उसका मराठी अनुवाद निकल गया। उपन्यास की इस बेजोड़ लोकप्रियता का कारण क्या था? उसकी लोकप्रियता शिक्षित समुदाय के किस वर्ग के बीच क्या थी?

सन् 1922 में जब प्रेमाश्रम' छपा, देश में सामंतवाद विरोधी किसान-आन्दोलन की लहरें उठी हुई थीं। इन लहरों से भी ऊपर असहयोग आंदोलन के रूप में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का ज्वार चारों ओर फैल गया। उपन्यास में प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में सामन्तवाद विरोधी किसान-संघर्ष को चित्रित किया था। स्वराज्य के आन्दोलन में शामिल शहरों के शिक्षित निम्न और साधारण मध्यवर्ग का एक हिस्सा किसानों का समर्थक था। यही वर्ग था जो उस वक्त चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन का जन-आधार था। उपन्यास का स्वागत इसी वर्ग ने किया था। उपन्यास इस वर्ग की राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता था।

इस वर्ग ने उपन्यास के कलात्मक संसार में अपने वास्तविक संसार को और भी अच्छी तरह देखा और पहचाना। प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला राजनीतिक उपन्यास

था, यह दिखाने के लिए मैं उपन्यास में आयी राजनीतिक घटनाओं या दृश्यों का वर्णन करने नहीं जा रहा। उपन्यास को पढ़ने वाले पाठकों ने उसे किस तरह एक राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा, इसका वर्णन करने जा रहा हूँ। उस वक्त की साहित्यिक बहसों तथा अन्य तथ्यों की छानबीन करने से यह विशेषता उभर कर आती है कि जो पाठक और समीक्षक उपन्यास पर विचार कर रहे थे, उनकी अध्ययन-दृष्टि राजनीति से प्रभावित और निर्धारित हो रही थी। उस जमाने में इस उपन्यास पर टिप्पणी करने वाले लगभग सभी पाठक-समीक्षक उपन्यास को राजनीतिक अर्थों में ग्रहण कर रहे थे। उनके टिप्पणियों की भाषा, शब्दावली, उनकी तुलनाएँ तथा उपमाएँ, सब राजनीतिक थीं। जिन संदर्भों में वे दलीलें देते थे, सफाई देते थे या उपन्यास को सराहते थे, वे संदर्भ साहित्यिक से अधिक राजनीतिक थे।

उपन्यास में प्रेमचन्द ने लखनपुर गाँव के किसानों की दुर्दशा का चित्रण किया था। रघुपति सहाय ने लिखा कि उसको "साढ़े सात लाख से गुणा कर दीजिए तो आपको भारत के साढ़े सात लाख ग्रामों की विपत्ति का अनुभव हो जाएगा और उसकी सीमा मालूम हो जायेगी।'' इस तरह रघुपति सहाय ने अध्ययन का विषय उपन्यास के यथार्थ की जगह, उसे विस्तार देकर, भारत का यथार्थ कर दिया। उन्होंने उपन्यास के अनुभवों की जगह या उसके नाम पर, देश के अनुभवों का सवाल खड़ा किया, मानो दोनों पर विचार करना एक ही बात हो और जब एक ही बात हो, तो क्यों न देश के ही सवाल पर बात की जाये? अगर आपकी दृष्टि राजनीतिक है, तो आप किसी भी सवाल को उठा कर देश के सवाल पर ही बात करेंगे। इसलिए, उपन्यास के संदर्भ में रघुपति सहाय ने देश के अनुभवों को पेश किया: "नगर-निवासियों के हाथों किसानों की क्या गति हो रही है, जमींदारी प्रथा ने किसानों की जिन्दगी को पुलिस, जमींदार और अदालत के शिकंजों में किस तरह जकड़ दिया है, जमींदारी प्रथा किस तरह किसानों का खून चूस रही है, नागरिक जीवन और ग्राम्य जीवन के टकराने से कैसी दर्द भरी आवाज निकल रही है....'' आदि-आदि। देश के ये अनुभव और इस टकराहट से पैदा हो रही दर्दनाक आवाजें वे उपन्यास में सुनने के लिए कह रहे थे और इसी क्रम में उन्होंने आगे जोड़ा-'देश में कैसी भीषण चिनगारियाँ उड़ रहीं हैं, कैसी आग लगी हुई है, इस अतीव महत्वपूर्ण, अति जटिल और अत्यंत हृदयाकर्षक प्रश्न को लेखक ने अपने अद्वितीय ढंग से पेश किया

है।'' साहित्यिक समीक्षा के क्रम में लिखी गयी इन पंक्तियों का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह तब तक हम नहीं समझ सकते जब तक उस समय देश में उड़ रही भीषण चिन्गारियों को, चल रहे आंदोलनों से फैली आग को - सीधे शब्दों में कहें तो उस वक्त की राजनीतिक स्थिति को-नहीं समझते। इसी आन्दोलनात्मक संदर्भ में रघुपति सहाय उपन्यास की चर्चा कर रहे थे क्योंकि उनकी दृष्टि में उपन्यास ठीक इसी संदर्भ को, उसके सारतत्व को, अभिव्यक्त करता था।

रूसी क्रांति को हुए उस वक्त सिर्फ साढ़े चार साल गुजरे थे। उस क्रान्ति के महत्व को जितने लोग समझते थे, उससे भी कम लोग उस क्रान्ति में मैक्सिम गोर्की की भूमिका के महत्व को समझते थे। प्रेमचन्द ने देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में इस उपन्यास को लिखकर क्या काम किया, इसे दिखलाने के लिए रघुपति सहाय ने एक तुलनात्मक वाक्य लिखा, 'प्रेमचन्द ने किसानों के लिए वही काम किया जो मैक्सिम गोर्की के उपन्यासों ने बोलशेविज्म के सिद्धांतों के लिए किया और जार्ज इलियट के 'मिडल मार्च' ने इंग्लिस्तान के कॉर्न-लॉ **(Corn Law)** के लिए किया था।'' 'प्रेमाश्रम' अपने पाठकों को सिर्फ बोल्शेविज्म और कॉर्न-लॉ आंदोलन की ही याद नहीं दिलाता था, वह अमेरिका में दास प्रथा के खिलाफ हुए संघर्ष की भी याद दिलाता था। गाँधी जी की पत्रिका 'हिन्दी नवजीवन' (सं० हरिभाऊ उपाध्याय) में प्रेमाश्रम' की समीक्षा निकली जिसमें कहा गया कि "अमेरिका से गुलामी की प्रथा उठा देने में 'टाम काका की कुटिया' ने बड़ी मदद की है! प्रेमचन्द जी ने भी 'प्रेमाश्रम' के द्वारा भारत के निरीह किसानों के उद्धार का प्रयत्न किया है।'' (9 जुलाई, 1922)

देश में उड़ रही भीषण चिनगारियाँ, बोल्शेविज्म, इंग्लिस्तान का कॉर्न-लॉ आंदोलन और अमेरिकी दास-प्रथा को मिटाने का युद्ध-ऐसे थे उपन्यास पर चर्चा के संदर्भ।

'माधुरी' वाली समीक्षा में कालिदास कपूर ने लिखा कि साधारणत: उपन्यासों में सुन्दर प्रकृति-चित्र, राजमहल, राजकुमार और राजकुमारियाँ होती हैं। यहाँ रबी की फसल, नौकरी और साम्यवाद को कौन पूछता है। बड़े-बड़े राजमन्दिरों, किलों और उनके तिलस्मों के मुकाबले में बेचारे लखनपुर या हाजीपुर के झोपड़ों को कौन देखता है? कपूर ने भी देश में उड़ी उन 'भीषण चिनगारियों' को याद किया

जिन्होंने देश के राजनीतिक नक्शे में इन किसानों के झोपड़ों को महत्वपूर्ण बना दिया था। "शायद किसी और समय दिहात और बेगार, मुकदमेबाज और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर नहीं होते, पर यह उपन्यास सन् 1921 का लिखा हुआ है। और, उस वर्ष के अन्दर जितना आन्दोलन और राजनीतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारणतः पचास वर्षों में पहुँचता।" लगता है, उस साहित्यिक कृति में उठाए गए प्रश्न बेमेल और अरुचिकर ही रह जाते और कोई उसका स्वागत न कर पाता अगर 1921 में राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदल न गयी होतीं। मुझे हिन्दी का दूसरा कोई उपन्यास याद नहीं आता जिसके अध्ययन और जिसके अर्थ-ग्रहण में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी प्रभावकारी रही हों।

प्रेमाश्रम के पात्रों के चरित्र-चित्रण पर राय देने, उनकी विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए भी उस समय के वास्तविक सन्दर्भों की ओर देखा गया। उपन्यास के खलनायक जमींदार ज्ञानशंकर और उसके कारिन्दों, नौकरों के बारे में रघुपति सहाय ने लिखा: "ज्ञानशंकर एक असाधारण स्वार्थी और कुटिल मनुष्य है लेकिन गौस खाँ, बिन्दा महाराज, करतार सिंह और फैजुल्लाह किस गाँव में नहीं हैं।" यहाँ रघुपति सहाय कहना चाहते हैं कि ज्ञानशंकर असाधारण खलनायक है, ऐसे चरित्र समाज में बहुत ज्यादा नहीं हैं। इस पर 'प्रभा' के सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने फुटनोट में टिप्पणी लिखकर प्रतिवाद किया : "खोजने पर अपने आस-पास हमें अनेक ज्ञानशंकर भी मिल जाएँगे।" 1921 में अवध के प्रतापगढ़, सुलतानपुर, फैजाबाद और रायबरेली के जिलों में बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में काफी बड़ा किसान आन्दोलन चला था। गणेश शंकर विद्यार्थी इस आन्दोलन से जुड़ गए थे। 7 जनवरी 1921 को रायबरेली के मुंशीगंज में निहत्थे किसानों की भीड़ पर (जलियाँवाला बाग और अरवल कांड की तरह) अन्धाधुंध गोली चलाने वाले तालुकेदार वीरपाल सिंह के खिलाफ विद्यार्थी जी ने मुकदमा लड़ा और तीन महीने जेल की सजा भुगती थी। वीरपाल सिंह के पुरखों को गदर में अंगरेजी राज की सेवा करने के बदले तालुकेदारी मिली थी। वीरपाल सिंह ने सरकारी पुलिस के साथ मिलकर आन्दोलनकारी किसानों पर गोलियाँ चलायीं। अवध में वीरपाल सिंह जैसे अपने वर्ग-स्वार्थों में असाधारण रूप से कुटिल और क्रूर तालुकेदारों की कमी न थी। 'प्रभा' के सम्पादक ने अपने सामयिक राजनीतिक सन्दर्भों में ज्ञानशंकर जैसे चरित्र को पहचान लिया।

उपन्यास के एक दूसरे जमींदार चरित्र प्रभाशंकर के प्रसंग में रघुपति सहाय और कपूर, दोनों में, ब्रिटिश भारत में नई नीतियों से उपजे नए ढंग के जमींदारों और पहले के पुराने ढंग के जमींदारों के बीच फर्क को अपना संदर्भ बनाया। उपन्यास के नौजवान, लड़ाकू चरित्र बलराज के बारे में कपूर ने लिखा कि, "उसमें जो स्वतन्त्रता है, वह किसी में नहीं,.........यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं तो वह भविष्य का बोल्शेविक होगा।"

प्रेमशंकर के चरित्र में गांधी जी की छाया उस जमाने में बहुतों को दिखी। 'प्रभा' में हेमचन्द्र जोशी ने प्रेमशंकर के प्रसंग में गांधीजी का नाम लिया। "लेखक ने प्रेमशंकर में महात्मा गांधी के से गुण दिखाने की चेष्टा की है। प्रेमशंकर के चरित्र से मालूम होता है कि उनका कार्यक्रम महात्मा गांधी के मूल सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है।" 31मई को 'आज' में छपी पाठकीय प्रतिक्रिया में प्रेमशंकर के बारे में कहा गया कि "बहुत अंशों में यह चरित्र महात्मा गांधी से मिलता जुलता है।" कपूर ने गांधी के जिक्र से आगे जाकर उसमें महर्षि टालस्टाय को देखा। यह बात नोट करने लायक है कि उस जमाने में किसी भी समालोचना में उपन्यास के उपसंहार में वर्णित 'रामराज्य' को अस्वाभाविक या असम्भव नहीं बताया गया। इसे उपन्यास की कला की कमजोरी नहीं माना गया। यह मूल्यांकन निश्चित रूप से उस वक्त इन बुद्धिजीवियों पर गांधीवाद और बोल्शेविज्म के प्रभाव को सूचित करता है। कालिदास कपूर ने लिखा : "साम्यवादियों के मतानुसार भारत में भी एक आदर्श कृषक संस्था तैयार करनी थी।" यह काम उपन्यास में गांधी और टालस्टाय की छवि वाला प्रेमशंकर पूरा करता है: 'वह हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं।" 1922 में इन समीक्षकों ने गांधीवाद, टालस्टाय और साम्यवाद के बीच किसी तरह का फर्क नहीं किया।

उपन्यास को लेकर 'प्रभा' में एक वाद-विवाद हुआ। रघुपति सहाय ने इस उपन्यास को यूरोप के दिग्गज उपन्यासकारों की कृतियों के टक्कर का कहा। रामदास गौड़ ने शतरचन्द्र के हवाले से प्रेमचन्द की तुलना रवीन्द्रनाथ से कर डाली थी। ऐसी तारीफों से बौखलाकर तरुण हेमचन्द्र जोशी ने 'प्रभा' में 'प्रेमाश्रम' के खिलाफ लिखा कि यह दो कौड़ी का उपन्यास है, इसमें धरा ही क्या है? जोशी ने जाकर शरतचन्द्र से मुलाकात की और चुनौती देकर कहा कि रामदास गौड़ ने शरतचन्द्र का जो हवाला दिया है, उसे शरतचन्द्र ने झूठ बतलाया। गौड़ ने अपनी सफाई दी और

शरत के बयान पर आश्चर्य और खेद प्रकट किया। जोशी ने लिखा कि कहाँ बंगला साहित्य और कहाँ हिन्दी साहित्य! बंगला और अंगरेजी भाषाओं में साहित्य के मानदण्ड बहुत ऊँचे हैं, हिन्दी में बहुत नीचे। यहाँ किसी को कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। कहाँ रवीन्द्र, कहाँ प्रेमचन्द। हिन्दी में ज्ञान की कमी है; मैं इसके खिलाफ लड़ रहा हूँ।

इस विवाद का एक पहलू हमारे अध्ययन से सम्बन्ध रखता है। इस वाद-विवाद पर भी तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके राजनीतिक दृष्टिकोण ने अपनी छाप डाली। जोशी यूरोपीय साहित्य के ऊँचे मानदण्डों की दुहाई दे रहे थे। गौड़ ने इसके खिलाफ राष्ट्रवाद को पेश किया : "हमारे नए जौहरी और प्रवीण पारखी स्वदेशोद्भूत साहित्य-रत्नों को अभी विदेशी काँटों पर ही तौलते हैं, उसे गोरी कसौटी पर कसते हैं, और साथ ही 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की दुहाई भी देते हैं।" लेकिन राजनीतिक दृष्टिकोण की मुख्य अभिव्यक्ति 'प्रभा' के जुलाई अंक (1923) में 'साहित्य' छद्मनाम से छपे लेख में हुई जिसके साथ इस बहस का 'प्रभा' में समापन हुआ। लेख में हिन्दी साहित्य की इस अधोगति पर खेद प्रकट किया गया कि अब हम अन्य भाषा वालों से अपनी पुस्तक पर सनद माँगते हैं। आगे लिखा, "जब किसी जाति या राष्ट्र का अध:पतन हो जाता है तो उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं रहता। ....बंगला भाषा-साहित्य का रोब हमारे दिलों पर छाया हुआ है। किसकी मजाल है जो यह कहने का साहस करे कि हिन्दी का कोई लेखक बंगालियों की बराबरी कर सकता है। पराधीनता केवल पराक्रम का ही नाश नहीं करती, वह दास-प्रवत्ति को पुष्ट करती है। यही प्रवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में भी उपस्थित है।" इस तरह, उपन्यास पर चले विवाद पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दृष्टिकोण ने और हिन्दी क्षेत्र के जातीय बोध ने अपनी परछाईं डाली। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह बात नोट करने लायक है कि उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में हिन्दी पर बंगला का जो रोब कई दशकों से कायम था, उसे आखिरकार प्रेमचन्द ने ही तोड़ा, खासकर उनके प्रेमाश्रम ने। इससे हिन्दी प्रदेश के शिक्षित मध्य वर्ग में गौरव की भावना आई।

साहित्य की रचना अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित रहती है, इसे सब मानते हैं। लेकिन रचना ही नहीं, साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन भी अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित और निर्धारित होता है। एक युग में, एक तरह

की परिस्थितियों में हम किसी रचना में जिन बातों को ढूँढ़ते हैं या जिन पर जोर देते हैं, दूसरे युग में, दूसरी तरह की परिस्थितियों में, हम उन्हीं बातों को उसमें नहीं ढूँढ़ते या उन पर जोर नहीं देते। इस तरह रचना के पाठकीय अध्ययन की, अर्थ-ग्रहण की भी एक परम्परा है जिसमें परिवर्तन और विकास युग की परिस्थितियों के मुताबिक होता चलता है। इस परम्परा के परिवर्तन और विकास की बात जितनी मान ली जाती है, उतनी इसकी खोज नहीं की जाती। गांधी जी की प्रभावशाली मौजूदगी के तहत 'प्रेमाश्रम' के उपसंहार में आए 'रामराज्य' के वर्णन को उस समय असम्भव या अस्वाभाविक नहीं माना गया, पर आज कोई भी उसका समर्थन नहीं करता; उसे उपन्यास का कमजोर अंश बताया जाता है। 'प्रेमाश्रम' के सामन्तवाद विरोधी पक्ष का महत्व 1922 में काफी था, आज भी बना हुआ है। असहयोग आन्दोलन इस उपन्यास का कोई मुख्य पक्ष नहीं है। आज उसकी कोई चर्चा भी नहीं करता, न उपन्यास में इसे खोजता या देखता है। यह पक्ष उपन्यास में गौण रूप से है, यहाँ-वहाँ कुछ प्रसंगों में बिखरा हुआ। लेकिन उस जमाने में उपन्यास को पढ़ने वालों ने इसे ही उपन्यास का प्रधान पक्ष माना। इसी दृष्टि से इसे राजनीतिक उपन्यास करार दिया गया। उपन्यास 1922 के राजनीतिक मंच पर असहयोग आन्दोलन का प्रवक्ता और प्रचारक बनकर उभरा था। इसे वास्तविक रूप में दिखाने से पहले, हम संक्षेप में, इसके प्रकाशन के आस-पास के दिनों के राजनीतिक माहौल को देख लें जिसका चित्र उस वक्त के रोजाना अखबारों में मिलता है।

उपन्यास के प्रकाशन-वर्ष में देश का वातावरण राजनीतिक घटनाओं की उथल-पुथल और असहयोग की चर्चा से गर्म था। उपन्यास जब छपा, तब अवध के हरदोई और सीतापुर जिलों में किसान-आन्दोलन का खूँखार दमन चल रहा था। 1922 की मई में अखबारों में सीतापुर में दमन के जाँच की नेहरू रिपोर्ट के अंश छपे। अप्रैल में ईस्टर्न इण्डियन रेलवे कम्पनी के मजदूरों की लम्बी हड़ताल चल रही थी। सभी अखबारों में रोज चौरी-चौरा काण्ड के मुकदमे की गवाहियाँ छप रही थीं। मोपला विद्रोह, भील किसानों के संघर्ष और अकाली किसान जत्थों के आन्दोलन पर दमन की खबरों से अखबार रोज भरे रहते थे। हर जगह वंदेमातरम् बोलने वालों और गांधी टोप पहन कर अदालत में आने वालों को दण्ड देने की खबरों से, चर्खे तथा स्वराज्य के अर्थ और महात्मा गांधी की अपीलों से हिन्दी-अंगरेजी के राष्ट्रवादी

अखबारों के पन्ने रँगे रहते। 1922 के मार्च-अप्रैल के महीनों में रोज ही पंजाब हत्या-काण्ड, अलीपुर बम केस का रहस्य, राष्ट्रीय सिंहनाद, रूस का पुनर्जन्म, भारतीय देश भक्तों की कारावास कहानी, स्वराज्य का अर्थ और महावीर गैरीबाल्डी जैसी किताबों के बड़े-बड़े विज्ञापन और उनके मिलने के पते मुख पृष्ठों पर छपे रहते थे।

असहयोग आन्दोलन के दौरान मार्च, 1922 में गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। 19 मार्च के अंक में "अजातशत्रु महात्मा गांधी को छः साल की सजा: नौकरशाही न्याय की पराकाष्ठा" शीर्षक खबर बड़ी-बड़ी सुर्खियों में छपी। 19 अप्रैल को कानपुर के लड़ाकू राष्ट्रवादी नेता "मौलाना हसरत मोहानी की गिरफ्तारी की खबर सुर्खियों में छपी : मौलाना पर राजद्रोह का मुकदमा"। 12 मई को 'आज' के अंक में प्रेमाश्रम' की पहली समालोचना छपी, इसी अंक में लखनऊ में नेहरू की गिरफ्तारी की भी खबर थी। राजनीतिक उथल-पुथल के बीच, आन्दोलनों, गिरफ्तारियों और स्वराज्य की माँग के बीच प्रेमाश्रम' छपकर निकला। लोगों ने उसे राजनीतिक दृष्टि से देखा। लोगों ने उसमें उन राजनीतिक प्रश्नों और स्थितियों को ढूँढ़ने की कोशिश की, जिन प्रश्नों और स्थितियों से वे वास्तविक समाज में घिरे हुए थे।

'माधुरी' में कालिदास कपूर ने लिखा कि प्रेमाश्रम' का उद्देश्य राजनीतिक है। यह राजनीति असहयोग की थी। प्रेमाश्रम' के पहले संस्करण में छपे एक पृष्ठ के 'अनुवचन' में रामदास गौड़ ने नपे-तुले शब्दों में उपन्यास की विशेषताओं को बतलाते हुए लिखा . 'प्रेमचन्द जी यद्यपि असहयोगी हैं, तथापि उन्होंने विपक्ष के भावों को दरसाने में पक्षपात से काम नहीं लिया है।" विपक्ष यानी सहयोगी; वे माडरेट जो सरकारी सुधारों में यकीन करते थे और काउंसिलों में भाग लेने के पक्ष में थे। रामदास गौड़ का इशारा राय कमलानंद के चरित्र की ओर था जो उपन्यास में एक सहयोगी के रूप में दिखाया गया है। प्रेमचन्द की उपन्यास कला की खूबी इसमें मानी गई कि खुद असहयोगी होने के बावजूद उन्होंने सहयोगी चरित्रों को निष्पक्ष भाव से चित्रित किया। प्रेमशंकर के चरित्र में न सिर्फ गांधी जी की छवि देखी गई बल्कि उसके चरित्र की कमजोरियों की व्याख्या और सफाई भी गांधी जी की छवि के संदर्भ में दी गई, खासकर जो छवि गांधी जी के असहयोग-आन्दोलन के नेता रूप की थी। 'आज' में 31 मई वाली प्रतिक्रिया में

प्रेमशंकर को गांधी जी से मिलता-जुलता बताने के बाद उसकी कमजोरियाँ बताई गईं-'प्रेमशंकर में 'डिक्टेटर' बनने की शक्ति नहीं है, वह 'स्केप्टिक' है।'' असहयोग आन्दोलन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कांग्रेस ने गांधी जी को आन्दोलन और पार्टी का 'डिक्टेटर' बना दिया था। प्रेमशंकर असहयोगी है, गांधी जी से मिलता-जुलता है, पर उसमें डिक्टेटर बनने की क्षमता नहीं। यह उसके चरित्र में कमी है। उसकी कमी भी गांधी के गुणों से ही पूरी होनी चाहिए थी। इस स्थिति की व्याख्या जोशी ने इस तरह की कि कमजोरियाँ तो गांधी में भी हैं, इसे खुद, गांधी ने स्वीकार किया है।

11-12 मई वाली आलोचना में उपन्यास की कमजोरियाँ दिखाते हुए कहा गया कि खुद लेखक के अलावा इनके प्रधान नायक प्रेमशंकर भी असहयोगी हैं, उनके प्रत्येक कार्य इसी नीति के पोषक और समर्थक हैं पर आप कौंसिलों में जाते हैं।'' उसके कौंसिल में जाने के पीछे उपन्यासकार ने कोई दलील नहीं दी। "इसलिए यह भी उपन्यास की एक भारी त्रुटि है, क्योंकि प्रेमाश्रम औपन्यासिक रूप में वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति का सजीव उदाहरण है।'' कौंसिलों का बहिष्कार उन परिस्थितियों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न था, असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम का एक मुख्य मुद्दा था। प्रेमचंद ने असहयोगी नायक को, बिना किसी दलील के कौंसिल में जाते दिखलाया-इसे उपन्यास के पाठकों-समीक्षकों ने बर्दाश्त नहीं किया। प्रेमशंकर की एक और त्रुटि बतलाई गई कि वह किसानों के विरोधी और सरकार के समर्थक जमींदार ज्ञानशंकर को क्यों सुधार न सका? "प्रेमशंकर के सहवास से कितने ही दुरात्मा सुधर गए, तो क्या वे अपने भाई का सुधार नहीं कर सके?....क्या घर की लगी आग वे भी नहीं बुझा सकते थे?'' यह अलोचना पूरी तरह से राजनीतिक थी। लगता है, 'आज' में जिस व्यक्ति ने यह आलोचना लिखी, वह सहयोगियों से सहानुभूति रखता था और बनारस में मदनमोहन मालवीय के निकट था। क्योंकि, प्रेमशंकर के चरित्र पर यह टिप्पणी असहयोगियों और सहयोगियों के बीच उस ढीले-ढाले राजनीतिक हिस्से के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है जिसने असहयोग या सहयोग के सवाल पर कोई दृढ़ रवैया नहीं अपनाया था और सैद्धांतिक रूप से असहयोग का विरोधी न होते हुए भी सहयोगियों से अपने निकट संपर्कों की वजह से सहानुभूतिवश चाहता था कि असहयोगी कुछ भी करें, लेकिन सहयोगियों को भी अपने साथ लेकर चलें; अगर दोनों में कुछ मतभेद हैं तो वह आपसी विचार-विमर्श

से सुलझ सकता है। 'घर में लगी आग' वाक्यांश निश्चित रूप से उस दृष्टिकोण को जाहिर करता है जो कांग्रेस के इन दो हिस्सों के बीच के टकराव को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की दो लाइनों का संघर्ष न मानकर सिर्फ आपसी मनमुटाव तक सीमित करके देखता था। इस दृष्टिकोण के मुताबिक असहयोगियों और सहयोगियों के बीच सुलह और एकता कराने की कोशिश की जाती थी। इस आलोचना का उत्तर देते हुए 31 मई के अंक में 'आज' के एक पाठक ने जो कुछ लिखा, वह भी दिलचस्प है। उसने लिखा कि, "यह शंका इतनी लचर है कि इसका उत्तर देना व्यर्थ-सा जान पड़ता है। वैद्य दूसरों को अच्छा करता है, पर स्वयं अपने को अच्छा नहीं कर सकता।" इस तर्क के बाद एक उदाहरण दिया गया-"दूर क्यों जाइए, पंडित मदनमोहन मालवीय अपने पुत्र ही को सहयोगी बनाने में सफल नहीं हुए।" जाहिर है कि 'प्रेमाश्रम' पर बहस कर रहे लोग असल में असहयोग आन्दोलन पर बहस कर रहे थे।

उपन्यास को स्वराज्य के लिए चल रहे राजनीतिक आन्दोलन के साथ किस हद तक मिलाकर गड़बड़ा दिया गया था, इसकी एक मिसाल उपन्यास में हाईकोर्ट में दाखिले अपील का प्रसंग है। उपन्यास में नीचे की अदालत में मुकदमा हार जाने के काफी दिनों बाद प्रेमशंकर उसी मुकदमे के लिए ऊपर की अदालत में अपील करता है। इस वर्णन में एक मीयाद के अन्दर अपील करने की कानूनी धारा को लेखक ने भुला दिया था। 11-12 मई वाली आलोचना में लेखक की इस भूल को पकड़ा गया और कहा गया कि ब्रिटिश कानूनों के मातहत ऐसा करना असंभव है। रघुपति सहाय ने अपनी समीक्षा में इसे एक तथ्यपरक भूल माना था। लेकिन, 31 मई वाली पाठकीय प्रतिक्रिया में उपन्यासकार के पक्ष में इस भूल पर यह दलील दी गई : "यह उपन्यास वास्तव में वर्तमान दशा का चित्र है, लेकिन स्थायी दशा का, अस्थायी दशा का नहीं। अपील की मीयाद कोई स्थायी दशा नहीं हैं। कौंसिल की व्यवस्था इस दशा का अन्त कर सकती है। इसी प्रकार व्यवस्थापक सभाएँ स्थायी हैं, असहयोग अस्थायी दशा है। कांग्रेस का एक प्रस्ताव भी शासकों की इस घोषणा का अंत कर सकता है। वकील, जमींदार, किसान, पुलिस, पटवारी आदि सब वर्तमान जीवन के स्थायी अंग हैं और किसी न किसी रूप में रहेंगे। स्वराज्य केवल उनका संशोधन कर सकता है, उनका अस्तित्व नहीं मिटा सकता।" और अंत में लिखा: "हमारा विश्वास है कि स्वराज्य होने पर अपील की

मीयाद और हाई कोर्ट में मातहत अदालतों की शहादतों पर आश्रित रहने की प्रथा का अन्त हो जाएगा। गवाहों को भी अपने पहले बयान पर स्थिर रहने का बन्धन न होगा।''

यह जवाब, जाहिर है, एक असहयोगी का जवाब है। भाषा और वाक्य-रचना में कुछ अटपटेपन के बावजूद इसका तर्क स्पष्ट है और इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इससे उस वक्त स्वराज्य के प्रति क्या धारणा थी, क्या उम्मीदें थीं, इसकी भी झलक मिलती है। उपन्यास के जिस मुद्दे पर बहस चल रही थी, उस सिलसिले में इस तर्क का मतलब यह था कि उपन्यास में अपील की मीयाद और हाईकोर्ट में बदले हुए बयानों में जो कानूनी गलतियां हैं, उन्हें गलतियाँ नहीं समझना चाहिए। ये कानून तो ब्रिटिश राज के हैं और ब्रिटिश राज सब दिन तो रहेगा नहीं। ब्रिटिश राज अस्थायी दशा है। जल्द ही उसका अन्त होगा और स्वराज्य आएगा। स्वराज्य में अपील की मीयाद और बयान बदलने के बारे में ऐसे कानूनी बन्धन नहीं रहेंगे उपन्यास में ऐसे वर्णन को अंग्रेजी राज के कानूनों की दृष्टि से न देखकर आने वाले स्वराज्य में जो कानून होंगे, उनकी दृष्टि से देखना चाहिए। उस दृष्टि से ये गलतियाँ गलतियाँ नहीं रह जातीं। चूँकि स्वराज्य में भी कौंसिलें हुआ करेंगी, इसलिए प्रेमशंकर के कौंसिल में जाने की घटना पर आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

1922 में 'प्रेमाश्रम' को न सिर्फ असहयोग-आन्दोलन की दृष्टि से देखा गया, बल्कि एक अर्थ में खुद 'प्रेमाश्रम' भी असहयोग-आन्दोलन का अंग बन गया। 'प्रेमाश्रम' का पहला संस्करण खद्दर की जिल्द में छपा था। 'प्रभा' वाली समीक्षा के फुटनोट में उपन्यास के प्रकाशन का विवरण देने वाली टिप्पणी में छपा था : "655 पृष्ठ, खद्दर में बँधी मजबूत जिल्द। मूल्य साढ़े तीन रुपए।'' किसी भी बड़े जन-आन्दोलन में हमेशा ही अपने घोषित कार्यक्रम के बाहर भी फैल जाने की प्रवृत्ति हर जगह मिलती है। असहयोग-आन्दोलन भी ऐसा ही व्यापक जन-आन्दोलन था जिसके घोषित कार्यक्रम के बाहर जनता की कल्पनाशीलता ने आन्दोलन की मूल भावना के अनुरूप और भी मुद्दे जोड़ दिए थे। गांधी टोपी पहनना इसका एक उदाहरण था। दूसरा उदाहरण था खद्दर की जिल्द। किताबों पर खद्दर की जिल्द का मुद्दा किस तरह आन्दोलन में जुड़ गया, इसका पता 1922 की फरवरी के 'श्रीशारदा' (जबलपुर) के अंक से मिलता है। इसके पुस्तक परिचय स्तम्भ में उन्हीं दिनों छपी

रामचन्द्र वर्मा की किताब **महात्मा गांधी** की समीक्षा में यह नुक्ताचीनी की गई कि किताब की जिल्द खद्दर की नहीं है। समीक्षक ने लिखा : "अन्त में हमें वही कहना है जो हमने 'गांधी गौरव' के विषय में लिखा था कि पुस्तक जिस प्रकार सर्वथा पठनीय हुई हे, उसी प्रकार यदि जिल्द बँधवाने में विदेशी वस्त्र के बदले में धवल कान्ति खादी का व्यवहार किया गया होता जैसे कि कलकत्ते की हिन्दी पुस्तक एजेंसी, काशी का ज्ञान मण्डल आदि कतिपय पुस्तक प्रकाशक करने लगे हैं।, तो कोई भी देश-भक्त भारतवासी इस पुस्तक को अपने पास रखने में अपना गौरव समझता। आशा है, प्रकाशक भविष्य में इस ओर ध्यान देंगे और ज्ञान भण्डार के स्वदेशीपन की पूर्ण रक्षा करेंगे।" विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आन्दोलन पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय में भी फैल रहा था। राष्ट्रवादी प्रकाशक विदेशी कपड़े का बहिष्कार कर अपने यहाँ किताबों पर खद्दर की जिल्द बँधवाने लगे थे। खद्दर में बँधी जिल्द देश-भक्त भारत-वासियों के लिए गौरव की चीज हो चली थी। इससे ज्ञान भण्डार के स्वदेशीपन की रक्षा होती थी। हिन्दी पुस्तक एजेंसी से छपा प्रेमाश्रम' खद्दर की जिल्द में बँधकर खुद भी उस आन्दोलन का एक अंग बन गया।

लेकिन, सिर्फ इसी एक अर्थ में वह आन्दोलन का अंग नहीं था। वह आन्दोलन के प्रचारक के रूप में, आन्दोलन की विचारधारा के रूप में भी उस आन्दोलन का अंग बन गया था। रूसी क्रान्ति में मैक्सिम गोर्की का उपन्यास **माँ** जिस अर्थ में क्रान्ति का अंग बन गया था, उसी अर्थ में प्रेमाश्रम भी एक हद तक असहयोग-आन्दोलन का अंग बन गया था।

जिस दिन प्रेमाश्रम की पहली समालोचना छपी, उस दिन लखनऊ में जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार किए गए। जेल में बन्द नेहरू ने अपना ज्यादातर वक्त किताबों को पढ़ने में बिताया। 'किताबें जिनको जेल में पढ़ा'-शीर्षक देकर नेहरू खद्दर की जिल्दवाली अपनी नोटबुक में 21 मई, 1922 के बाद से पढ़ी गई किताबों के नाम उनके लेखकों के नाम सहित दर्ज किए और उनके सामने किताब पढ़कर खत्म करने की तारीखें डालीं। ज्यादातर किताबें अंगरेजी की थीं, यूरोप के साहित्य, इतिहास और दर्शन से सम्बन्धित। दो-तीन किताबों हिन्दी की भी थीं। ऐसी पचपन किताबों की सूची में 33वीं किताब थी-प्रेमाश्रम', लेखक प्रेमचन्द। आगे पढ़कर खत्म करने की तारीख डाली-7-10-22। उपन्यास प्रकाशित होने के सिर्फ छः

महीने के अन्दर असहयोग आन्दोलन के अंगरेजीदां नेता जवाहरलाल ने इसे पढ़ लिया था। (पृ० 304, जवाहरलाल नेहरू वाङ्मय-I)

जेल में स्वराज्यवादियों द्वारा प्रेमाश्रम पढ़ने की यह पहली ज्ञात घटना है, लेकिन आखिरी नहीं। 1936 में 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति अंक में अनुसूया प्रसाद पाठक का लेख छपा: हिन्दी साहित्य के अभिमान प्रेमचन्द। उसमें उड़ीसा निवासी अनुसूया प्रसाद ने पुराने दिनों की याद की जब बिहार और उड़ीसा एक ही सूबा था और राजनीतिक आन्दोलन में पकड़े गए उड़िया कार्यकर्ताओं को भी पटना के बाँकीपुर केन्द्रीय कारा में रखा जाता था। अनुसूया प्रसाद ने असहयोग आन्दोलन को नहीं, सविनय अवज्ञा आन्दोलन को याद करते हुए लिखा: "सन् 1932 ई० की बात है। जेलें तीर्थ बनी थीं। क्या बूढ़े, क्या युवक-युवती, क्या बालक, सभी जेलों में थे। बिहार के पटना कैम्प जेल में स्वराजी कैदियों की संख्या पैंतीस सौ थी-एक छोटा नगर-सा था। आवश्यकता की सभी चीजें मिलती थीं, चाहे चोरी से हों, या सचाई से। मैं भी वहाँ जेल में था। उसमें करीब सात सौ उत्कली भी थे। एक दिन मैंने एक कैदी के हाथ में 'प्रेमाश्रम' नाम की एक मोटी किताब देखी। नाम सुना था, मन खिंच गया। जरा गौर से देखा, पुस्तक के कोने में प्रेमचन्द लिखा था। मैं इस नाम से परिचित था। कुछ कहानियाँ और 'सेवासदन' आगे भी देख चुका था। अस्तु, दोस्ती गाँठने में देर न लगी। पुस्तक मुझे मिली, पढ़ गया। साथ के मित्रों को भी पढ़ने के लिए उत्साहित किया। वे उड़िये थे। प्रेमचन्द का नाम मात्र सुना था। ग्रन्थों से भेंट न थी। पुस्तक उन्हें बहुत ही पसन्द आयी। जो पढ़ते, तारीफ करते थे, पुस्तक के पात्रों पर प्रकाश डालते थे।" उस जेल में यह उपन्यास कैदी कार्यकर्ताओं का साथी बन गया। अनुसूया प्रसाद ने लिखा : प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' दो-दो बार पढ़ी।उस जेल में वही साथी थी। पात्रों के चरित्र वहाँ बलदाता थे। कर्म में सहायक और स्फूर्तिदायक थे। तब तक यह उपन्यास विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में आ चुका था। पर वह राष्ट्रीय आन्दोलन के अघोषित पाठ्यक्रम में आ चुका था। पर वह राष्ट्रीय आन्दोलन के अघोषित पाठ्यक्रम में पहले से ही था। उसका पाठ स्वाधीनता आन्दोलन में शामिल कार्यकर्ताओं के संघर्ष में सहायक और स्फूर्तिदायक था। उसके चरित्र उन्हें संघर्ष में बल प्रदान करते थे।

यह इत्तेफाक की बात नहीं कि उपन्यास की सराहना करने वाले और उससे बल और स्फूर्ति पाने वाले लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल और सक्रिय लोग थे।

नेहरू और अनुसूया प्रसाद ने उपन्यास जेल में पढ़ा, तो रामदास गौड़ ने भी उपन्यास की प्रस्तावना जेल से ही लिखकर भेजी थी। वे असहयोग आन्दोलन में गिरफ्तार होकर आगरे की जेल में बन्द थे जहाँ उनके साथ राम नरेश त्रिपाठी, कृष्णकान्त मालवीय तथा हिन्दी-उर्दू के दूसरे कवि-शायर भी थे जिन्होंने जेल के अन्दर ही मुशायरा और कवि सम्मेलन किया जिसकी रिपोर्ट श्री शारदा में छपी। उपन्यास पर सबसे प्रभावशाली समीक्षा लिखने वाले रघुपति सहाय फिराक भी असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में जेल में बन्द थे और जेल से ही उन्होंने वह समीक्षा लिखकर 'प्रभा' में भेजी जिसमें लेखक के नाम से पहले 'कारागार प्रवासी' शब्द भी जुड़े थे। उन्होंने अपने शहर गोरखपुर के पास पिसरा बाजार कस्बे में और आस-पास के गाँवो में असहयोग आन्दोलन को संगठित किया था, जिस पर हुए दमन की रिपोर्ट कानपुर के 'प्रताप' अखबार में तीन अप्रैल 1922 को छपी। पिपरा बाजार के इलाके में पुराने माडरेटों का जोर था। असहयोग की हवा गर्म हुई तो 22 फरवरी को वहाँ पुलिस पहुँच गयी। गाँव के किसानों को मारा-पीटा, वालेंटियरों को पकड़ा। मर्द भाग गए। उनकी औरतों से जबरन रुपए, वसूले गए, देहात में फौज घूमी और जबरन रसद वसूली।

हेमचन्द जोशी अकेले व्यक्ति थे जिन्होंने उस वक्त इस उपन्यास की कड़ी निन्दा की, प्रेमचन्द को मामूली लेखक बताया जिसमें कला की कोई समझदारी नहीं। उपन्यास को दो कौड़ी का साबित करते हुए लिखा कि 'प्रेमाश्रम' में धरा ही क्या है। बंगला या यूरोपीय साहित्य के मुकाबले में प्रेमाश्रम में कुछ नहीं था, पर हिन्दी जैसी दरिद्र साहित्य वाली भाषा में प्रेमचन्द के विरोधी जोशी तक ने लिखा : "यह पुस्तक हिन्दी में अच्छी है।" और साथ में जोड़ा "महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन को सहायता पहुँचाएगी।"

उस युग ने **प्रेमाश्रम** को इसी राजनीतिक अर्थ में ग्रहण किया था।

12. 'रंगभूमि' : एक राजनीतिक उपन्यास

गोपाल

'रंगभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास है। राजनीतिक उपन्यास लिखने के लिए राजनीतिक यथार्थ और उसकी जटिलताओं की अच्छी जानकारी और समझ नितान्त आवश्यक है। 'रंगभूमि' का रचना-काल अक्तूबर, 1922 से अगस्त, 1924 के बीच है। इस समय तक आते-आते जहाँ, एक तरफ, ब्रिटिश शासन की जड़ें बहुत मजबूत हो चुकी थीं, वहाँ दूसरी तरफ उसके खिलाफ स्वाधीनता संग्राम भी तेज होने लगा था। 1920 ई. में ही गांधीजी ने मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास और लाला लाजपत राय के सहयोग से सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दिया था। इस आन्दोलन के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे थे : स्वदेशी का प्रचार, विदेशी वस्तुओं तथा सरकारी स्कूल-कालेजों और सरकारी नौकरियों का परित्याग, अदालतों तथा कौंसिलों का बहिष्कार, राष्ट्रीय विद्यालयों-महाविद्यालयों की स्थापना, अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक एकता कायम करना आदि। इसे सफल बनाने के लिए गांधीजी ने सारे देश का व्यापक दौरा किया। इसी सिलसिले में 8 फरवरी, 1921 को गोरखपुर में गांधीजी का भाषण हुआ और 15 फरवरी, 1921 को प्रेमचन्द ने अपनी लगभग 21 वर्षों की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

अगस्त 1920 से जनवरी 1922 तक असहयोग-आन्दोलन पूरे जोर पर रहा। आन्दोलन की सफलता के लिए तिलक फण्ड की स्थापना की गयी थी जिसमें निर्धारित लक्ष्य से अधिक धन इकट्ठा हुआ। लाखों की संख्या में चरखे वितरित किये गये। स्वयंसेवकों की संख्या निर्धारित लक्ष्य के आधे पर पहुँच गयी। छात्रों और अध्यापकों ने शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया। अदालतों का भी बहिष्कार हुआ। अनेक लोगों ने सरकारी उपाधियाँ लौटायीं। नरम दल के कांग्रेसियों तथा कुछ अन्य सरकारपरस्त राजनीतिज्ञों ने कौंसिलों के चुनाव का बहिष्कार नहीं किया, पर कांग्रेस ने मतदान का विरोध किया और जनता ने उसका साथ दिया। विदेशी वस्तुओं के परित्याग में भी पर्याप्त सफलता मिली। इन बीस महीनों में हिन्दुओं और मुसलमानों ने आपसी सहयोग का भी अभूतपूर्व परिचय दिया। जुलाई 1921 तक असहयोग-आन्दोलन ने देश में राष्ट्रीय जागृति की लहर पैदा कर दी थी। पर इस आन्दोलन का ब्रिटिश शासकों पर कोई खास असर नहीं पड़ा। वे प्रलोभन, दमन

और फूट डालने की नीति का अनुसरण कर आन्दोलन को दबाने की कोशिश में लगे हुए थे। 5 अक्तूबर, 1921 को कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने के लिए अधिकृत कर दिया। नवम्बर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आये। कांग्रेस के आह्वान पर उनका स्वागत सारे देश में हड़तालों, प्रदर्शनों और राजनीतिक सभाओं द्वारा हुआ। इसी समय कलकत्ता में चित्तरंजन दास के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ हुआ। उनके आह्वान पर हजारों की संख्या में युवकों ने स्वयंसेवक दल में नाम लिखाया। जवाब में सरकार ने दमन का रुख अपनाया और चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, लाला लाजपत राय आदि गिरफ्तार कर लिये गये।

गांधीजी ने फरवरी 1922 में वारदोली में सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने की घोषणा की। पर इसी बीच 2 फरवरी को चौरी-चौरा काण्ड हो गया और गांधीजी ने आन्दोलन वापस ले लिया। आन्दोलन के अचानक वापस ले लिये जाने के फलस्वरूप राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में किंकर्त्तव्य विमूढ़ता की स्थिति पैदा हो गयी। कांग्रेस के नेता दो दलों में बँट गये। एक दल उन लोगों का था जो असहयोग और बहिष्कार के कार्यक्रम को जारी रखना चाहते थे। दूसरा दल उन नेताओं का था जो कौंसिलों का चुनाव लड़ने के पक्ष में थे। खिलाफतवादी भी दो दलों में बँट गये। अनेक मुसलमान नेताओं का असहयोग तथा गांधीजी के नेतृत्व में विश्वास उठ गया और वे सरकार के समर्थक बन गये। शेष गांधीजी के मार्ग के अनुयायी बने रहे। राष्ट्रीय शक्तियों के इस विभाजन से सरकार का हौंसला बढ़ गया। 10 मार्च 1922 को गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें छह साल की सजा मिली।

जैसा कहा जा चुका है, 'रंगभूमि' का रचना-काल 1922-24 ई. है और इसमें प्रेमचन्द ने अपने समय के राजनीतिक यथार्थ का चित्रण उसकी समस्त जटिलता, गहराई और व्यापकता में किया है। उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द खुल्लमखुल्ला अंगरेजी सरकार के खिलाफ बगावत नहीं करते, कदाचित् उनकी पारिवारिक परिस्थितियाँ और मानसिकता इसके अनुकूल नहीं थीं। गांधीजी द्वारा 1920 में चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलन या प्रस्तावित सविनय अवज्ञा आन्दोलन को -उनके तहत अपनाये गये कार्यक्रमों को - प्रेमचंद उसी रूप में चित्रित नहीं करते। 'रंगभूमि' के तीसरे परिच्छेद में एक 'सेवा समिति' का चित्र प्रस्तुत किया गया है

जिसके संचालक, संरक्षक, नीति-निर्धारक रानी जाह्नवी, कुंवर भरतसिंह, डा. गांगुली आदि हैं। इसके अन्तर्गत युवक स्वयंसेवकों का एक दल है जिसका नेता कुँवर भरतसिंह का पुत्र विनयसिंह है। आरम्भ में इस सेवा समिति का उद्देश्य रखा गया है: मेले-ठेले में यात्रियों की सहायता करना, कोई दुर्घटना हो जाने पर पीड़ित व्यक्तियों को मदद पहुँचाना या कहीं अकाल वगैरह पड़ जाने पर अकाल-पीड़ितों की सहायता करना। किसी भी कल्याणधर्मी राज्य (वेलफेयर स्टेट) में ये कार्य सरकार के होते हैं, पर ब्रिटिश सरकार इसे अपना उत्तरदायित्व नहीं मानती थी। सरकार इस उद्देश्य से स्थापित गैरसरकारी संस्थाओं पर कोई प्रतिबन्ध तो नहीं लगाती थी. पर उन्हें सन्देह की दृष्टि से अवश्य देखती थी। सरकार को सदा शंका बनी रहती थी कि इस प्रकार की संस्थाएँ कहीं राजनीतिक रूप न ले लें। जाहिर है कि साहित्य में ऐसी संस्थाओं के चित्रण पर भी कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था, अत: प्रेमचन्द को अपने राजनीतिक विचारों और अनुभूतियों के चित्रण के लिए यही मार्ग सुकर और व्यावहारिक लगा।

यह महत्वपूर्ण बात है कि प्रेमचन्द ने रानी जाह्नवी और कुँवर भरतसिंह द्वारा स्थापित 'सेवा समिति' को समकालीन राजनीतिक जीवन के अंकन का बहाना भर बनाया है। इस समिति का अपना गीत है जो विशेष अवसरों पर सामूहिक रूप से गया जाता है। कवित्व की दृष्टि से 'रंगभूमि' का यह गीत बहुत कमजोर है, पर प्रेमचन्द के उद्देश्य का स्पष्टीकरण इससे बहुत अच्छी तरह हो जाता है। इस गीत की कुछ पंक्तियाँ है :

> शान्ति समर में कभी भूलकर धैर्य नहीं खोना होगा,
> वज्र प्रहार भले सिर पर हो, नहीं किन्तु रोना होगा।
> अरि से बदला लेने का मन-बीज नहीं बोना होगा,
> घर में कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा।
> देश-दाग को रुधिर वारि से हर्षित हो धोना होगा,
> देश कार्य की भारी गठरी सिर पर रख ढोना होगा।
> आँखे लाल, भवें टेढ़ी कर, क्रोध नहीं करना होगा।
> बलिवेदी पर तुझे हर्ष से चढ़कर कट-मरना होगा।
> होगी निश्चय जीत धर्म की यही भाव भरना होगा,
> मातृभूमि के लिए जगत में जीना औ मरना होगा।

इस गीत में **शान्ति समर** में धैर्य न खोने, **मातृभूमि** के लिए जीने और मरने, पराधीनता के कलंक को रुधिर वारि से धोने, हिंसा-मार्ग न अपनाने, शत्रु से बदला लेने का भाव मन में न रखने आदि का स्पष्ट कथन है, जो 'सेवा-समिति' के घोषित उद्देश्य से बहुत अलग हटकर है और प्रेमचंद के असली लक्ष्य को संकेतिक करता है। इसमें **गांधीवादी तरीके** से आजादी की लड़ाई का बिल्कुल स्पष्ट संकेत है।

इस सेवा-समिति का पहला कार्यक्रम यह बनता है कि उसका एक दल विनयसिंह के नेतृत्व में अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए राजस्थान जाता है और उदयपुर रियासत को अपना कार्य-क्षेत्र बनाता है। प्रेमचन्द ने सेवा-समिति के कार्यक्षेत्र को राजपूताना ले जाकर एक तरफ तो अपने को सरकारी प्रकोप से बचाने का उपाय किया है और दूसरी ओर उस बहाने सारे देश की जनता की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है। स्वयंसेवक-दल के राजस्थान-प्रयाण का वर्णन किसी 'सेवादल' के प्रयाण का वर्णन न लगकर स्वाधीनता-संग्राम में प्राणों की आहुति देने वाले स्वयंसेवक-दल का वर्णन प्रतीत होता है :

"**राष्ट्रीय गान** हो रहा था, यात्री नंगे सिर, नंगे पैर, एक-एक कुरता पहने, हाथ में लकुटी लिये, गरदनों में एक-एक थैली लटकाये चलने को तैयार थे। सबके सब प्रसन्न बदन, उल्लास से भरे हुए, **जातीयता के गर्व से उन्मत्त थे,** जिनको देखकर दर्शकों के मन गौरवान्वित हो रहे थे।"

इस दृश्य का लोगों के मन पर कैसा असर पड़ता है, इसकी झलक राजा महेन्द्रकुमार जैसे सरकार-भीरु व्यक्ति के निम्न कथन से मिलती है:

"...... तुमने आज जातीय उद्गारों का एक अपूर्व दृश्य देखने का अवसर खो दिया। बड़ा ही मनोहर दृश्य था। कई हजार मनुष्यों ने जब यात्रियों पर पुष्प-वर्षा की तो सारी भूमि फूलों से ढँक गयी। सेवकों का राष्ट्रीय गान इतना भावमय, इतना प्रभावोत्पादक था कि दर्शक वृन्द मुग्ध हो गये। मेरा हृदय जातीय गौरव से उछल पड़ता था......."।

यह वर्णन निश्चय ही स्वाधीनता-संग्राम के स्वयंसेवकों की विदाई का वर्णन है। **प्रेमचन्द ने सेवा-समिति की आड़ में अपने राष्ट्र प्रेम को अभिव्यक्त किया है।**

अब हमें यह देखना है कि उदयपुर रियासत में पहुँचकर यह सेवा-समिति क्या करती है? कथाकार बतलाता है कि विनय के नेतृत्व में सेवा-समिति के स्वयंसेवक गाँव-गाँव जाकर ग्रामीणों को संगठित करते हैं, पंचायतों की प्रणाली कायम करते हैं और उन्हें स्वावलम्बी बनाने का प्रयास करते है। इन संगठनों के फलस्वरूप "अब लोग वन्य जन्तुओं को भगाने के लिए पुलिस के यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें मार भगाते हैं, जरा-जरा सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं, जहाँ कहीं कुएँ न थे, वहाँ अब पक्के कुएँ तैयार हो गये हैं, सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाजे पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किये जाते।" सेवा-समिति के सदस्य बीमार लोगों की चिकित्सा करते हैं, लोगों के पारस्परिक कलह मिटाते हैं। जो शासन किसी जाति को हमेशा के लिए गुलाम बनाकर रखना चाहता है, उसके लिए आम जनता का इस प्रकार संगठित होना खतरनाक लग सकता है। **पर विनय की सेवा-समिति इतना ही नहीं करती, वह जगह-जगह किसान-सभाएँ बनाती है, किसानों को बेगार न करने और नाजायज कर न देने के लिए प्रेरित क[illegible] तथा आर्थिक समानता का प्रचार करती है।** पोलिटिकल रेजिडेण्ट की रिपा[illegible] का हवाला देते हुए सरदार नीलमणि कहते हैं : "कोई कोटा में कृषकों की सभाएँ बनाता फिरता है, कोई बीकानेर में बेगार की जड़ खोदने पर तत्पर हो रहा है, कोई मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है, जो परम्परा से वसूल होते चले आये हैं। आम लोग साम्यवाद का डंका बजाते फिरते हैं। आपका कथन है, प्राणिमात्र को खाने-पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है।'

स्पष्ट है कि कुँवर भरतसिंह की सेवा-समिति राजस्थान में 'जनता की सेवा' की आड़ में, बिना कोई राजनीतिक घोषणा किये आम जनता को न केवल संगठित कर रही है, वरन् 'बोलशेविज्म' के मार्ग पर भी ले जा रही है। स्वभावत: राज्य का अधिकारी वर्ग विनय का विरोधी हो जाता है, क्योंकि 'दारोगा की मुट्ठियाँ अब गर्म नहीं होतीं, कामदार और अन्य कर्मचारियों के यहाँ मुकदमे नहीं आते। कुछ हत्थे नहीं चढ़ता।" अधिकारी वर्ग इसे जनता में विद्रोह का अंकुर उगना समझता है। विनय की गतिविधियों की जानकारी रखने के लिए उसके पीछे गुप्तचर लगा दिये जाते हैं और एक दिन उसे 'डाकुओं' से मिले होने के अपराध में कैद भी कर लिया जाता है।

उदयपुर की रियासत के खिलाफ वीरपालसिंह के नेतृत्व में आतंकवादियों का एक दल भी सक्रिय है। इस दल का कोई राजनीतिक लक्ष्य नहीं है, वह केवल अधिकारियों द्वारा प्रजा पर किये जानेवाले अत्याचार और दमन की प्रतिक्रिया में संगठित हुआ है और उसका कार्य सरकारी खजाना लूटना, अधिकारियों की हत्या करना आदि तक सीमित है वीरपाल ने राज्य के नौकरों को नेस्तनाबूद करने का प्रण किया है। वह विनयसिंह से रियासत में होनेवाला अन्याय, अत्याचार और दमन की कहानी कहता है। "..........ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है न धर्म। हैं हमारे ही भाई-बन्द, पर हमारी ही गरदन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने जरा साफ कपड़े पहने और ये लोग उसके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है।........दिन-दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायेगा।...........यही समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओं का एक गोल है, सबके सब मिलकर शिकार करते है। और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू.....या तो विलायत की सैर करेगा, या यहाँ अंगरेजों के साथ शिकार करेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा।.......प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से।''

ध्यानपूर्वक देखें तो वीरपाल का उपर्युक्त कथन न केवल देशी रियासतों पर वरन् बहुत दूर तक ब्रिटिश सरकार द्वारा शासित देश के अन्य भागों पर भी लागू होता है। यह भी स्मरणीय है कि तत्कालीन देशी रियासतें ब्रिटिश सरकार के अधीन थीं उन्हें केवल प्रजा का शोषण और दमन करने की छूट थी, कोई राजनीतिक स्वतंत्रता उन्हें नहीं थी। 'रंगभूमि' में इस सच्चाई का चित्रण हुआ है। पोलिटिकल एजेण्ट के कितने अधिकार थे, इसका पता क्लार्क के इस कथन से चलता था: ". .....उसका अधिकार सर्वत्र, यहाँ तक कि राजा के महल के अन्दर भी होता है। रियासत का कहना ही क्या, वह राजा के खाने, सोने, आराम करने का समय तक नियत कर सकता है। राजा किससे मिले, किससे दूर रहे, किसका आदर करे, किसकी अवहेलना करे, ये सब बातें एजेण्ट के अधीन हैं।.....बस यों समझो कि वह रियासत का खुदा होता है।''

कहने का तात्पर्य यह कि विनय या वीरपाल द्वारा किसी देशी रियासत के खिलाफ संघर्ष अन्ततः ब्रिटिश सरकार से संघर्ष ही है। प्रेमचन्द ने इस उद्देश्य से ही इस

कथानक की योजना की है और इसके माध्यम से उन्होंने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जारी स्वाधीनता-संग्राम के अनेक आयामों का चित्रण किया है।

स्वाधीनता की लड़ाई में प्रेमचंद गांधीजी के अहिंसा मार्ग के समर्थक जान पड़ते हैं। वे वीरपाल के माध्यम से हिंसा मार्ग का तथा विनय के माध्यम से अहिंसा मार्ग का चित्रण करते हैं। प्रेमचन्द वीरपाल के प्रति कहीं भी असहानुभूति नहीं प्रदर्शित करते, पर कदाचित् अपना समर्थन विनय को देते जान पड़ते हैं। विनय अहिंसा मार्ग का अनुयायी है। वह वीरपाल को, पहली ही मुलाकात में, हिंसा का मार्ग छोड़ने की सलाह देता है। जब 'डाकुओं' से मिले होने के सन्देह में विनय को पकड़कर जेल में डाल दिया जाता है तो वीरपाल और उसके आदमी जेल की दीवार में सेंध लगाकर विनय के पास पहुँच जाते हैं, उसे अपने साथ निकल भागने का अनुरोध करते हैं। पर विनय इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। वह वीरपाल और उसके अनुयायियों को 'अधर्मी' कहता है और न्यायालय से निर्दोष सिद्ध हो जाने के बाद ही मुक्त होने का अपना निश्चय व्यक्त करता है। वीरपाल राज्य के न्यायालयों से न्याय न मिलने की कटु सच्चाई सामने रखता है पर विनय भ्रम में है। वह कहता है: "इस राज्य को हम लोगों ने सदैव गौरव की दृष्टि से देखा है, महाराजा साहब को आज भी हम उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वह उन्हीं सांगा और प्रताप के वंशज हैं, जिन्होंने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। ......राज्य पर दोषारोपण करके हम अपने को उस महान् वस्तु के अयोग्य सिद्ध करते हैं, जो हमारे जीवन का लक्ष्य और इष्ट है।"

यह आचरण और विचार महात्मा गांधी के आचरण और विचारों के अनुरूप है। जब 1922 में गांधीजी पकड़े गये और उनपर मुकदमा चला तो उन्होंने सरकार से स्वयं को कड़े-से-कड़ा दण्ड देने का अनुरोध किया, क्योंकि वे अपने को सरकार के विरुद्ध जनता को भड़काने के लिए दोषी मानते थे। ब्रिटिश सरकार के प्रति गांधीजी की आस्था भी पूरी तरह से बनी हुई थी और 'अपने जीवन के लक्ष्य और इष्ट' के लिए वे भी परम्परागत नैतिक मूल्यों पर दृढ़ बने रहने के आग्रही थे।

पर विनय गांधीवादी मार्ग पर अधिक देर तक नहीं टिकता। कुछ दिनों तक मोहग्रस्त रहने के बाद जब उसका मोहभंग होता है तो वह रियासत के दीवान को धमकी देते हुए कहता है:.....यदि आपने मेरा अनुरोध न माना तो आप रियासत में ऐसा विप्लव मचा देंगे, जो रियासत की जड़ हिला देगा। मैं यहाँ से मि. क्लार्क

के पास जाता हूँ। उनसे भी यही अनुरोध करूँगा, और यदि वह भी न सुनेंगे, तो हिज हाइनेस की सेवा में भी यही प्रस्ताव उपस्थित करूँगा। अगर उन्होंने भी न सुना तो फिर इस रियासत का मुझसे बड़ा और कोई शत्रु न होगा।'' विनय की इस धमकी में हिंसा का स्वर स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ता है। यद्यपि विनय इसके बाद भी कुछ करता नहीं, जो उसके चरित्र की दुर्बलता का द्योतक है। इसके बाद विनय और सोफिया राजस्थान छोड़कर बनारस आ जाते हैं और सेवा-समिति का संचालन करने लगते हैं। उपन्यासकार पाठकों को सूचित करता है कि "जब से सोफिया और विनयसिंह आ गये थे, सेवक-दल बड़ी उन्नति कर रहा था। उसकी राजनीति की गति दिन-दिन तीव्र और उग्र होती जाती थी।'' इससे यह संकेतित होता है कि विनय अन्ततः उग्र राजनीति की ओर अग्रसर होता जाता है जो गांधीजी का मार्ग नहीं है।

'रंगभूमि' की राजस्थान सम्बन्धी कथा के माध्यम से प्रेमचन्द समकालीन राजनीति के और कई पक्षों का चित्रण करते हैं। क्लार्क उदयपुर रियासत का पोलिटिकल एजेण्ट होकर वहाँ के विभिन्न नगरों का दौरा करता है। उसके स्वागत में राज्य की तरफ से जोरदार तैयारियाँ होती हैं, पर सामान्य जनता उदासीन ही रहती है। इस प्रसंग के माध्यम से कथाकार ने नवम्बर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन पर सामान्य जनता की तीव्र प्रतिक्रिया का चित्रण किया है। उस अवसर पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प्रिस ऑफ वेल्स की भारत-यात्रा का बहिष्कार करने का निश्चय किया और जहाँ-जहाँ युवराज गये उनका स्वागत-हड़तालों, प्रदर्शनों और राजनीतिक सभाओं में विरोध प्रदर्शन द्वारा हुआ। इस स्थिति की झलक हमें क्लार्क के स्वागत के चित्रण में मिलती है। उपन्यासकार लिखता है : "सड़कों के दोनों तरफ संशस्त्र सिपाहियों की सफें खड़ी कर दी गयी हैं कि प्रजा की अशान्ति का कोई चिन्ह भी न नजर आने पाये। सभाएँ करने की मनाही कर दी गयी है।'' उसके स्वागत में "फूलों की वर्षा हो रही थी, पर छतों से नहीं, सिपाहियों के हाथों से। ......नगर में कहीं आनन्दोत्साह का चिन्ह नहीं हैं।, सियापा सा छाया हुआ है, न पग-पग पर जयध्वनि है, न कोई रमणी आरती उतारने आती है, न कहीं गाना-बजाना है। मानो किसी पुत्र शोक मग्न माता के सामने बिहार हो रहा हो।''

कथाकार नये-नये प्रसंगों की सृष्टि करके सरकार के विरुद्ध जनता के आक्रोश और विद्रोह तथा सरकार द्वारा उसके दमन का चित्रण करता है। एक दिन क्लार्क की

मोटर से दबकर एक आदमी की मृत्यु हो जाती है। इस पर लोगों की भीड़ क्लार्क की मोटर को घेर लेती हैं और जब क्लार्क के आज्ञा देने पर भी लोग नहीं हटते तो वह गोली चला देता है जिससे एक आदमी की मृत्यु हो जाती है। पर इससे जनता भयभीत नहीं होती। उत्तेजित भीड़ क्लार्क का बंगला घेर लेती है। इसका वर्णन कथाकार निम्नलिखित शब्दों में करता है:

"जब राजभवन के निकट पहुँचे, तो इतनी भीड़ देखी कि एक-एक कदम चलना मुश्किल हो गया और भवन से एक गोली के टप्पे पर तो उन्हें विवश होकर रुकना पड़ा। सिर-ही सिर दिखायी देते थे। राजभवन के सामने एक बिजली की लालटेन जल रही थी और उसके उज्ज्वल प्रकाश में हिलता-मचलता, रुकता, ठिठकता हुआ जन-प्रवाह इस तरह भवन की ओर चला जा रहा था, मानो उसे निगल जायेगा। भवन के सामने सिपाहियों की एक कतार संगीने चढ़ाये, चुपचाप खड़ी थी।''

इस जनसमूह का नेता वीरपाल है और उसकी माँग मात्र इतनी है कि "भविष्य में ऐसी दुर्घटनाओं के लिए अपराधी को दण्ड दिया जाये।'' सोफिया भीड़ को सम्बोधित कर रही है। इसी बीच भीड़ से कोई व्यक्ति उस पर पत्थर चला देता है, जिससे वह घायल हो जाती है। इस पर पुलिस भीड़ पर गोली चार्ज कर देती हैं। भीड़ तो तितर-बितर हो जाती है पर वीरपाल सोफिया का अपहरण कर ले जाता है। इसके बाद सरकार का जो दमन चक्र चलता है उसके चित्रण के बहाने उपन्यासकार ने ब्रिटिश शासन-काल में स्वाधीनता-आन्दोलन के दमन का अंकन किया है: "सन्देह मात्र में लोग फाँस दिये जाते थे और उनको कठोरतम यातनाएँ दी जाती थीं। साक्षी और प्रमाण की कोई मर्यादा न रह गयी थी। इन अपराधियों के भाग्यनिर्णय के लिए एक अलग न्यायालय खोल दिया गया था। उसमें मँजे हुए प्रजा-द्रोहियों को छाँट-छाँटकर नियुक्त किया गया था। यह अदालत किसी को छोड़ना न जानती थी। किसी अभियुक्त को प्राणदण्ड देने के लिए एक सिपाही की शहादत काफी थी।'' "क्लार्क जब दौरे पर निकलता है तो एक अंग्रेजी रिसाला साथ ले लेता है और इलाके के इलाके उजड़वा देता है, गाँव के गाँव तबाह करवा देता है, यहाँ तक कि स्त्रियों पर भी अत्याचार करता है।''

यह दमन सोफिया जैसी कोमल भावोंवाली युवती को विद्रोही बना देता है। उसका देशप्रेम जाग्रत हो जाता है और वह विनय का, जिसे वह हृदय से प्रेम करती है,

तिरस्कार करने से बाज नहीं आती। वह प्रेम में अन्धा बन कर जनता पर अत्याचार करनेवाले विनय का तिरस्कार करती है: "....अगर आज तुम रियासत के हाथों पीड़ित, दलित, अपमानित और दण्डित होकर मेरे सम्मुख आते, तो मैं तुम्हारी बलाएँ लेती, तुम्हारे चरणों की रज मस्तक पर लगाती और अपना धन्य भाग समझती।'' सोफिया की प्रतिक्रिया के माध्यम से प्रेमचन्द ने ब्रिटिश शासन के प्रति अपने विचार व्यक्त किये हैं: "......मेरी दृष्टि में जिस राज्य का अस्तित्व अन्याय पर हो, उसका निशान जितनी जल्द मिट जाय, उतना ही अच्छा।'' शासन की दमनात्मक कार्रवाइयों से उत्तेजित होकर सोफिया हिंसक क्रांति पर उतर आती है। वह कहती है: ".....उन पापियों से खून का बदला लूँगी, जिन्होंने प्रजा की गर्दन पर छुरियाँ चलायी हैं। एक-एक को जहन्नुम की आग में झोंक दूंगी तब मेरी आत्मा तृप्त होगी।....जब तक अत्याचारियों के इस जत्थे का मूलोच्छेद न कर लूँगी, चैन न लूँगी, चाहे इस अनुष्ठान में मुझे प्राणों ही से क्यों न हाथ धोना पड़े, चाहे रियासत में विप्लव ही क्यों न हो जाए, चाहे रियासत का निशान ही क्यों न मिट जाय ?'' सोफिया के नेतृत्व में वीरपाल का दल सरकारी कर्मचारियों की हत्या करना आरम्भ करता है। जागीरें लूटी जाने लगती हैं और चारों ओर आतंक फैल जाता है। पर प्रेमचन्द इस हिंसा और आतंक की राजनीति के समर्थक नहीं हैं, इसलिए बड़े आकस्मिक और अस्वाभाविक ढंग से यह कथा समाप्त हो जाती है। आतंकवादियों द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये एक दारोगा की माँ से मुलाकात होते ही सोफिया का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह वीरपाल का साथ छोड़कर विनय के साथ बनारस लौट आती है। इस प्रसंग से न केवल आतंकवादी आन्दोलन की लक्ष्यहीनता का यथार्थ सामने आता है, वरन् प्रेमचन्द का गांधीवादी झुकाव भी प्रकट होता है।

राजस्थान के कथा-प्रसंग के द्वारा प्रेमचन्द ने स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति अंग्रेजों के रुख का चित्रण भी क्लार्क के माध्यम से किया है। लॉयड जॉर्ज ने, जो लिबरल दल का प्रधानमंत्री था, अपने 2 अगस्त, 1922 के पार्लियामेण्ट के प्रसिद्ध भाषण में राजनीतिक सुधारों की माँग को सर्वथा बेमानी बताते हुए कहा था: ".....मुझे वह समय बिल्कुल नहीं दिखायी पड़ता जब (भारतीय) ब्रिटिश सिविल सर्विस के मार्गदर्शन और सहायता के बिना अपना काम चला सकें।'' उसने यह भी कहा कि "ब्रिटेन किसी भी परिस्थिति में भारत में अपने उत्तरदायित्व का त्याग नहीं करेगा।'' (डॉ. ताराचंद, हिस्टरी ऑफ द फ्रीडम मूवमेण्ट इन इंडिया, भाग-4)

इसी नीति का पालन करते हुए रीडिंग ने, जिसने 2 अप्रैल, 1921 को गर्वनर जनरल का कार्यभाल सँभाला था, प्रलोभन, दमन और साम्प्रदायिक मतभेद के द्वारा स्वाधीनता-आन्दोलन को दबाने का कार्यक्रम अपनाया। 'रंगभूमि' का अंग्रेज अधि ाकारी पात्र लिबरल दल का है, पर वह भी उतना ही साम्राज्यवादी है जितना कंजरवेटिव दल का कोई सदस्य। यद्यपि वह सोफिया के प्रेम में अन्धा है और उसके इशारे पर नाचता है, पर उसके शब्दों से उसके साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का आभास मिले बिना नहीं रहता। जब सोफिया क्लार्क से विनय के प्रति सहानुभूति रखने की बात कहती है तो क्लार्क उत्तर देता है: "....जो सहानुभूति साम्राज्य की जड़ खोखली कर दे, विद्रोहियों को सिर उठाने का अवसर दे, प्रजा में अराजकता का प्रचार करे, उसे मैं अदूरदर्शिता ही नहीं पागलपन समझता हूँ।'' वह अन्यत्र कहता है: ".....हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे।.....हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेशमात्र भी शंका हो उसे हम कुचल डालना चाहते हैं, उसका नाश कर देना चाहते हैं, उसके साथ किसी भाँति की रियायत, सहानुभूति यहाँ तक कि न्याय का व्यवहार भी नहीं कर सकते।''

जब क्लार्क को ज्ञात होता है कि सोफिया आतंकवादियों से मिल गयी है तो उसकी बौखलाहट निम्न पंक्तियों में व्यक्त होती है: "....अब जाकर रहस्य खुला कि वह बोलशेविकों की एजेण्ट है। उसके एक-एक शब्द से उसकी बोलशेविक प्रवृत्ति टपक रही है।'' वह आगे कहता है "....अंग्रेज जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नैशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।.....रेडिकल और लेबर नेताओं के धोखे में न आओ।...... हम सबके सब-मैं लेबर हूँ-साम्राज्यवादी हैं। अन्तर केवल उस नीति में है जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिए ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस, वास्तव में नीति कोई है ही नहीं केवल उद्देश्य है, और वह यह कि क्योंकर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर दृढ़ हो।''

क्लार्क के इस कथन से अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति पर प्रकाश पड़ता है और प्रेमचन्द की राजनीतिक समझ का पता चलता है। क्लार्क सोफिया के नेतृत्व में

चलाये जा रहे आन्दोलन को 'बोलशेविक आन्दोलन' कहता है बोलशेविक आन्दोलन से उसका तात्पर्य है आम जनता के हिंसात्मक आन्दोलन से। यद्यपि वीरपाल और सोफिया के नेतृत्व में चलने वाला प्रतिशोध अभियान किसी भी अंश में 'बोलशेविक आन्दोलन' नहीं है पर इससे इस प्रकार के आन्दोलन के प्रति ब्रिटिश सरकार के रवैये का पता तो चलता ही है।

सेवक दल के राजस्थान-अभियान के दौरान बनारस में सेवा समिति की कार्यवाहियों पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। जैसा हम देख चुके हैं, सेवा-समिति के संरक्षक, संचालक हैं कुँवर भरतसिंह, रानी जाह्नवी, डा. गांगुली आदि। एक सूचना के अनुसार स्वयंसेवकों का एक दल डा. गांगुली के नेतृत्व में दुर्भिक्षग्रस्त गढ़वाल को जाता है। उपन्यास में इसका फिर कहीं जिक्र नहीं हुआ है। इस बीच समिति में स्वयंसेवकों की संख्या तीन सौ पहुँच चुकी है। सरकार सेवा-समिति को अत्यंत सन्देह की नजर से देखती है। स्वयंसेवकों के विदाई-समारोह में राजा महेन्द्रकुमार का शामिल होना सरकारपरस्त अखबारों की सुर्खियों का विषय बन जाता है। उनमें यह विचार व्यक्त किया जाता है कि "....अनुभव ने यह बात सिद्ध कर दी है कि सेवा-समितियाँ चाहे कितनी शुभेच्छाओं से गर्भित हों, पर कालान्तर में वे विद्रोह और अशान्ति का केन्द्र बन जाती हैं।'' उधर अंग्रेज कमिश्नर भी राजा साहब को बुलाकर उनसे इसकी कैफियत पूछता है और राजा साहब अपनी बरसों की वफादारी का हवाला देकर ही अपनी जान छुड़ाते हैं।

इस बीच दो बातें और होती हैं। एक यह कि सेवा समिति सूरदास के भूमि-संघर्ष से सम्बद्ध हो जाती है और कुँवर भरतसिंह प्रभुसेवक को, जो अपने घर से विद्रोह करके इस सेवा-समिति में शामिल हो गया है, समिति का प्रभारी बना देते हैं। जब गाँववालों तथा राजा महेन्द्रकुमार के षड्यन्त्र से सूरदास को दूसरे की स्त्री भगाने के अपराध में सजा हो जाती है तो जनता इस पर अपना विरोध प्रकट करती है। जनता का नेतृत्व प्रभुदत्त, इन्द्रदत्त आदि कर रहे हैं, जो सेवा-समिति के सदस्य हैं। वे जुरमाने की रकम जमा करके सूरदास को जेल से छुड़ाने की ही नहीं, सूरदास का जुलूस निकालने की भी योजना बना डालते हैं। इसके लिए न केवल रानी जाह्नवी, कुँवर भरतसिंह और डॉ गांगुली चन्दा देते हैं, वरन् इन्दु भी चन्दा देती है, अपने पति की इच्छा के विरुद्ध। इस आन्दोलन के माध्यम से प्रेमचन्द ने ब्रिटिश शासन द्वारा आन्दोलनकारियों पर मुकदमे चलाये जाने और उस पर जनता की प्रतिक्रिया का प्रकारान्तर से चित्रण किया है।

सेवा-समिति का प्रभारी बनते ही प्रभुसेवक उसे राजनीतिक संस्था बनां देता है। कथाकार के अनुसार "अब तक इस संस्था का कार्यक्षेत्र सामाजिक था। मेलों-ठेलों में यात्रियों की सहायता, बाढ़-बूड़े में पीड़ितों का उद्धार, सूखे-झूरे में विपत्ति के मारे हुओं का कष्ट निवारण, ये ही उसके मुख्य विषय थे। प्रभुसेवक ने इसका कार्यक्षेत्र विस्तृत कर दिया, इसको राजनीतिक रूप दे दिया। यद्यपि उन्होंने कोई नया प्रस्ताव न किया, किसी परिवर्तन की चर्चा तक न की, पर धीरे-धीरे उनके असर से नये भावों का संचार होने लगा।''

यह ध्यान देने की बात है कि प्रभुसेवक गांधी-मार्ग का पूर्णतः अनुयायी नहीं है। वह अन्याय बर्दाश्त नहीं करता। वह रिश्वतखोर कर्मचारियों, जालिम जमींदारों और स्वार्थी अधिकारियों पर 'सदैव ताक लगाये' रहता है। सेवा-समिति में शामिल होने के पूर्व ही विनय के उदयपुर रियासत में जेल में बन्द कर दिये जाने पर उसकी प्रतिक्रिया निम्न शब्दों में प्रकट होती है "....प्रजा की सहनशक्ति की भी कोई सीमा होनी चाहिए और होती है। उसकी अवहेलना करके कानून ही नहीं रह जाता। उस समय उस कानून को भंग करना ही प्रत्येक विचारशील प्राणी का कर्त्तव्य हो जाता है।'' वह आगे कहता है: "जिस आज्ञा का आधार केवल पशुबल हो, उसका पालन करना आवश्यक नहीं। अगर उदयपुर में कोई उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार होती और वह बहुमत से यह हुक्म देती तो दूसरी बात थी।'' प्रभुसेवक यह भी कहता है कि "....जब तक हम खून से डरते रहेंगें, हमारे स्वत्व भी हमारे पास आने से डरते रहेंगे। उनकी रक्षा भी तो खून ही से होगी। राजनीति का क्षेत्र समरक्षेत्र से कम भयावह नहीं है। उसमें उतरकर रक्तपात से डरना कापुरुषता है।'' प्रभुसेवक की इन प्रतिक्रियाओं में उग्रवादी हिंसक आन्दोलन की झलक मिलती है। इसे हम प्रेमचन्द का विचार न भी मानें, पर प्रेमचन्द इसकी निन्दा भी नहीं करते। प्रभुसेवक के कथन में दो 'पद' बहुत महत्वपूर्ण है: **'उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार'** और 'बहुमत'। इससे यह संकेतित होता है कि प्रेमचन्द का प्रजातन्त्र में विश्वास था और वे अंग्रेजों के चले जाने पर प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की स्थापना के आकांक्षी थे।

प्रभुसेवक जनता में आत्मसम्मान का भाव जागृत करना चाहता है। यह स्वाधीनता प्राप्ति का प्रथम सोपान है। सेवा-समिति के कुछ सदस्य, जिनमें इन्द्रदत्त प्रमुख है, मानते हैं कि 'प्रजा में असन्तोष पैदा करना भी स्वयंसेवकों का मुख्य कर्त्तव्य है।''

खबर आती है कि बन्दोबस्त के अफसर किसी प्रान्त में भूमि कर में मनमानी वृद्धि कर देते हैं। काउन्सिलों, समाचार-पत्रों और राजनीतिक सभाओं में इस वृद्धि का विरोध होता है, पर कर-विभाग पर इसका कोई असर नहीं होता। प्रभुसेवक की राय है कि आसामी असहयोग कर दें और साल भर तक जमीन परती पड़ी रहने दें।

एक स्थान पर प्रभुसेवक कहता है:............"हम औषधियां बाँटने और अकाल-पीड़ित प्रान्तों में मवेशियों का चारा ढोने के लिए नहीं हैं,-है वह भी हमारा काम, इससे हमें इन्कार नहीं, लेकिन मैं उसे इतना गुरु नहीं समझता। यह विध्वंस का काल है, निर्माण का समय तो पीछे आयेगा।'' गांधीजी इस तरह के आन्दोलन के समर्थक नहीं थे। प्रभुसेवक को उपन्यासकार से मिलनेवाले मौन समर्थन से संकेतित होता है कि प्रेमचन्द स्वयं गांधीवाद के अन्धानुयायी नहीं थे।

प्रभुसेवक के नेतृत्व में सेवा-समिति को व्यापक लोकप्रियता प्राप्त होती है। लोग इस संस्था की सहायता करने के लिए बड़ी-बड़ी रकमें देने को तैयार रहते हैं। इस सेवा-समिति के स्वयंसेवक आजादी के सच्चे सिपाही हैं। कथाकार के शब्दों में "सबके सब एक रंग में रंगे हुए थे, राष्ट्रीयता के मद में चूर, न धन की चिन्ता, न घर-बार की फिक्र, रूखा-सूखा खानेवाले, मोटा पहननेवाले, जमीन पर सोकर रात काट देते थे, घर की जरूरत न थी, कभी-कभी वृक्ष के नीचे पड़े रहते, कभी किसी झोंपड़े में। हाँ, उनके हृदयों में उच्च और पवित्र देशोपासना हिलोरें ले रही थी।'' स्वाधीनता की लड़ाई के सिपाहियों का यह चित्रण प्रेमचन्द के राष्ट्रीय भावों का परिचायक है।

देखते-देखते यह सेवा-समिति राष्ट्रीय स्तर की संस्था बन जाती है। पूना तक में इस सेवा-समिति का एक केन्द्र है, जहाँ का नायक एक बड़े जीवट का आदमी है। पूना में समिति की राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन होता है, जहाँ प्रभुसेवक का भव्य स्वागत होता है। इस सभा में प्रभुसेवक का भाषण होता है जिसमें वह सरकार की आलोचना करते हुए कहता है: "हमारा देश राजनीति शून्य है। परवशता और आज्ञाकारिता में सीमाओं का अन्तर है।'' प्रभुसेवक के भाषण से उत्तेजित होकर कोई 'यूरोपियन' उस पर गोली चला देता है, पर यह बच जाता है।

'रंगभूमि' की कथा को देखते हुए यह प्रसंग अस्वाभाविक, कृत्रिम और असंगत प्रतीत होता है। प्रेमचन्द ने 'सेवासमिति' पर तत्कालीन राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों को आरोपित करने का प्रयास किया है। यद्यपि कलात्मक दृष्टि से इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है, पर इससे उनकी मंशा का पता तो चल ही जाता है।

'रंगभूमि' की मुख्य कथा सूरदास को केन्द्र बनाकर चलती है। सूरदास के पास लगभग दस बीघा मौरूसी जमीन और एक झोंपड़ी है। पर वह स्वयं भीख माँगकर जीवनयापन करता है और उसकी जमीन मवेशियों के चरागाह और अन्य सार्वजनिक उपयोग में आती है। उपन्यास के एक दूसरे पात्र पूँजीपति जानसेवक इस जमीन पर सिगरेट का कारखाना लगाना चाहते हैं। सूरदास अपनी जमीन बेचने को तैयार नहीं होता। जानसेवक सरकार की सहायता लेकर सूरदास की जमीन नाममात्र के मुआवजे पर अवाप्त करा लेते हैं और वहाँ कारखाना बन जाता है। फिर मजदूरों की बस्ती बनाने के लिए पूरा पाण्डेपुर, जिसमें सूरदास की झोंपड़ी भी है, खाली करा लिया जाता है।

पर सूरदास अपनी जमीन और झोंपड़ी यों ही नहीं छोड़ देता। इसके लिए वह घोर संघर्ष करता है और जीते-जी अपनी जमीन नहीं छोड़ता। प्रेमचन्द ने इस संघर्ष को भारतीय जनता और ब्रिटिश सरकार के संघर्ष का रुख दे दिया है। सूरदास की संघर्ष-गाथा भारतीय मुक्ति संग्राम की प्रतीक कथा बन गयी है।

सूरदास की संघर्ष-कथा द्वारा प्रेमचन्द ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के सही स्वरूप को बेनकाब करने का प्रयास किया है। भारत पर ब्रिटेन का आधिपत्य प्राचीन और मध्यकालीन साम्राज्यवाद की तरह शुद्ध राजनीतिक नहीं था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद मध्यकालीन सामन्ती साम्राज्यवाद न होकर आधुनिक पूँजीवादी साम्राज्यवाद था जिसका एकमात्र उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था। इस शोषण के लिए आवश्यक था कि ब्रिटिश सरकार भारत के अवशिष्ट जर्जर सामन्त वर्ग, उभरते हुए पूँजीपति वर्ग और नवशिक्षित मध्यवर्ग को अपना सहायक बनाये। इनके सामने कुछ हड्डी के टुकड़े फेंककर और उनकी पीठ थपथपाकर ही भारत की विशाल प्राकृतिक सम्पदा, बाजार और जनश्रम का शोषण किया जा सकता था। प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन के इस यथार्थ को बहुत अच्छी तरह समझा था और इसे ही अपने उपन्यासों में प्रमुख विषय बनाया। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश सरकार और छोटे

सामन्तों की सहायता से उभरते हुए भारतीय पूँजीवाद और उसके द्वारा भारतीय आम जनता के शोषण का चित्रण प्रस्तुत किया है। जनता इस शोषण का विरोध करती है, पर इस संघर्ष में उसकी पराजय होती है, जो सर्वथा स्वाभाविक है।

जैसा हम जानते हैं, पूँजीवाद वैज्ञानिक, औद्योगीकरण की खाल ओढ़कर जनता के बीच आता है और उसका शिकार करता है। महात्मा गांधी उसके इस शिकारी रूप से अवगत थे, जैसे प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार तोल्सतोय, और उन्होंने तोल्सतोय की तरह ही बड़े पैमाने पर होनेवाले वैज्ञानिक औद्योगीकरण का विरोध किया था। उनके सामने पूँजीवादी औद्योगीकरण की बुराइयाँ, जैसे मजदूरों का आर्थिक शोषण, गाँवों का विनाश, कृषि का ह्रास, नैतिक मूल्यों का विघटन आदि, बिल्कुल स्पष्ट थीं। इस कारण गांधीजी ने वैज्ञानिक औद्योगीकरण मात्र का विरोध किया था। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द पर गांधीजी या कदाचित् तोल्सतोय का, यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'रंगभूमि' का सूरदास औद्योगीकरण के विरोध में जो तर्क देता है और जिसके खिलाफ संघर्ष करता है वह गांधीजी और तोल्सतोय के विचारों के बिल्कुल अनुरूप है। यह उल्लेखनीय है कि पूँजीवादी औद्योगीकरण का मूल उद्देश्य जनहित नहीं, नफा होता है, इस कारण वह जन-विरोधी और मानवीय मूल्यों का ध्वंसक हो जाता है। 'रंगभूमि' का जानसेवक कृषि-विकास में योग देनेवाले यन्त्रों या बिजली का कारखाना नहीं खोलता, वह सिगरेट का कारखाना खोलता है। पूँजीवाद ऐसे ही उद्योगों को प्राथमिकता देता है जो अधिक से अधिक नफा दे सके, चाहे उनसे जनता का कितना भी अकल्याण क्यों न हो। प्रेमचन्द ने गांधीजी और तोल्सतोय के प्रभाव में इस सच्चाई को सही रूप में नहीं देखा था और अपने पात्रों से औद्योगीकरण मात्र का विरोध करा दिया था। यह प्रेमचन्द के युग का अन्तर्विरोध है, जिसके वे सहज ही शिकार हो गये हैं।

जानसेवक पहले तो सूरदास को पैसे से खरीदना चाहता है, पर जब सफल नहीं होता तो सरकारी तन्त्र की सहायता लेता है। अंग्रेज कमिश्नर और जिलाधीश तो उसके पक्ष में हैं ही, पर वे बदनामी न लेने के लिए यह काम नगरपालिका के अध्यक्ष राजा महेन्द्रकुमार से कराना चाहते हैं जो उनके इशारों पर काम करता है। जानसेवक कुँवर भरतसिंह और राजा महेन्द्रकुमार से भी साँठ-गाँठ कर लेता है। सोफिया के चलते वह न केवल इन सामन्ती परिवारों के निकट सम्पर्क में आ जाता है, वरन् कुँवर भरतसिंह को अपने कारखाने का शेयर बेचने में भी

सफल हो जाता है। सूरदास की अनिच्छा और विरोध के बावजूद उसकी जमीन निकल जाती है। पर जल्दी ही सोफिया के प्रयास से, जो व्यक्तिगत कारणों से सूरदास की समर्थक है, कलक्टर क्लार्क उस आदेश को रद्द कर देता है। क्लार्क का यह आदेश सरकारी नीति के विरोध में है। उसने सोफिया के प्रेम में अन्धा बनकर यह फैसला दिया है, जिसका दण्ड उसे भुगतना पड़ता है। उसके खिलाफ जानसेवक, कुँवर भरतसिंह, राजा महेन्द्रकुमार, डा. गांगुली, रानी जाह्नवी, सभी मोर्चाबन्दी कर लेते है, जिसके फलस्वरूप सरकार क्लार्क का तबादला कर देती है और उसका दूसरा आदेश रद्द कर सूरदास की जमीन अवाप्त कर ली जाती है। प्रेमचन्द ने इस प्रसंग द्वारा पूँजीवाद, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के गठबन्धन को बेनकाब कर दिया है।

यह स्पष्ट है कि क्लार्क का सूरदास के पक्ष में फैसला सरकारी नीति के प्रतिकूल है। जानसेवक द्वारा उसका विरोध सर्वथा स्वाभाविक है, पर राजा महेन्द्रकुमार, कुँवर भरतसिंह, डा. गांगुली आदि क्यों इस फैसले का विरोध करते हैं, यह विचारणीय है। राजा महेन्द्रकुमार की हिम्मत तो क्लार्क से लोहा लेने की नहीं है, पर इन्दु का सामन्ती अहं उन्हें शक्ति प्रदान करता है। इन्दु अपनी सामन्ती मर्यादा की रक्षा के लिए किसी भी हद तक जाने को तत्पर है, "चाहे उसके लिए न्याय के सिद्धान्तों की बलि ही क्यों न देनी पड़े।" वह राजा महेन्द्रकुमार को गर्वनर के यहाँ क्लार्क के आदेश के विरुद्ध अपील करने की सलाह देती है और अंग्रेजों के प्रति अपने पूर्वजों द्वारा किये गये अहसानों की याद दिलाकर अपनी 'मर्यादा' की रक्षा के लिए गुहार लगाती है। इस सामन्ती अहं अथवा तथाकथित सामन्ती 'मर्यादा' की रक्षा के लिए पूरा सामन्ती और बुर्जुवा समाज एकजुट हो जाता है। इस 'मर्यादा' रक्षा के सामने गरीबों के प्रति दया और न्याय और देशभक्ति की सारी भावना बह जाती है। क्लार्क के फैसले के विरुद्ध हस्ताक्षर अभियान चलाया जाता है। यद्यपि इस अभियान में डा. गांगुली को पूरी सफलता नहीं मिलती क्योंकि शहर के रईस अंग्रेज कलक्टर को अपना विरोधी बनाना नहीं चाहते, फिर भी कम्पनी के शेयरदारों और कुछ अन्य लोगों के हस्ताक्षर के बल पर वे व्यवस्थापक सभा में इस विषय पर प्रश्न उठाने में सफल हो जाते हैं। सरकार प्रत्यक्ष रूप से क्लार्क को दण्डित करने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि इससे हिन्दुस्तानियों का हौसला बढ़ने का खतरा है। पर सरकार समझती है कि क्लार्क

का फैसला सरकारी नीति के अनुरूप नहीं है। ब्रिटिश सरकार भारतीय सामन्तों और पूँजीपतियों को मिलाये रखना चाहती थी। अत: गर्वनर क्लार्क से पूछकर ही उसे 'सजा' देता है और वह पोलिटिक्ल एजेण्ट बनाकर राजस्थान भेज दिया जाता है।

इस प्रसंग द्वारा प्रेमचन्द ने सामन्ती समाज के मानवता-प्रेम, देशभक्ति, समाज सेवा आदि के खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। यह वर्ग वहीं तक समाज सेवा और देशप्रेम का राग अलापता है जहाँ तक उसके हितों और अहं से वह टकराता नहीं। ज्यों ही यह टकराहट होती है, यह वर्ग नंगा हो जाता है। कुँवर भरतसिंह वैसे देशभक्त और अंग्रेजों के विरोधी हैं, पर जब उनके हितों पर आघात होता है-वे जानसेवक की मिल के एक बड़े शेयरधारी हैं--तो सरकार की शरण में जाने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। डा. गांगुली तो बुर्जुवा समाज के नेता हैं ही, अत: उसके हितों की रक्षा के लिए उनका लड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।

आम जनता के ब्रिटिश सरकार, पूँजीपतियों और सामन्तों की सम्मिलित शक्ति के साथ संघर्ष की कहानी सूरदास की जमीन छिन जाने के बाद आरम्भ होती है। सरकार सूरदास को केवल एक हजार रुपया मुआवजा देने का फैसला करती है जबकि जानसेवक स्वयं उसके लिए पाँच हजार देने को तैयार था। सूरदास इस फैसले का विरोध मुआवजे की रकम लेने से इन्कार करके करता है। प्रभुसेवक सरकार की निरंकुशता और शोषण का पर्दाफाश करते हुए सूरदास से कहता है:" रुपये न लोगे, तो जब्त हो जायेंगे। यहाँ तो सरकार इसी ताक में रहती है कि किसी तरह प्रजा का धन उड़ा लें। कुछ टैक्स के बहाने से, कुछ रोजगार के बहाने से, कुछ किसी बहाने से हजम कर लेती है।'' जब सूरदास न्याय की दुहाई देता है तो प्रभुसेवक कहता है:"सरकार यहाँ न्याय करने नहीं आई है भाई, राज्य करने आयी है। न्याय करने से उसे कुछ मिलता है! कोई समय वह था, जब न्याय को राज्य की बुनियाद समझा जाता था। अब वह जमाना नहीं है। अब व्यापार का राज्य है, और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसके लिए तारों का निशाना मारनेवाली तोपें है।''

प्रभुसेवक के कथन में ब्रिटिश सरकार की शोषण नीति की कैसी कटु, पर यथार्थ और समझदारी से भरी हुई, आलोचना है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

सूरदास की जमीन ले लेने के बाद मजदूरों की बस्ती के लिए पाण्डेपुर को खाली कराने का प्रश्न आता है और सरकार का फैसला जानसेवक के पक्ष में जाता है। समस्त पाण्डेपुर गाँव अवाप्त कर लिया जाता है। न तो ग्रामीणों को समुचित मुआवजा दिया जाता है, न उन्हें कहीं बसाने की व्यवस्था की जाती है। बस, उन्हें एक निश्चित समय के भीतर गाँव छोड़ देने का हुक्म दे दिया जाता है। अन्य ग्रामवासी तो रो गाकर इस फैसले को मान लेते हैं, पर सूरदास इसका विरोध करता है। वह जीते-जी अपनी झोंपड़ी न छोड़ने का निश्चय व्यक्त करता है : "जब तक कोई न बोलेगा, पड़ा रहूँगा। कोई हाथ पकड़कर निकाल देगा, बाहर जा बैठूँगा। वहाँ से उठा देगा, फिर आ बैठूँगा। जहाँ जन्म लिया है, वहीं मरूँगा। अपना झोंपड़ा जीते-जी न छोड़ा जाएगा। मरने पर जो चाहे ले ले। बाप-दादों की जमीन खो दी, अब इतनी निशानी रह गयी है, इसे न छोड़ूँगा। इसके साथ आप भी मर जाऊँगा।'' वह आगे कहता है : "सरकार के हाथ में मारने का बल है, हमारे हाथ में और कोई बल नहीं है तो मर जाने का बल तो है।''

सूरदास के इस कथन में गांधीजी के सिद्धान्तों जैसे अहिंसा और सत्याग्रह, की स्पष्ट झलक मिलती है।

पाण्डेपुर को खाली कराने के लिए जानसेवक पुलिस की सहायता लेता है। पुलिस बड़ी निर्दयता से घरों से सामान निकालकर बाहर फेंकती है, लूटपात करती है और विरोध करने पर डण्डे बरसाती है। प्रेमचन्द ने इस प्रसंग द्वारा ब्रिटिश राज्य की पुलिस के अमानवीय व्यवहार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि शान्ति और व्यवस्था के नाम पर सशस्त्र पुलिस की टुकड़ी भी बुला ली जाती है। मामले को सुलझाने तथा अपनी बदनामी को रोकने के लिए राजा महेन्द्रकुमार अपनी ओर से मुआवजा बाँटते हैं, पर सूरदास अपनी झोंपड़ी का मुआवजा लेने को तैयार नहीं होता। यहाँ तक कि इन्द्रदत्त द्वारा कानून की बात कहने पर उत्तर देता है:"होगा कानून....इस तरह जबरदस्ती करने के लिए जो कानून चाहे बना लो। यहाँ कोई सरकार का हाथ पकड़ने वाला तो है नहीं। **उसके सलाहकार भी तो सेठ महाजन ही हैं**। इस कथन की अन्तिम पंक्ति तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक यथार्थ को नंगा कर देती है।

अन्ततः सूरदास की झोंपड़ी गिरा देने का आदेश होता है। पुलिस झोंपड़ी गिराने के लिए आगे बढ़ती है। पर उसके पीछे जनसमूह भी चलता है जिसके तेवर चढ़े

हुए हैं। "जनसमूह को रोकने के लिए गली के द्वार पर सिपाही संगीने चढ़ाये तैनात हैं। ऐसे अवसरों पर जैसा होता है, भीड़ पत्थर फेंकना आरम्भ करती है जिसका जवाब पुलिस गोलियों से देती है। कई आदमियों सहित सेवा-समिति का एक प्रमुख कार्यकर्त्ता इन्द्रदत्त शहीद हो जाता है। इसी समय विनय वहाँ पहुँचता है। सुपरिन्टेण्डेण्ट पुन: फायर का हुक्म देता है। पर इस बार पुलिस के जवान उसकी आज्ञा नहीं मानते।'' हवलदार कोर्ट मार्शल के लिए तैयार हो जाता है। उनके पीछे जनसमूह जय-जयकार करते हुए आगे बढ़ता है। राजा महेन्द्रकुमार और पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट ब्राउन दोनों स्तम्भित हैं। उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना हो रही थी "जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी, जो परम्परा के विरुद्ध, मानव प्रकृति के विरुद्ध, नीति के विरुद्ध थी। सरकार के वे पुराने सेवक, जिनमें से कितनों ही ने अपने जीवन का अधिकांश प्रजा का दमन करने में ही व्यतीत किया था, यों बढ़ते हुए चले जायें।''

प्रेमचन्द द्वारा कल्पित इस प्रसंग पर तनिक रुककर विचार कर लेना अपेक्षित है। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में ठीक ऐसी ही घटना 23 अप्रैल, 1930 को पेशावर में घटी जबकि 18वीं रायल गोरखा राइफल्स की दूसरी बटालियन की दो टुकड़ियों ने अपने अफसर के आदेश के बावजूद निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था (माइकल ब्रेचर, नेहरू: अ पोलिटिकल बायोग्राफी)। यह भी रोचक तथ्य है कि इसके लिए गांधीजी ने सिपाहियों की ही निन्दा की थी। पर उक्त प्रसंग में प्रेमचन्द का गोली चलाने के आदेश को न माननेवाले सिपाहियों के प्रति प्रशंसा भाव झलकता है। यह उल्लेखनीय है कि जो घटना इतिहास में 1930 में घटी उसकी हू-ब-हू कल्पना प्रेमचन्द ने उसके चार-पाँच वर्ष में कर ली थी और उसके सम्बन्ध में गांधीजी की तुलना में ज्यादा सही दृष्टिकोण का परिचय दिया था। प्रेमचन्द अहिंसा के मार्ग का त्याग नहीं करते, क्योंकि 'रंगभूमि' के विद्रोही सिपाही आत्मसमर्पण कर देते हैं। विनय भी सलाह देता है: "उनसे कहना कि भागे नहीं, जो कुछ किया है, उसका यश लेने से न डरें।''

पुलिस की गोलियों से शहीद हुए लोगों की शवयात्रा के वर्णन द्वारा भी प्रेमचन्द ने स्वाधीनता-संग्राम के एक पहलू का सजीव अंकन किया है:

"अर्थियों के पीछे कोई दस हजार, नंगे पाँव, सिर झुकाये, चले जाते थे। पग-पग पर समूह बढ़ता जाता था, चारों ओर से लोग दौड़े चले जाते थे। लेकिन किसी के मुख पर शोक या वेदना का चिह्न न था, न किसी की आँख में आँसू थे, न किसी के कण्ठ में आर्त्तनाद की ध्वनि निकलती थी। इसके प्रतिकूल लोगों के हृदय गर्व से फूले हुए थे, आँखों में स्वदेशाभिमान का मद भरा हुआ था। यदि इस समय रास्ते में तोपें चढ़ा दी जातीं, तो भी जनता के कदम पीछे न हटते। न कहीं शोक ध्वनि थी, न विजयनाद था, अलौकिक निस्तब्धता थी, भावमयी, प्रवाहमयी, उल्लासमयी।''

आजादी की लड़ाई के दौरान भारतीय जनता के मूक क्रोध, स्वाभिमान, दृढ़ निश्चय और अहिंसा में आस्था की कैसी सशक्त अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है।

इन्द्रदत्त की अर्थी के गंगातट पर पहुँचने पर उपन्यासकार गंगा को सम्बोधित करते हुए कहता है: "....आज तुम्हारी गोद में वे लोग आ रहे हैं, जो निष्काम थे, जिन्होंने पवित्र-विशुद्ध न्याय की रक्षा के लिए अपने को बलिदान कर दिया। और, ऐसा मंगलमय शोक-समाज भी तुमने देखा, जिसका एक-एक अंग मातृप्रेम, स्वजाति प्रेम और वीरभक्ति से परिपूर्ण है।''

शवयात्रा से वापस लौटते हुए लोगों का वर्णन उपन्यासकार निम्न शब्दों में करता है :

''....महिलाएँ वीरगान करती हुई चली जाती थीं। रानी जाह्नवी आगे-आगे थीं, सोफी, इन्दु और कई अन्य महिलाएँ पीछे। उनकी वीररस में डूबी हुई मधुर संगीतध्वनि प्रभात की आलोक रश्मियों पर नृत्य कर रही थीं, जैसे हृदय की तन्त्रियों पर अनुराग नृत्य करता है।''

इन पंक्तियों में उपन्यासकार का देशानुराग उफनता-सा दीखता है।

पुलिस के दमन के बाद सरकार के विरुद्ध जनता का संघर्ष और भी व्यापक और तेज हो जाता है। पाण्डेपुर के खाली मकानों को गिराने के लिए मजदूर दुगुनी-तिगुनी मजदूरी पर भी तैयार नहीं होते। बाहर से मजदूर बुलाये जाते हैं, पर वे भी स्थिति देखकर लौट जाते हैं। अधिकारी सरकारी बर्कन्दाजों और तहसील के चपरासियों से यह काम कराना चाहते हैं तो "उनके सामने सैंकड़ों युवक

जिनमें कितने ही ऊँचे कुलों के थे, हाथ बाँधकर खड़े हो जाते है।'' इस सत्याग्रह का नेतृत्व विनय और सेवा-समिति के सदस्य करते हैं।

महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तावित असहयोग, सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलन का यह चित्रण प्रेमचन्द की राजनीतिक प्रतिबद्धता का प्रमाण है।

सरकार विनय को दण्डित करने में तनिक भी विलम्ब नहीं करती। वह अपनी रियासत के उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता है, पर विनय अपने पिता के अनुरोध पर भी स्वयं को सेवक-दल से पृथक नहीं करता। उधर पाण्डेपुर में भी दमन चक्र तेज हो जाता है। पुलिस की सहायता के लिए गोरखों की रेजिमेण्ट बुलायी जाती है। पुलिस सेवक दल के सदस्यों की गिरफ्तारी शुरू कर देती है। सूरदास की झोंपड़ी काँटेदार तारों से घेर दी जाती है ताकि वहाँ कोई पहुँच न सके। लगभग दो महीने तक जनता और पुलिस का संघर्ष चलता रहता है। स्वयंसेवकों की पकड़-धकड़ से सन्तुष्ट न होकर पुलिस उन्हें शारीरिक कष्ट देना आरम्भ करती है, उनका अपमान करती है और अपने अमानुषिक कृत्यों से उन्हें भयभीत करने का प्रयास करती है। पर सूरदास पर बन्दूक चलाने या उसके झोंपड़े में आग लगाने की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ती। हजारों नगरवासी रोज वहाँ पहुँच जाते हैं। आत्मसमर्पण की हवा-सी चल पड़ी है। सरकार नगरवासियों को पाण्डेपुर न जाने के लिए चेतावनी देती है। आन्दोलन के दमन के लिए क्लार्क को राजपूताने से बुलाया जाता है।

'रंगभूमि' में रणभूमि बने पाण्डेपुर का बड़ा रोमांचक वर्णन किया गया है : "गिरे हुए मकानों की जगह सैंकड़ों छोलदारियाँ खड़ी हैं और उनके चारों ओर गोरखे खड़े चक्कर लगा रहे हैं। किसी की गति नहीं है कि अन्दर प्रवेश कर सके। हजारों आदमी आसपास खड़े हैं, मानो किसी विशाल अभिनय को देखने के लिए दर्शकगण वृत्ताकार खड़े हों। मध्य में सूरदास का झोंपड़ा रंगमंच के समान स्थिर था। सूरदास झोंपड़े के सामने लाठी लिये खड़ा था, मानो सूत्रधार नाटक का प्रारंभ करने को खड़ा है।......सेवक दल के युवक झोंपड़े के सामने रातोंरात ही पहुँच गये थे।''

इसी बीच जॉनसेवक पाण्डेपुर पहुँचता है। जनता उस पर टूट पड़ती है। क्लार्क उसकी रक्षा के लिए गोरखों की एक टुकड़ी भेजता है। सूरदास रक्तपात रोकने

के लिए भैरो के कन्धे पर सवार होकर जनता से अपने-अपने घर चले जाने का अनुरोध करता है। वह कहता है:

"आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आये, मुझसे दुसमनी करने आये हैं। हाकिमों के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का ख्याल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन, अन्धा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बन्द कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था।....." पर सूरदास इससे ज्यादा बोल नहीं पाता। क्लार्क की गोली उसकी जबान बन्द कर देती है।

सूरदास के उपर्युक्त सम्बोधन में गांधीजी का स्वर अत्यन्त स्पष्ट है, पर क्लार्क की एक ही गोली इसकी व्यर्थता और खोखलेपन को बेनकाब कर देती है। यह प्रसंग गांधीवादी विचारधारा पर गहरा और तीखा व्यंग्य है। इससे जान पड़ता है कि गांधीजी से प्रभावित होते हुए भी प्रेमचन्द उनके सिद्धान्तों की असंगतियों से अनभिज्ञ नहीं थे। क्लार्क कहता है:"जब तक यह आत्मा जीवित रहेगी, अंगों की गति बन्द न होगी। इसलिए आत्मा ही का नाश कर देना आवश्यक है। उद्गम को बन्द कर दो, जल-प्रवाह बन्द हो जायेगा।" और इसके लिए पिस्तौल की एक गोली पर्याप्त है। गांधीजी के बारे में भी तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ऐसा नहीं सोचती होगी, यह नहीं कहा जा सकता। पर सरकार ऐसा करने से इसलिए डरती थी कि कहीं गांधीजी की हत्या से व्यापक हिंसक विद्रोह न भड़क जाये। यह भी अहिंसा पर हिंसा की ही विजय है।

वस्तुत: सूरदास के प्रसंग में ऐसा ही होता भी है। सूरदास को गोली लगते ही जनता नैराश्य और क्रोध से पागल हो जाती है। सेवक दल जनता को शान्त करने का प्रयास करता है, पर कोई असर नहीं होता। भीड़ गोरखे सिपाहियों पर आक्रमण करने के लिए ईंट-पत्थर जमा करने लगती है। जाहिर है कि इसका अन्त भीषण रक्तपात में होता। पर तभी विनय के आत्मबलिदान से शोक का वातावरण छा जाता है और भीड़ शान्त हो जाती है।

यद्यपि विनय अपने आहत स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या करता है, पर उसका बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। जानसेवक ठीक ही कहता है: ".....उनके

आत्मसमर्पण ने सैकड़ों की जान बचा दी, नहीं तो जनता आग में कूदने को तैयार थी।'' विनय की मृत्यु पर रोते युवकों को सम्बोधित करती हुई रानी जाह्नवी कहती है: "जाओ, और विनय की भाँति प्राण देना सीखो। दुनिया केवल पेट पालने की जगह नहीं है। देश की आँखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं , तुम्हीं इसका बेड़ा पार लगाओगे। मत फँसो गृहस्थी के जंजाल में, जब तक देश का कुछ हित न कर लो।''

विनयसिंह की मृत्यु को उपन्यासकार ने एक स्वाधीनता सेनानी की मृत्यु के रूप में चित्रित किया है। उसकी शवयात्रा का वर्णन द्रष्टव्य है:

"हजारों आदमियों का जमघट, गलियाँ तंग और कीचड़ से भरी हुई, पग-पग पर फूलों की वर्षा सेवकदल का राष्ट्रीय संगीत....''।

विनय के बलिदान-स्थल का वर्णन कथाकार निम्नलिखित शब्दों में करता है :

"यह स्थान अब मुसलमानों का शहीदगाह और हिन्दुओं की तपोभूमि के सदृश हो गया था। जहाँ विनयसिंह ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी, वहाँ लोग आते, तो पैर से जूते उतार देते। कुछ भक्तों ने वहाँ पत्र-पुष्प भी चढ़ा रखे थे।''

इस वर्णन पर उस प्रसिद्ध शेर का प्रभाव दीखता है :

"शहीदों के मजारों पर लगेंगे हर बरस मेले.....''

अपने हक की इस लड़ाई में सूरदास की भी मृत्यु होती है। उसकी मृत्यु पर डा. गांगुली अपने उद्गार इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

''.....सूरदास अभी नहीं मरेगा, बहुत दिनों तक नहीं मरेगा। हम सब मर जायेगा, कोई कल, कोई परसों, पर सूरदास तो अमर हो गया, उसने तो काल को जीत लिया। अभी तक उसका जीवन पंचभूतों के संस्कार से सीमित था। अब वह प्रसारित होगा, समस्त प्रान्त को, समस्त देश को जागृति प्रदान करेगा, हमें कर्मण्यता का, वीरता का आदर्श बतायेगा।''

इन शब्दों में आजादी की लड़ाई में शहीद होनेवालों के प्रति कथाकार के भावोद्गार भी मिले हुए हैं। सूरदास की भी शवयात्रा निकलती है। उस शवयात्रा में कथाकार

सोफिया, डा. गांगुली, रानी जाह्नवी, कुंवर भरतसिंह, नायक राम, भैरों, जानसेवक, महेन्द्रकुमार आदि के साथ साथ मि. क्लार्क को भी शामिल दिखाता है। यद्यपि मि. क्लार्क का इस जुलूस में शामिल होना असंगत है, पर इससे कथाकार की सूरदास के प्रति भावना का पता चलता है। विनयसिंह की शवयात्रा से सूरदास की शवयात्रा की तुलना करते हुए कथाकार कहता है। "....अन्तर केवल इतना था कि उस दिन लोगों के हृदय शोक से व्यथित थे, आज विजय गर्व से परिपूर्ण, वह एक वीरात्मा की वीर मृत्यु थी, यह एक खिलाड़ी की अन्तिम लीला।'' उसकी मृत्यु पर क्लार्क राजा महेन्द्रकुमार से कहता है: "हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही मनुष्यों से है, जो जनता के हृदय पर शासन कर सकते हैं। यह राज्य करने का प्रायश्चित है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इंग्लैंड में हम देव तुल्य समझते।''

सूरदास की मृत्यु के बाद उसकी प्रतिमा की स्थापना के लिए आन्दोलन आरम्भ होता है। राजा महेन्द्रकुमार जी जान से आन्दोलन को विफल करने का प्रयास करते हैं। पर इन्दु और सोफिया मिलकर चन्दा एकत्र करने में लगी हैं। "धड़ाध ड़ चन्दे वसूल होने लगे। एक महीने में एक लाख से अधिक वसूल हो गया। ....वह दोनों रमणियों के सदुद्योग का ही चमत्कार था, नहीं, शहीदों की वीरता की विभूति थी, जिनकी याद में अब भी लोग रोया करते थे। लोग स्वयं आकर देते थे, अपनी हैसियत से ज्यादा।'' राजा साहब का विरोध विफल होता है। खूब ध ूमधाम से सूरदास की प्रतिमा स्थापित की जाती है : ".....शुभ्र ज्योत्स्ना में सूरदास की मूर्ति एक हाथ से लाठी टेकती हुई और दूसरा हाथ किसी अदृश्य दाता के सामने फैलाये खड़ी थी - वही दुर्बल शरीर था, हँसलियाँ निकली हुईं, कमर टेढ़ी, मुख पर दीनता और सरलता छायी हुई, साक्षात सूरदास मालूम होता था। बस, ऐसा मालूम होता था, मानो कोई स्वर्गलोग का भिक्षुक देवताओं से संसार के कल्याण का वरदान माँग रहा है।'' पता नहीं, प्रेमचन्द ने इस स्वतन्त्रता सेनानी का मॉडल कहाँ से लिया है, कदाचित् महात्मा गांधी इसके आधार हों।

सूरदास के जीवन-दर्शन को कुछ लोग दार्शनिक या आध्यात्मिक क्षेत्र की चीज़ मानकर उसे उसी दृष्टि से महत्व देते हैं। पर ध्यान से देखने पर उसका भी देश की स्वाधीनता की लड़ाई से गहरा सम्बन्ध लक्षित होता है। सूरदास का जीवन-दर्शन यह है कि यह संसार एक रंगभूमि या खेल का मैदान है और हमारा जीवन एक

खेल या कर्म-संघर्ष है। खेल में हार-जीत का महत्व उतना नहीं होता जितना अच्छी तरह से, 'खेल की भावना' के साथ, खेलने का महत्व होता है। जीवन-संघर्ष को भी हमें खेल के रूप में ही देखना चाहिए। महत्व है कर्म का, उसके फल का नहीं। यह जीवन दर्शन गीता के कर्मयोग से गृहीत है। यह ध्यान देने की बात है कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में यह जीवन-दर्शन सर्वाधिक समयानुकूल था। जिस समय 'रंगभूमि' लिखी जा रही थी उस समय देश में राजनीतिक पस्ती छायी हुई थी। चौरी-चौरा की घटना के बाद गांधीजी द्वारा असहयोग-आन्दोलन के वापस ले लिये जाने पर देश में राजनीतिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति थी। इस परिस्थिति में सूरदास के जीवन-दर्शन को परखने पर उसकी राजनीतिक उपयोगिता असंदिग्ध हो जाती है। जीवन की अन्तिम साँसे गिनता हुआ सूरदास कहता है:". .....तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज, मार-पीट करते हैं।, कोई किसी की नहीं सुनता। .....हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।'' सूरदास के इस मरणोद्गार में देश की तत्कालीन राजनीति की बड़ी सटीक व्याख्या और उसके लिए सन्देश भी छिपा हुआ है। डा. गांगुली इस संकेत को समझते भी हैं। वे कहते हैं : "बड़ी विशाल आत्मा है। हमारे सारे पारस्परिक सामाजिक, राजनीतिक जीवन की अत्यन्त सुन्दर विवेचना कर दी और थोड़े-से शब्दों में।''

'रंगभूमि' का अन्तिम परिच्छेद सूरदास के इस जीवन-दर्शन की पुष्टि करता है। विनयसिंह, सूरदास, सोफिया, इन्द्रदत्त आदि के बलिदान से स्वाधीनता-संग्राम थोड़ी देर के लिए रुकता है। उसके बाद आजादी की लड़ाई की मशाल रानी जाह्नवी के हाथों में आ जाती है। "वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गयीं। उनके रोम-रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ। वृद्धावस्था की आलस्यप्रियता यौवन काल की कर्मण्यता में परिणत हो गयी। कमर बाँधी और सेवक दल का संचालन अपने हाथ में ले लिया। रनिवास छोड़ दिया, कर्मक्षेत्र में उतर आयीं, और इतने

जोश से काम करने लगीं कि सेवक दल को जो उन्नति कभी न प्राप्त हुई थी, वह अब हुई। धन का इतना बाहुल्य कभी न था, और न सेवकों की संख्या ही इतनी अधिक थी। उनकी सेवा का क्षेत्र भी इतना विस्तीर्ण न था। उनके पास निज का जितना धन था, वह सेवक दल को अर्पित कर दिया, यहाँ तक कि अपने लिये एक आभूषण भी न रखा। तपस्विनी का वेश धारण करके दिखा दिया कि अवसर पड़ने पर स्त्रियाँ कितनी कर्मशील हो सकती हैं।'' इन्दु भी अब अपने सामन्ती पूर्वग्रहों को त्यागकर स्वाधीनता-संग्राम में शामिल हो जाती है। डा. गांगुली का भी मोहभंग होता है। वे कौंसिल में क्लार्क के विरुद्ध बहुत शोर मचाते हैं, पर वह अरण्यरोदन सिद्ध होता है। वे सरकार को क्लार्क का तिरस्कार करने तक के लिए मजबूर नहीं कर पाते। इसके प्रतिकूल क्लार्क की पदवृद्धि हो जाती है। इस प्रसंग पर पंजाब के गर्वनर माइकेल 'ओ डायर द्वारा किये गये जलियाँवाला बाग काण्ड और बाद में सरकार द्वारा उसकी निन्दा न किये जाने की घटना की स्पष्ट छाप है। सरकार के इस रुख पर डा. गांगुली कौंसिल में ही विद्रोह कर देते हैं। भरी सभा में गर्वनर को 'खूब खरी-खोटी' सुनाते हैं और कहते हैं: "......आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया, जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेण्ट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है। आज उस न्याय-बल की कलई खुल गयी, हमारी आँखों से पर्दा उठ गया और हम गवर्नमेण्ट को उसके नग्न आवरणहीन रूप में देख रहे हैं। अब हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमको अनन्त काल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है। अब तक जो कोई मुझसे ऐसी बातें कहता था, मैं उससे लड़ने पर तत्पर हो जाता था, मैं रिपन, ह्यूम और बेसेण्ट आदि की कीर्ति का उल्लेख करके उसे निरुत्तर करने की चेष्टा करता था। पर अब विदित हो गया कि उद्देश्य सबका एक ही है, केवल साधनों में अन्तर है।'' यदि डा. गांगुली के इस विस्फोट की तुलना हम 8 मार्च, 1926 को एसेम्बली में मोती लाल नेहरू द्वारा दिये गये वक्तव्य से करें तो उससे प्रेमचन्द की राजनीतिक समझ का पता चलता है। मोती लाल नेहरू ने कहा था : "अब हमारी यहाँ कोई जरूरत नहीं रह गयी है। हम एक बार पुनः मतदाताओं से मताधिकार प्राप्त करने के लिए देश में जायेंगे। हम संघर्ष करना नहीं छोडेंगे....हम अनुभव करते हैं. हमें इन नकली संस्थाओं की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है और राष्ट्र

की प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान की रक्षा करने के लिए हम जो कम-से-कम कर सकते हैं वह यह कि इनसे बाहर निकल जायें और कार्य करने के लिए देश में वापस लौटें। देश में हम उस जनसमर्थन की प्राप्ति का उपाय करेंगे केवल जिसके द्वारा ही कोई सरकार जनता की माँगों को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो सकती है।''

जो अनुभव मोती लाल नेहरू को 1926 ई. में हुआ उसे प्रेमचन्द 1924 में ही अनुभव कर चुके थे। डा. गांगुली का वक्तव्य इसका प्रमाण है। इतना ही नहीं डा. गांगुली को इस बात का बोध भी हो जाता है कि आजादी की लड़ाई में दौलतवालों का भरोसा नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं- " ...वे तो अपनी सम्पत्ति का गुलाम हैं। वे कभी सत्य के समर में नहीं आ सकते। जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बाँधकर लड़ने चले, वह कभी नहीं लड सकता। उसको तो अपनी ईंट का चिन्ता लगा रहेगा। जब तक हम लोग ममता का परित्याग नहीं करेगा, हमारा उद्देश्य कभी पूरा नहीं होगा। अभी तक हमको कुछ भ्रम था, पर वह भी मिट गया कि सम्पत्तिशाली मनुष्य हमारा मदद करने के बदले उल्टा इसको नुकसान पहुँचायेगा।''

इस किंचित सुदीर्घ विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है, कि प्रेमचन्द की राजनीतिक समझ और राजनीतिक यथार्थ के विश्लेषण की क्षमता उस काल के अधिकांश नेताओं की तुलना में कहीं अधिक प्रखर थी। यही कारण है कि 'रंगभूमि' एक सफल राजनीतिक उपन्यास बन सका है।

13. 'रंगभूमि' : आत्माहुति की दारुण गाथा

शशिभूषण सिंहल

'रंगभूमि' प्रेमचंद का उल्लेखनीय सुप्रसिद्ध उपन्यास है। यह सन् 1924 में प्रकाशित हुआ था। आज सन् 1992 में, इसे छपे लगभग सत्तर वर्ष होने आ रहे हैं। इस बीच भारत के राष्ट्रीय जीवन तथा हिन्दी उपन्यास की लेखन शैली में बहुत अन्तर आया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रारम्भिक झलक का आभास दिया है। सम्भवत: उपन्यास को अंग्रेज सरकार की वक्रदृष्टि से बचाए रखने के लिए उन्होंने कथा का फलक राष्ट्रीय स्तर पर चित्रित न कर, सीमित संघर्ष की भूमि पर प्रस्तुत किया है। जिस समय प्रेमचंद इस उपन्यास की रचना कर रहे थे, उन दिनों कथा, पात्रों के चरित्र और उनकी मानसिक सूक्ष्मताओं को स्पष्ट करने के लिए उनके स्थूल आचरण अथवा स्थूल घटनाओं का आश्रय अधिक लेती थी। पात्रों के मन में उठने वाली विचार-तरंगों को सूक्ष्म, प्रतीकात्मक और लाक्षणिक विधि से चित्रित करने की कला जैनेन्द्रकुमार तथा उनके परवर्ती, मनोवैज्ञानिक शैली में, लेखकों ने कहीं बाद में विकसित की। अत: 'रंगभूमि' का अध्ययन करते समय प्रेमचंद की लेखन शैली की तत्कालीन इन सीमाओं को हमें नहीं भूलना चाहिए। तभी 'रंगभूमि' को रसपूर्वक पढ़कर उसकी देन का निर्दोष आनन्द उठाया जा सकता है।

'रंगभूमि' प्रेमचंद का सबसे बड़े आकार वाला उपन्यास है। इसका वर्तमान, उपलब्ध संस्करण दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास की कथा अनेक प्रकार के प्रकरणों, घटनाओं और पात्रों को समेटती दूर-दूर तक उनकी दास्तान कहती चलती है। साधारण पाठक के लिए इसके विविध प्रकरणों को सही संदर्भों में समझकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध को विश्लेषित करना सरल कार्य नहीं। इसीलिए यहाँ सर्वप्रथम उपन्यास के कथानक को विश्लेषित कर उसमें निहित विविध ा कथाओं को स्पष्ट किया जा रहा है। उपन्यास के शीर्षक 'रंगभूमि' के द्वारा उपन्यासकार इसकी प्रमुख कथा को रेखांकित करना चाहता है। प्रमुख कथा है, पाण्डेपुर ग्राम के निवासी अंधे भिखारी सूरदास द्वारा खाली पड़ी, चरागाह के काम आने वाली पैतृक जमीन को पूँजीपति जॉनसेवक के चगुल से बचाने के अनवरत संघर्ष और असफलता की। उस जमीन पर सिगरेट बनाने का कारखाना बन जाने

पर गाँव के मकानों की जमीन की बारी आती है। सूरदास पुन: संघर्ष छेड़ता है और अन्तत: मारा जाता है। सूरदास संघर्षकार्य को पुनीत कर्त्तव्य के रूप में ग्रहण करता है। अपनी वृत्ति को सन्तों की भाँति व्यक्तिगत मनोमालिन्य से ऊपर रखकर तटस्थ बनाए रखता है। इसीलिए पूरी लड़ाई को प्रतीकात्मक रूप में खेल का नाम देता है। इस परिप्रेक्ष्य में उपन्यास की कथा को 'रंगभूमि' शीर्षक दिया जाना समीचीन बन पड़ा है। शब्दकोश में 'रंगभूमि' के कई अर्थ दिए गए हैं, जिनमें प्रमुख हैं: नाट्यशाला; युद्धक्षेत्र; क्रीड़ास्थान; समारोह का स्थान। इन सभी अर्थों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य कथा और सूरदास की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए, 'रंगभूमि' का आशय हुआ कि अपने अधिकार की रक्षा के लिए सूरदास ने गाँव के साधारण जीवन को युद्धक्षेत्र बनाया। युद्ध के पीछे कटुता की भावना नहीं थी, केवल कर्त्तव्यबोध था। सच्चे मन से कर्त्तव्य का पालन करते हुए मनुष्य मलिन चित्त नहीं होता। वह जीवन रूपी नाट्यशाला में अभिनेता की असंलग्नता से अपनी भूमिका भर निभाता है। निर्मल मन के लिए सांसारिक लीला का स्थल, यह संसार क्रीड़ास्थान ही है। कर्त्तव्यबोध का निस्संग भाव से पालन करने वाले व्यक्ति के लिए जीवन का सारा कार्यव्यापार क्रीड़ा का ही स्वरूप है और संसार क्रीड़ा स्थान ही है। क्रीड़ा का फल कुछ भी हो, यह स्थान समारोह का रूप धारण कर लेता है।

'रंगभूमि' में सूरदास द्वारा छेड़े गए आन्दोलन का चित्रण व्याप्त है। ऐसे आन्दोलनों के चित्र प्रेमचंद के अन्य तीन उपन्यासों प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' और कर्मभूमि में विशेष उभरे हैं। 'रंगभूमि' में दिखाया गया है कि बनारस के समीप पाण्डेपुर गाँव है। बताना अप्रासंगिक न होगा कि पाण्डेपुर काल्पनिक नहीं, वास्तविक स्थान रहा है। इस शताब्दी के दूसरे दशक में यह गाँव ही रहा होगा। बनारस से लगभग सात मील दूर जिस दिशा में प्रेमचंद का पैतृक गाँव लमही है, उसके बीच पाण्डेपुर की बस्ती है। अब इसने नगर जैसा रूप धारण कर लिया है। यहीं से अन्य दिशा में सुप्रसिद्ध बौद्धस्थल सारनाथ को मार्ग गया है। उपन्यास में दिखाया गया है, पाण्डेपुर छोटा-सा गाँव है। यहाँ कुछ घर हैं, जिनके निवासी छोटे-मोटे धन्धे करते हुए अपने आपमें लिप्त और संतुष्ट हैं। सूरदास वहीं सड़के के किनारे बैठकर भिक्षावृत्ति से पेट भरता है और गाँववालों के हितैषी साधु-जैसा उसका सर्वस्वीकृत व्यक्तित्व है।

उपन्यास का आरम्भ, पूंजीपति जॉनसेवक के सपरिवार, वहाँ स्थित अपने चमड़े के गोदाम तक बग्घी पर सवार होकर आने से होता है। गोदाम के पीछे पड़ी चरागाह की विस्तृत, भूमि जॉनसेवक की निगाह में चढ़ जाती है। वह निश्चय करता है कि भूमि लेकर इस पर सिगरेट बनाने का कारखाना स्थापित करना है। फटेहाल सूरदास को यह प्रस्ताव किसी भाव स्वीकार नहीं। वह अपनी पैतृक भूमि ग्रामीण समाज के हितार्थ इसी रूप में रख छोड़ना उचित समझता है। उसका सुनिश्चित मत है कि वहाँ कारखाना बनने पर ग्रामीण जीवन की सरलता नष्ट होकर अवांक्षित औद्योगिक ह्रासशील तथाकथित सभ्यता का विकास होगा। औद्योगीकरण के विरूद्ध उसकी धारणा बहुतों को विचित्र लग सकती है। फिर भी, उस युग में ग्रामीण समाज और उद्योगपति में मध्य अपरिचय और अस्वीकृति का जो भाव सविस्तार उपन्यास में दर्शाया गया है, वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। आज देश में युगान्तर हो जाने पर भी बड़े-बड़े बांधों और उद्योगों के फैलाव को ध्यान में रखकर विरोधी आन्दोलनों की गूँज समाज में आए दिन सुनाई पड़ती है। इसका प्रमुख कारण है, उद्योगपतियों और उनकी सहायक सरकार का उजड़ने वाले लोगों के प्रति नितान्त अवहेलना और उपेक्षा का भाव। वे उन्हें उनके ही हाल पर छोड़ देना पर्याप्त समझते हैं। उनके पुर्नवास या बेहतरी के लिए कुछ भी सोचना-करना उद्योगों या सरकारी तन्त्र के कार्यक्षेत्र से बाहर का विषय बना रहता है। तब और अब, दोनों ही जमानों में उजड़ने वाले जन की पीड़ा की कथा अधिक बदली नहीं है। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' की कथा आज अपनी प्रासंगिकता नहीं खोती।

सूरदास जमीन न देने की बात स्पष्ट कहता और इस पर अन्त तक डटा रहता है। उपन्यास के पाँचवे पृष्ठ से ही कथा का यह समस्या-बिन्दु आरम्भ होकर क्रमशः विकसित होता चला जाता है। उसकी जमीन छीनने में समाजसेवी राजा महेन्द्रकुमार जॉनसेवक के सहायक बनते हैं। धीरे-धीरे सारा समाज और सरकार जॉनसेवक का पक्ष लेती है। सूरदास विरोध में डटा रहता है, अकेले दम पर आन्दोलन प्रचार के रूप में छेड़ता है। स्थिति में उतार-चढ़ाव आते हैं किन्तु जीत जॉनसेवक की होती है। मुख्य कथा का इस बिन्दु पर एक दौर पूरा होता है। दूसरे दौर में, जॉनसेवक प्रारम्भ किए हुए कारखाने के मजदूरों की बस्ती बसाने के लिए गाँव की भूमि पर अधिकार जमाता है। सारा तन्त्र उसके साथ है। बस्ती बलपूर्वक खाली करा ली जाती है। केवल सूरदास इस युद्ध में हार मानने को तैयार नहीं। वह अपनी कोठरी पर धरना देकर बैठ जाता है, क्रमशः प्रतिरोध आन्दोलन का

रूप धारण करता है। आन्दोलन से पुलिस की गोली से कई लोग मारे जाते हैं और सूरदास भी प्राणों से हाथ धो बैठता है। सूरदास की मृत्यु पर उपन्यास समाप्त हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या उपन्यास इस जोर-जुल्म, अत्याचार का कोई हल सुझाता है। हल सांकेतिक है, यह संघर्ष करने की प्रेरणा में निहित है। सूरदास जमीन के हड़पने के विरुद्ध एक नहीं, दो बार अहिंसात्मक संघर्ष छेड़ता है। वह समूची प्रतिरोधात्मक शक्तियों का प्रतीक बन उनका नेतृत्व करता है। अत्याचार और स्वत्वहरण को चुपचाप सहन न करके उसे प्राणान्तक टक्कर देने का जीवट जगाने का संदेश उपन्यास देता है। सफलता अथवा असफलता की कसौटी पर ही किसी महान उद्देश्य की परख नहीं की जा सकती। उद्देश्य की स्वच्छता, उसके प्रति अनन्य निष्ठा और निरन्तर जागरूक आत्मबल, वे क्षमताएँ हैं, जो किसी भी न्याययुद्ध में संलग्न सैनिक में अपेक्षित हैं। युग बदलता है, संदर्भ बदलते हैं किन्तु अत्याचार समाप्त नहीं होता। वह समयानुसार केवल रूप बदलता है, उससे टक्कर लेने के लिए इन सब गुणों की अपेक्षा बनी रहेगी। तभी संसार में सच्ची सुख-शान्ति का आवाहन हो सकता है। जबर के मनमानेपन और कमजोर के आत्मबलयुक्त प्रतिरोध की यह कथा न जाने कितने रूपों में कितनी बार इस देश में या अन्यत्र दोहराई जाएगी, कहना कठिन है। इस कथा की निर्मिति में उपन्यासकार को महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन ने परोक्षतः प्रेरित किया है। प्रेमचंद अपने एक निबन्ध में स्वयं लिखते हैं कि सूरदास-पात्र की रचना में प्रेरक-स्वरूप अपने गाँव में उनका देखा हुआ एक अंधा भिखारी है।

सूरदास जॉनसेवक और उसके समर्थकों से निहत्था संघर्ष करता है। वह अविवाहित है, उसका परिवार नहीं। उसका वास्तविक घर-परिवार है पाण्डेपुर की बस्ती। बस्ती के सभी लोगों से उसका सहज स्नेहभाव है। गाँव के जीवन में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और छोटी-छोटी बातों पर आए दिन के मनमुटाव हैं फिर भी मैल किसी के मन में बहुत समय टिकता नहीं। साधारण मानवीय अपनत्व अप्रकट रूप से सबको परस्पर बाँधे रखता है। बस्ती का भैरो पत्नी सुभागी से दुर्व्यवहार और मारपीट करता है। बात बढ़ने पर वह सूरदास के यहाँ आश्रय लेती है। इस प्रश्न को लेकर भैरो सूरदास से अदावत रखता है किन्तु सूरदास की ऋषितुल्य सच्चरित्रता, उदारता और क्षमाशीलता से पराभूत होता है।

प्रेमचन्द का 'परिवार-प्रयोग'

दूसरी ओर सूरदास के प्रतिद्वन्द्वी जॉनसेवक का भी परिवार है। इस परिवार के सभी सदस्य चारित्रिक दृष्टि से कुछ विलक्षण हैं। इनके चारित्रिक प्रकरण मिलकर कथा का रूप धारण कर लेते हैं। प्रारम्भ में ही सेवक-परिवार के सदस्य फिटन में बैठकर पाण्डेपुर की सैर करने आते हैं। उसी समय उपन्यासकार उनका जो परिचय देता है उसके कुछ वाक्यों से ही उनकी चारित्रिक विशेषताएँ मुखर हो उठती हैं और पूरे उपन्यास में उन्हीं की विविध प्रसंगों में व्याप्ति है। जैसे, *जॉनसेवक की मुखाकृति से गरूर और आत्मविश्वास झलकता था। मिसेज सेवक को* काल-गति ने अधिक सताया था। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। और उससे हृदय की संकीर्णता टपकती थी। पुत्र प्रभुसेवक जवान था चेहरे पर गम्भीरता और विचार का गाढ़ा रंग नजर आता था। पुत्री सोफिया बड़ी-बड़ी आँखों वाली लज्जाशील युवती थी। देह अति कोमल, रूप अति सौम्य। सिर से पाँव तक चेतना ही चेतना थी।

आगे चलकर बताया गया है कि जॉनसेवक के अवकाश प्राप्त वयोवृद्ध पिता ईश्वर सेवक के जीवन का मूल तत्व 'किफायत' था। वह अपने घर में धन का अपव्यय नहीं देख सकते थे, चाहे वह किसी मेहमान ही का क्यों न हो। घोर धर्मानुरागी हैं। अन्त में ईश्वर सेवक फिजूल खर्ची देखकर सिर धुनते प्राण त्यागते हैं। मिसेज सेवक संकीर्णता और स्वार्थप्रियता के कारण उदार, स्वतन्त्रता-प्रेमी पुत्री सोफिया की गतिविधि फूटी आँख न देख सकती। अन्ततः पागल हो जाती है। पुत्र प्रभुसेवक कवि हृदय है और स्वेच्छापूर्वक लन्दन जा बसता है। सोफिया हिन्दू धर्म की उदारता पर निछावर है। हिन्दू युवक विनय की सरलता और त्यागपरता पर मुग्ध हो घर क्या, यह संसार छोड़ जाती है। स्वयं जॉनसेवक धन के प्रेमी हैं और उसे कमाने में उनका जीवन अर्पित है।

ध्यान देने योग्य बात है, कि प्रेमचन्द कथा कहते हुए कहीं-कहीं, एक पात्र नहीं, उसका पूरा परिवार ही अपना विषय बना लेते हैं। वे परिवार के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी अन्तः क्रियाओं का बारीकी से चित्रण करते हुए, चरित्रों की विविधता तथा उनकी जीवन्त गति को चित्रित करते हैं। उनके 'परिवार-प्रयोग' से कथा विशेष प्रकार के आत्मीय तत्व को ग्रहण कर लेती है। इसी के साथ कथा के प्रभाव को दूरी तक बाँधे रखकर द्विगुणित करने में उन्हें विशेष

सहायता मिलती है। इसके विपरीत अलग-अलग पात्रों की कथा कहने में अलग स्थलों और विविध कालों में कथाकार को स्वभावत: प्रवेश करना पड़ सकता है। एक ही परिवार के अनेक पात्रों में कथासूत्रों का समवेत रूप से विकसित होना नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करता है। सफल नाटक में संकलन-त्रय का गुण सहायक होता है। संकलन-त्रय में कथा की एकता यानी, उसका सुगठित होना, स्थान की एकता और घटना के काल की एकता, इन तीनों तत्वों का समावेश रहता है। प्रेमचंद के 'परिवार-प्रयोग' में संकलन-त्रय के गुण स्वत: आ जाते हैं।

सोफिया संयोगवश राजा भरतसिंह के देशसेवी, त्यागी पुत्र विनय के व्यक्तित्व से अभिभूत होती है। विनय का परिवार भी उपन्यास में क्रम-क्रम से उद्‌घाटित होते हुए कथा का रूप धारण कर लेता है। भरतसिंह एक रियासत के मालिक हैं। एम्पत्ति-ऐश्वर्य की उन्हें कमी नहीं। वे विलासप्रिय हैं। भली प्रकार समय काटने के लिए पत्नी की प्रेरणा से समाजसेवी स्वयंसेवकों के विविध कार्यक्रम उन्हें अच्छे लगते हैं। यह सब उनके निकट है ऊपरी स्तर पर ही। पुत्र के न रहने पर वे सब कुछ भूलकर अपनी विलासप्रियता में पुन: रम जाते हैं। पत्नी जाह्नवी आत्माभिमाननी महिला है। उसे देश-प्रेम और आत्म-गौरव सर्वाधिक प्रिय है। उसने अपने सभी सपनों को पुत्र विनय में साकार करने का बीड़ा उठाया है। जाह्नवी के आत्मगौरव ने विचित्र हठ-सा रूप धारण कर लिया है। उसमें उसका माता का सहज रूप अनायास छिप गया है। उसके मातृत्व में जो सहज ममत्व का तत्व अपेक्षित है, उसका लुप्त हो जाना चरित्र की स्वाभाविकता पर प्रश्न चिह्न लगा सकता है। उपन्यास में माता रूप में जाह्नवी तथा मिसेज सेवक, दो नारियों का चित्रण हुआ है। एक आत्मगौरव में सब कुछ भूल गयी है और दूसरी संकीर्णता और स्वार्थप्रियता में ही जीवन की इति-श्री समझती है। दोनों यही सब-कुछ हैं, किन्तु माँ नहीं।

भरतसिंह का पुत्र विनय सरल तथा स्वाभिमानी युवक है। वह अपनी लगन की पूर्ति के लिए कुछ भी कर सकता है। वह कोई भी कष्ट उठा सकता है, और कुछ भी बलिदान कर सकता है। वह सूर के आन्दोलन के दौरान अपनी निष्ठा पर आक्षेप नहीं सह सकता। सचाई के प्रमाणस्वरूप अपने हाथों प्राण गँवा बैठता है। उसकी बहन इन्दु साधारणत: सरल स्वाभिमानी और किसी सीमा तक अहंकार-प्रिय युवती है। यशलिप्सु समाजसेवी पति महेन्द्रकुमार की संकीर्णता और स्वार्थप्रियता उसे

नहीं भाती। अंत में दोनों का सम्बन्ध टूट जाता है। महेन्द्रकुमार दुनिया की दृष्टि में अच्छे दीखने और अंग्रेज सरकार के पिट्ठू बने रहने के प्रलोभन में पाण्डेपुर की जमीन की लड़ाई में सूरदास का विपक्षी रहता है। सूरदास नष्ट हो जाता है। जॉनसेवक को जमीन हड़पने में सफलता मिलती है और महेन्द्रकुमार के हाथ अपयश आता है। महेन्द्रकुमार सूर के प्रति ईर्ष्या और वैमनस्य के कारण अपने प्राण तक गँवाता है।

विनय का परिवार समाजसेवी या देश-प्रेम से जुड़ा हुआ है। ध्यान से देखें तो इस परिवार के सभी जन मूलत: अपने-अपने अहंकार के पोषक हैं। भरतसिंह के लिए समाजसेवा फैशन है। जाह्नवी को देश-सेवा के गौरव का मद है। इन्दु पति के अहंकार की टक्कर में स्वयं अहंकारग्रस्त है। विनय सेवा के नाम पर सदैव तत्पर है। किन्तु अपने अहं पर आँच आने पर ठीक उल्टी दिशा में भी उसी गति से चल सकता है। महेन्द्रकुमार समाजसेवी पीछे, यशलिप्सु पहले है। वह अधिकार और पद के लिए कुछ भी कर सकता है।

उपन्यास के कथा-प्रवाह में एक और 'परिवार-प्रयोग' है। ताहिलअली जॉनसेवक के गोदाम का मुंशी है। वह धर्मभीरु, परिश्रमी है, और संयुक्त परिवार के दायित्व-निर्वाह में भोलेपन के कारण मूर्ख सिद्ध होता है। उसके पिता दो विधवा विमाताएँ छोड़ गए हैं। जिनके पुत्र भी हैं। विमाताएँ कुटिल हैं और शोषक। ताहिरअली फलस्वरूप ऋणी और गबन करने वाला बनता है। जेल जाता है। जेल से लौटने पर उसकी आँखें खुलती हैं। यह कथा उपन्यास के मूल प्रवाह का अंग नहीं है। प्रेमचंद कथा-विस्तार देने के क्रम में चारों ओर की दुनिया को समेटते चलते हैं। उसी प्रवृत्ति की देन यह कथा है।

सूरदास-नगण्य किन्तु विलक्षण

अब हम उपन्यास के कुछ उल्लेखनीय चरित्रों और प्रकरणों पर प्रकाश डालेंगे। 'रंगभूमि' की इतनी कथाओं के बीच सूर और जॉनसेवक के संघर्ष की कथा प्रमुख है। सूरदास और जॉनसेवक पर विचार किया जा रहा है। प्रेमचंद ने बड़े सहज भाव से उपन्यास के आरंभ में ही सूरदास का जो परिचय दिया है वह उसके वर्ग-गत व्यक्तित्व को भूमिका-स्वरूप प्रस्तुत करता है। वे लिखते हैं: "भारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका

बना-बनाया नाम है, और भीख माँगना बना-बनाया काम है। उनके गुण और स्वभाव भी जगत-प्रसिद्ध हैं-गाने-बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेष अनुराग, अध्यात्म और भक्ति में विशेष प्रेम, उनके स्वाभाविक लक्षण हैं। बाह्य दृष्टि बंद और अंतर्दृष्टि खुली हुई।''

सूरदास का चरित्र व्यक्तिप्रधान या विलक्षण उन्हीं स्थलों पर बनता है जहाँ उसके स्वभाव में अन्तर्विरोध का तत्व प्रबल होता है, या जहाँ वह अपनी उदारता और न्यायप्रियता को दृढ़ता प्रदान करता है। साधारणत: सूर की वर्गगत विशेषताओं की उपन्यास में आद्यन्त व्याप्ति है। सूर एक ओर त्याग और सन्तोष का जीता-जागता प्रतीक है। किन्तु, सड़क के किनारे बैठे भीख माँगते जब उसे इक्के या फिटन के आने-जाने की आवाज सुन पड़ती है तो उनके पीछे दौड़ने में उसके पैरों में पर लग जाते हैं। एक पैसे के लिए वह पूरे एक मील की दौड़ लगा सकता है। यहाँ कहना न होगा, प्रेमचन्द पात्रों और परिस्थिति के चित्रण में, मौज में आकर, सहज रूप से अतिरेक का पुट भी देते चलते हैं। यह बात उपन्यास में अनेक प्रकरणों में द्रष्टव्य है। सूरदास की निर्मिति में प्रेमचंद के अतिरेक का स्पर्श अनायास दीख पड़ता है, फिर भी कुल मिलाकर यह चरित्र इतना भव्य और प्रभावी बन पड़ा है कि इसके चित्रण में अनायास रेंग आए किंचित् दोषों को, पाठक-आलोचक, अनदेखा कर देना पसन्द करेंगे। अस्तु।

सूरदास अत्याचारी पति भैरों के हाथों से उसकी पत्नी सुभागी की रक्षा करने में बदनामी और कष्ट उठाता चलता है। भैरों उसकी झोंपड़ी में आग ही नहीं लगाता, वरन पाँच सौ से ऊपर रुपयों की थैली भी उड़ा ले जाता है। यह धनराशि उस युग में बहुत बड़ी है और भिखारी सूरदास की चिरसंचित पूँजी है। सुभागी के हाथों भैरो के घर से रुपयों की वही थैली पुन: प्राप्त होने पर सूर उसे भैरो का धन मानकर लौटा आता है। थैली की वापसी का भेद खुलने पर भैरो जो वितण्डा खड़ा करता है उससे सूर के ही नहीं, गाँव के जीवन में भूकम्प आ जाता है। साधारणत: ऐसी विरक्ति और त्याग की घटना अस्वाभाविक जान पड़ सकती है। किन्तु सूर जैसा विलक्षण चरित्र सामान्य से ऊपर होता है। वह अपनी अस्मिता को स्थापित करने के लिए ऐसा भी कर बैठे तो क्या आश्चर्य!

एक ओर सूर इतना उदार है और दूसरी ओर, सुभागी को छेड़े जाते देख पड़ोस के नौजवानों के प्रति उतना ही कठोर हो उठता है। वह किसी की नहीं सुनता

और उन्हें जेल की सजा दिलाकर रहता है। वह जमीन छिनने के प्रश्न पर दो बार आन्दोलन छेड़ता है। धरम के काम के लिए वह उसे त्याग सकता था। किन्तु अन्याय और जबरदस्ती के आगे घुटने टेकना नहीं जानता। अहिंसात्मक सत्याग्रह मे कई लोग मारे जाते हैं और वह स्वयं भी प्राण गँवाता है।

सूरदास की दृढ़ता औचित्य के पक्ष में है। वह जो कुछ करता है असंलग्न भाव से, उसे केवल अपना परम कर्त्तव्य समझकर। वह पूँजीपति और उसके समर्थक जनों से टक्कर लेता है। किन्तु वर्ग-विद्वेष का उसमें लेश नहीं। वर्ग-संघर्ष प्रेमियों को यह बात खटक सकती है। पर यहाँ ध्यान देने योग्य है, सूरदास की व्यक्तिगत स्थिति और उसका मानसिक चिंतन-स्तर। सूरदास बच्चों के रोने पर सोचता है: "वाह! मैं तो खेल में रोता हूँ।....खेल में रोना कैसा? खेल हँसने के लिए, दिल बहनाले के लिए है, रोने के लिए नहीं।" मरणासन्न दशा में वह मानो इस कथन का भाष्य बड़बड़ाता है:

"तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"

अन्त में उपन्यासकार पूरे अनुच्छेद में सूर के चरित्र पर जो टिप्पणी करता है। उसका सार है कि सूर में गुण कम थे, अवगुण बहुत। किन्तु ये सभी दुर्गुण उसके एक गुण के संपर्क से नमक की खान में जाकर खो जाने वाली वस्तुओं की भाँति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे। वह गुण था न्याय-प्रेम। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था. अनीति उसके लिए असह्य थी।

सूरदास का प्रतिपक्षी पूँजीवादी जॉनसेवक भी एक प्रकार से अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उसके व्यक्तित्व को उपन्यासकार ने बड़ी खूबी से सँवारा है। जॉनसेवक अपने चिंतन-मनन से बड़ा स्पष्ट है। बला का कर्मठ और व्यवहार कुशल। अपने लक्ष्य से डिगना उसने नहीं सीखा है। लक्ष्य ही उसका जीवन हो गया है। जॉनसेवक के पिता और पत्नी धर्मांध हैं। जॉनसेवक स्वयं उस समाज के बीच उसी भंगिमा का परिचय देता है, फिर भी उसका बेलाग मत है कि धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। धर्म व्यापार का श्रृंगार है। किसी काम का अच्छा या

बुरा होना उसकी सफलता पर निर्भर है। संसार शान्ति भूमि नहीं, समर भूमि है। त्याग और परोपकार केवल आदर्श है - कवियों के लिए, भक्तों के मनोरंजन के लिए, उपदेशकों की वाणी को अलंकृत करने के लिए। कथनी और करनी को इतना अलगाकर दिखाने की क्षमता उस जैसे स्वार्थसाधक, अति व्यावहारिक पात्र में ही देखी जा सकती है। परिणाम भी उतना ही गंभीर होता है। उसका सारा परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है। सारा जीवन त्रासद अन्त को प्राप्त होता है। जॉनसेवक के बारे में लेखक का जो निष्कर्षात्मक सूत्र है, वह बेजोड़ बन पड़ा है:

"रहे मिस्टर जॉनसेवक। वह निराशामय धैर्य के साथ प्रात: काल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है। धन से उन्हें नि:स्वार्थ प्रेम है, कुछ वही अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है।"

अपनी वृत्ति की दासता इससे बढ़कर क्या हो सकती है। ऐसा कर्मठ व्यक्ति अपने हाथों अवश है। मूढ़ लिप्सा की निरर्थक नियति यही सम्भव है। जॉनसेवक को ध्यान से पढ़कर हमारे मन में उपेक्षा और आक्रोश से बढ़कर, तरस का भाव जगता है।

'रंगभूमि' में विनय और सोफिया की प्रेमकथा विस्तृत है और इसका अपना आकर्षण है। सोफिया ईसाई है और विनय हिन्दू। विनय का जीवन उसकी माता ने देश-सेवार्थ निश्चित कर रखा है। सोफिया को विनय का सरल और सहृदय व्यक्तित्व मोह लेता है। सोफिया सुन्दर तो है ही। उसका प्रबुद्ध, प्रखर, कोमल मन विनय के लिए असाधारण आकर्षण का विषय है। विनय की माता जाह्नवी इन दोनों के बीच प्रेम की अनहोनी घटना घटते देख विनय को बलात् उदयपुर की एक रियासत में जनसेवार्थ भेज देती है। विनय वहाँ सेवा-सुश्रूषा के कार्य से आगे बढ़कर रियासत के अत्याचारों से टक्कर लेने का कार्यक्रम ग्रहण कर विद्रोही बन जाता है। उसे जेल होती है। उसे जेल से छुड़ाने के लिए सोफिया अंग्रेज रेजिडेन्ट क्लार्क से प्रेम का स्वांग भरकर उसके साथ वहाँ जा पहुँचती है।

विनय और सोफिया के मध्य प्रणय के कोमल तन्तु के विकास-क्रम में दोनों के मन में जो विचार और भाव-तरंगे उठती हैं उन्हें मनोयोग से उपन्यासकार ने दूर-दूर

तक चित्रित किया है, किन्तु उनकी मानस-तरंगों को निर्देशित करने के लिए स्थूल घटनाओं का पग-पग पर आश्रय अधिक लिया है। यह स्वाभाविक था। उस समय तक मनोभावों को प्रस्तुत करने की मनोवैज्ञानिक शैली का विकास होना शेष था। सोफिया क्लार्क से प्रेम का जो खेल खेलती है, वह उसकी मूल प्रकृति के अनुरूप नहीं है। घटना-विकास के लिए प्रेमचंद ने इस प्रकरण का आश्रय लिया है जो ऐसे स्थलों पर किसी सीमा तक सोफिया के चरित्र को अस्वाभाविक बनाता है।

रियासत में दंगाइयों से घिरी सोफिया की रक्षा करते हुए विनय आक्रामक हो सेवाव्रत को भूल प्रजा और प्रजा-सेवियों का चिर शत्रु बन बैठता है। उसका चरित्र ठीक उलट जाता है। सोफिया को विद्रोहियों के यहाँ आश्रय मिलता है। संयोगवश विद्रोह-विरोधी विनय की एकाएक सोफिया से जब भेंट होती है, उस समय, सोफिया उस पर व्यंग्य, धिक्कार और तिरस्कार की झड़ी लगा देती है। विनय से कुछ कहते नहीं बनता। वस्तुत: सोफिया के मन से विनय की चाह नहीं गई है। उसे दुख है विनय के आदर्शों से गिर जाने का, जिनके कारण ही वह विनय के प्रति आकृष्ट हुई थी। यहाँ उनके तीव्र मतभेद का कारण विनय द्वारा जीवन-मूल्यों की अवहेलना है। मूल्य हैं, जीवन विषयक नैतिक मानदण्ड जो परम्परा-सुलभ हैं और जिनमें हमारी चिर आस्था है। कालांतर में जीवन के प्रकरण बदलते हैं, किन्तु वे नहीं बदलते। विनय पीड़ितों का सेवक था। अब प्रमादवश स्वयं उनका पीड़क बन बैठा है। यही अन्तर्विरोध सोफिया का दिल विनय की ओर से खट्टा कर देता है।

संयोगवश विनय और सोफिया पुन: मिलते हैं और दोनों बहुत समय तक भीलों के बीच सरल, शान्त जीवन व्यतीत करते हैं। सोफिया अपराध बोध से पीड़ित है। वह विनय को पति-रूप में स्वीकार नहीं कर पाती। घर लौटकर दोनों के विवाह की तैयारी होती है, किन्तु भावी दुर्भाग्य से आशंकित सोफिया सहज नहीं हो पाती। अन्तत: सूर के आन्दोलन में, साधारण लोगों के व्यंग्य-बाण से आहत हो विनय आवेशवश प्राणों से हाथ धो बैठता है। मानो प्रेमचंद इस कथा का समुचित समापन ठीक-ठीक न खोज पाने के कारण इन दोनों पात्रों को मृत्यु के घाट उतार कर चैन लेते हैं। प्रेमचंद जब पात्रों को ठीक दिशा नहीं दे पाते, या उनके प्रति पाठकों के मन में करुणा जगाकर छोड़ जाना चाहते हैं तो वे इस प्रकार के बरबस मृत्यु-काण्ड का आश्रय लेते हैं।

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में एक स्थल पर अनायास, व्यक्ति के सामान्य जीवनयापन और उसकी लेखन क्षमता के मध्य, साहित्य में दीख पड़ने वाली दूरी की समस्या पर भी प्रकाश डाला है। सोफिया स्वभाव से अत्यन्त शान्त और स्निग्ध युवती है। इन्दु से उसकी खटकी हुई है अत: वह उसके पति को नीचा दिखाती है। उस पर व्यंग्य युक्त प्रहसन लिखती है। प्रहसन सुनकर भाई प्रभुसेवक कहता है-"तुम्हारी रचना तुमसे कहीं नीची है।" उत्तर में सोफिया कहती है कि प्रभुसेवक की कविता गहनभाव-युक्त है। उसमें क्षमा जैसे अप्रतिम भाव का सुन्दर चित्रण है। फिर उससे शंका करती है-"तुम्हारा एक-एक शब्द हृदय में चुभ जाता है। आश्चर्य है, तुममें क्षमा का लेश भी नहीं है।"

इस समस्या का उत्तर प्रभुसेवक ठीक ही देता है-"भावों के सामने आचरण का कोई महत्व नहीं है। कवि का कर्म-क्षेत्र सीमित होता है, पर भावक्षेत्र अनन्त और अपार है। .....कवि के भाव बतलाते हैं कि यदि उसे अवसर मिलता, तो वह क्या कुछ हो सकता था।"

लेखन में रचयिता के भोक्ता जीवन और रचयिता व्यक्तित्व के मध्य इस प्रकार का अन्तर देखा जा सकता है, इस तथ्य का अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि एवं चिन्तक-आलोचक टी.एस. इलियट ने अपने बहुचर्चित निबन्ध "परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा" में सविस्तार प्रतिपादन किया है।

अन्त में प्रेमचंद के सूक्ति-प्रयोग की विशेषताओं पर प्रकाश डालना अप्रासांगिक न होगा। प्रेमचंद ने उपन्यास-कला को 'मानव चरित्र का चित्र-मात्र' का साधक स्वीकार किया है। चरित्र का चित्रण वे पात्रों और घटनाओं के परस्पर घात-प्रतिघात के आश्रय से करते हैं। साथ ही, वर्णन-विश्लेषण के अन्तर्गत वे जीवन के अनुभवों और मनुष्य के चरित्र विषयक अपने निष्कर्षों को एक या एकाधिक वाक्यों में, सहज ही, सूत्र रूप में ढालते चलते हैं। उनकी सूक्तियाँ कभी अनुभव का वर्णन-मात्र करती हैं, तो कभी उसकी व्याख्या भी करती है। कहीं वे सूक्ति को उदाहरण-सहित प्रस्तुत करते हैं और कहीं उसके कारण का विश्लेषण करते हैं। मानव-स्वभाव को सूत्र-रूप में ढालते समय वे उनकी व्याख्या करते हुए पूरा अनुच्छेद तक लिख डालते हैं। कभी मानव-स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए विरोधाभास और कभी तुलना आदि साधनों का आश्रय लेते हैं। 'रंगभूमि' में प्रयुक्त उनकी प्रमुख सूक्तियों को उदाहरण-स्वरूप यहाँ उद्‌घृत किया जा रहा है। यथा :

- साझे की सुई ठेले पर लदती है।
  तू चल, मैं आता हूँ, यही हुआ किया।

- (विरोधाभास) लज्जा अत्यन्त निर्लज्ज होती है। -उद्दण्डता सरलता का केवल उग्र रूप है।

- तोप के सामने खड़ा सिपाही भी बिच्छू को देखकर सशंक हो जाता है।

- मूर्खों के पास युक्तियाँ नहीं होती, युक्तियों का उत्तर वे हठ से देते हैं।

- (निरीक्षण) वृद्धावस्था में मौन विचार-प्रौढ़ता का द्योतक होता है और युवावस्था में विचार-दारिद्य का।

- धर्म का मुख्य स्तम्भ भय है।

- क्रियात्मक सहानुभूति ग्रामनिवासियों का विशेष गुण है।

- पीड़ित प्राणियों के लिए रात एक कठिन तपस्या है।

- कुतुहल का परिष्कृत रूप ही आदर है।

- मन एक भीरु शत्रु है, जो सदैव पीठ के पीछे से वार करता है।

इन सूक्तियों को पढ़कर पाठक जीवन पर और मनुष्य के मन के रहस्यों पर रह-रह कर विचार, पुनर्विचार करने को विवश हो तो आश्चर्य नहीं।

मुंशी प्रेमचंद की अमर कृति 'गोदान' को सर्वस्वीकृति मिली है। उनके रचना-संसार में 'रंगभूमि' का भी कम महत्व नहीं। इसमें मनुष्य के अहं के लीला-वैचित्र्य का विविध संदर्भों में मार्मिक चित्रण हुआ है, और मानव-मनोविज्ञान के रहस्यों पर उपन्यासकार ने सशक्त सूत्र सँजोये हैं।

14. रंगभूमि : पराजय में मानवीय विजय की कथा

शंभुनाथ

'रंगभूमि' की आलोचना में शुरू से ही दो गड़बड़ियाँ थीं। एक, उपन्यास के नायक सूरदास को गांधी समझा गया, दूसरे जानसेवक से उसके संघर्ष को पूँजीवाद से सामंतवाद के संघर्ष के रूप में पहचाना गया। गांधी समझ लिये जाने के कारण सूरदास के चरित्र की वास्तविक व्याख्या नहीं हो पायी और जो भी प्रशंसा या निंदा हुई, गांधी की हुई। सूरदास के संघर्ष को सहीं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं देखने के कारण उपन्यास में भारतीय सामाजिक विकास का गलत प्रतिबिंब ढूँढ़ा गया। निःसन्देह 'रंगभूमि' में कुछ बड़े घरानों-कुँवर भरत सिंह और रानी जाह्नवी, राजा महेन्द्रकुमार और इंदु, विनय और सोफिया, मिस्टर और मिसेज जानसेवक की कथा विस्तार से है। लेकिन मुख्य है, एक अंधे भिखारी सूरदास की कथा, अन्याय के खिलाफ उसके प्रतिरोधात्मक संघर्ष की कथा। इतने मामूली इंसान को नायक बना देना हिंदी साहित्य की उल्लेखनीय घटना है। इसकी पृष्ठभूमि में कला का एक नया दृष्टिकोण है।

प्रेमचंद सूरदास के माध्यम से जनता के राजनैतिक-आर्थिक संघर्ष का एक नया रास्ता खोजना चाहते थे, इसलिए उनकी दृष्टि समाज के सबसे गरीब आदमी पर पड़ी। पास में जब संघर्ष का कोई हथियार या संगठन न हो, गरीब आदमी अत्याचारों का मुकाबला आखिरी दम तक किस प्रकार करे, उपन्यास का नायक सूरदास बतलाता है। वह एक प्रयोग करता है। यह प्रयोग न संघर्षशील भारतीय जनता का एकमात्र एवं आखिरी प्रयोग था, न प्रेमचंद का। इसकी अगर कुछ ऐतिहासिक प्रासंगिकता थी, तो यही कि कुछ देशवासियों ने अंग्रेजी दमन के विरुद्ध स्वतःस्फूर्त संघर्ष भी किया था। इन्होंने अपनी नैतिक आत्मशक्ति के बल पर अनेक बार अकेले ही अत्याचारों का मुकाबला किया था और आहुतियाँ दी थीं। क्या इन सच्चाइयों को इसलिए झुठला दिया जाये कि आगे चलकर राष्ट्रवादी आंदोलन के नेतृत्व में भटकाव आ गया?

सूरदास के चरित्र पर राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रभाव है, किंतु यह धारणा गलत है कि वह अपने में गांधीवाद या किसी वैष्णव जन को मूर्त्त करता है। 'रंगभूमि'

1925 का उपन्यास है। तब सामाजिक सुधार, हिंदू-मुस्लिम एकता तथा स्वतंत्रता के लिए सत्याग्रह के संदर्भ में गांधी के विचार अभी सामने आ ही रहे थे। गांधीवाद नाम की तो कोई चीज ही नहीं थी। गांधीवाद महात्मा गांधी का नहीं, सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों का दर्शन है, जो बहुत बाद में बना। प्रेमचंद जब 'रंगभूमि' की रचना कर रहे थे, उस वक्त असहयोग आंदोलन की विफलता के परिणामस्वरूप गांधी की राजनीति को लेकर जनता में व्यापक आक्रोश था। लाजपत राय सहित कई नेता क्षुब्ध थे कि चौरी-चौरा कांड को आधार बनाकर नागरिक अवज्ञा आंदोलन रोक देने का क्या औचित्य है। उत्साहित जनता को गांधी के कदम से झटका लगा था। ऐसी परिस्थिति में प्रेमचंद का लक्ष्य सूरदास में गांधी को मूर्त करना नहीं हो सकता था। वह सूरदास को आम आदमी के रूप में चित्रित करना चाहते थे, ताकि उसे देखकर गरीब देशवासियों की वास्तविक हालत एवं संघर्ष की ताकत का सहज अहसास हो सके। सूरदास अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में हतोत्साहित होकर पीछे नहीं हटता। वह सरकारी आदेश के बावजूद अपने झोंपड़े से नहीं हटता और तोप के सामने अडिग खड़ा रहता है। यह इस बात की ओर संकेत है कि संघर्ष की प्रक्रिया में नेतृत्व अगर भटक भी जाये, जनता की लड़ाई जारी रहती है। स्वाधीनता संग्राम समग्र भारतीय जनता की आकांक्षाओं और चेष्टाओं का प्रतीक था, किसी एक नेता का कार्य नहीं था। अतः प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' के सूरदास में आम आदमी की आकांक्षाओं और संघर्षों को मूर्त्त करने का प्रयास किया था, किसी खास नेता के जीवन-दर्शन को नहीं।

कुछ ही वर्षों पहले (1919) जालियाँवाला बाग के हत्याकांड से जनता की सहनशीलता का बाँध टूट चुका था। कथाकार ने सूरदास के झोंपड़े और विशाल जनसमूह पर अंग्रेजी दमन का चित्र उपर्युक्त हत्याकांड के परिप्रेक्ष्य में ही खींचा है। सूरदास की झोंपड़ी पर तोपें तनी हुई हैं। जनरल डायर की तरह ब्राउन निहत्थी जनता पर गोलियाँ चलाता है। इंद्र दत्त सहित कई लोग मारे जाते हैं। कई घायल हो जाते हैं। सूरदास की झोंपड़ी एक जातीय मंदिर बन जाती है, झोंपड़ी गिराने का आदेश पाकर 'सशस्त्र पुलिस और मजदूरों का एक दल उनके साथ चला, मानो किसी किले पर धावा करने जा रहे हैं। उनके पीछे जनता का एक समूह भी चला। राजा ने इन आदमियों के तेवर देखे, तो होश उड़ गये। उपद्रव की आशंका हुई। झोंपड़े को गिराना इतना सरल प्रतीत नहीं हुआ, जितना उन्होंने

समझा था।'' प्रेमचंद ने एक कुशल कथाशिल्पी की तरह गरीब के साधारण से झोंपड़े को राष्ट्रीयता के मंदिर का रूप प्रदान कर दिया और एक आदमी की नैतिक आत्मशक्ति को हजारों व्यक्तियों के सत्याग्रह में विकसित कर दिया। गोली चलने के बाद उत्पन्न अशांतिमूलक परिस्थितियों के बावजूद सूरदास अपनी नागरिक अवज्ञा स्थगित नहीं करता, बल्कि कहता है, "पहले मेरी देह पर फावड़ा चल चुकेगा, तब घर पर फावड़ा चलेगा।'' उसकी सामान्य झोंपड़ी स्वाधीनता की चेतना में परिणत हो गयी, जिस पर अनगनित आदमी आमोत्सर्ग करने के लिए तैयार थे। यह कोई मामूली प्रेरणा नहीं थी, लेकिन इसका स्रोत एक भिखमंगे में था, जो अपंग था। प्रेमचंद केवल यह स्पष्ट करना चाहते थे कि मानवीय मुक्ति-संघर्ष का वास्तविक स्रोत समाज के सबसे दलित, प्रताड़ित और शोषित इंसान में है। उन दिग्भ्रमित समीक्षकों के बारे में क्या कहा जाये, जो गांधी के प्रति अपनी निजी भक्ति या नाराजगी का शिकार सूरदास को बनाते हैं।

प्रेमचंद ने सूरदास का चित्र इस प्रकार खींचा है, "वह यथार्थ में खिलाड़ी था-वह खिलाड़ी, जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आया, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाये, जीता तो प्रसन्नचित रहा, हारा, तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो मरनेवाले से कीना नहीं रखा, जीता तो हारनेवाले पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की। .... कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला, पर हृदय धैर्य और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था। देह पर मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।'' सूरदास की हालत आम भारतवासी की हालत से कहाँ भिन्न है? प्रेमचंद आगे स्पष्ट कर देते हैं, "वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था, एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ। ....क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार-ये सभी दुर्गुण उस एक गुण के संपर्क से नमक की खान में जाकर नमक हो जाने वाली वस्तुओं की भाँति देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द या उसका जो नाम रख लीजिए। अन्याय देखकर उसे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।'' समकालीन जीवन में कदम-कदम पर अन्याय और दुर्नीति देखकर आदमी इतना संवेदनहीन होता जा रहा है कि वह सूरदास को मूर्ख कहना चाहेगा। परंतु व्यावसायिक मानसिकता से मुक्त मनुष्य को, चाहे वह गाँव का हो

अथवा कस्बे का, बस्ती का हो या शहर का, सूरदास अवश्य अपील करेगा। अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' में ठीक लिखा है कि "वह एक आदर्श सत्याग्रही है, लेकिन राजनैतिक आंदोलन के सीमित अर्थ में नहीं, जीवन की एक समग्र दृष्टि के व्यापक अभिप्राय में।"

यह भ्रम भी दूर कर लेना चाहिए कि सूरदास पूँजीवाद के विरुद्ध सामंती व्यवस्था की आवाज है। एक आलोचक ने यहाँ तक लिखा कि "वह अनजाने में केवल सामंतवादी व्यवस्था को लौटा लाने का एजेंट मात्र हैं।" पूँजीवाद को सामंतवाद से प्रगतिशील मानते हुए जानसेवक के सिगरेट-कारखाने को ऐतिहासिक जरूरत तक बतलाया गया। इस सैद्धांतिक फार्मूले के अनुसार यही कहना चाहिए कि जानसेवक समाज को आगे की ओर ले जाना चाहता है और सूरदास पीछे की ओर। सूरदास को गांधी माननेवालों को पता होना चाहिए कि महात्मा गांधी पूँजीपतियों के विरोधी नहीं थे। जबकि सूरदास सामंतवादी राजा महेन्द्रकुमार और पूँजीवादी जानसेवक दोनों से जूझता है। पांडेपुर भी एक गाँव नहीं बस्ती है। यह मुख्य शहर के निकट है। यहाँ खेती नहीं होती, बल्कि छोटे काम-धंधों में लगे लोग, खोमचेवाले और दूधवाले रहते हैं। कोई कृषि-व्यवस्था यहाँ नहीं है और बडे किसान तो एकदम नहीं हैं, जिनके वर्गहित में सूरदास उद्योगपति से टकराता। अतः मुख्य सवाल है कि सूरदास की लड़ाई किससे है और क्यों है?

ऊपरी तौर पर लड़ाई सूरदास की दस बीघे जमीन को लेकर है। कहने के लिए यह उसकी जमीन है, पर है यह सभी बस्तीवासियों की। इस पर ढोर चरते हैं। नायकराम पांडे के यात्री आकर विश्राम करते हैं। बच्चे खेलते हैं। यह जमीन सूरदास के अपने काम में नहीं आती। इसे जानसेवक सिगरेट-कारखाना लगाने के लिए खरीदना चाहता है। सूरदास इन्कार कर देता है। बस, इसीलिए पूँजीपति जानसेवक अपना जाल फैलाता है। राजा महेन्द्र कुमार को, जो म्युनिसिपेलिटी के प्रधान हैं, अपने वश में कर लेता है और सूरदास की जमीन छीनने में उसकी मदद लेता है। मि. क्लार्क को भी जो जिलाधीश हैं, फँसा लेता है। अपनी चतुर व्यावसायिक बुद्धि, छल-प्रपंच और अंग्रेजी रोबदाब के कारण जानसेवक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग दोनों से तालमेल रखता है। पांडेपुर के बाशिंदो को भी फोड़ता है।

जानसेवक ने राजा-जमींदार वर्ग से संधि की। वह इस तथ्य से परिचित था कि देश में सामंतवाद के सहयोग से ही पूँजीवाद विकसित हो सकता है। दोनों में मधुर संबंध आवश्यक है। कुँअर साहब के सहयोग से जनता में कंपनी की साख जम सकती है, इसलिए उन्हें कंपनी में हिस्सेदार बनाया गया। जानसेवक धर्म को व्यापार का शृंगार मानने के बाद कहता है, "धर्म और व्यापार को एक तराजू में तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार। इसमें परस्पर कोई संबंध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं।" देशभक्ति का स्वांग करनेवाले जानसेवक का दृष्टिकोण नवोदित व्यापारी-पूँजीपति वर्ग का दृष्टिकोण है, जिसकी दृष्टि हर क्षण मुनाफा पर टिकी रहती है। जानसेवक अपने वफादार नौकर ताहिर अली की हालत पर भी रहम नहीं करता, न वह अपने साधारण मजदूरों की चिंता करता है। वह औपनिवेशिक भारत में उद्योगीकरण का अनिवार्य, परंतु एक क्रूर प्रतीक है।

'रंगभूमि' में जिस जनवाद या जनतावाद का बार-बार जिक्र आया है, उच्च वर्ग में इसके माननेवालों में कुँअर भरत सिंह, राजा महेन्द्र प्रताप और जानसेवक हैं। वे वस्तुतः पूँजीवादी गणतन्त्र के हिमायती हैं। महेन्द्र कुमार जानसेवक से कहते हैं, "मैं स्वयं जनवादी हूँ और उस नीति में हृदय से विश्वास करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशांति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से तो 'धनवाद, एकवाद सभी वाद अच्छे हैं।' ऐसी ही सामाजिक शक्तियाँ जनवाद की अवधारणा को पूँजीवादी गणतंत्र, तत्पश्चात एकतंत्रवाद अथवा तानाशाही में विकसित करती हैं। पूँजीवादी गणतंत्र स्वतंत्रता और बराबरी के नाम पर केवल आडंबर भरे नारे प्रदर्शित करता है। इसमें शोषक वर्ग के हित पूर्णतया सुरक्षित रहते हैं और शोषित वर्ग की मुक्ति का कोई उपाय नहीं रहता। जनता के नागरिक अधिकार भी असुरक्षित रहते हैं और तंत्र पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। मुट्ठीभर लोग योजनाएँ बनाते हैं और शासन करते है। ऊँच-नीच, जातिभेद, सांप्रदायिकता एवं प्रांतीयता की भावनाओं के फैलने का पूरा अवकाश रहता है। मानवीय संबंध अजनतांत्रिक होते हैं और एक मनुष्य द्वारा दूसरे को दबाने की छूट रहती है। जनवाद के माननेवालों में दूसरा व्यक्ति सूरदास है, जो विचार से नहीं, कर्म के धरातल पर जनवाद के समाजवादी रूप पर विश्वास करता है। वह जनवादी होने का दंभ नहीं पालता। वह व्यक्तिगत संपत्ति नहीं मानता। अपनी

जमीन सबको दे देता है। भीख में कोई अधिक रुपये देता है, तो नहीं लेता। उसने जानसेवक के रुपये लौटा दिये। वह मन से भिखारी नहीं है, बल्कि एक त्यागी पुरुष है। अपने इकट्ठा किये हुए पैसों से वह कुएँ खुदवाने या तालाब बनवाने के स्वप्न देख रहा था। कोई काम मिलता, तो करता, पर उसे अंधा होने का बहुत गहरा दु:ख है। उसके मन की एकांतिक साध है, "सुनता हूँ-अंधे कुर्सी, मोढ़े, दरी, टाट बुन सकते हैं, पर यह काम किससे सीखूँ? कुछ भी हो, अब भीख न माँगूंगा।'' उसे बच्चे परेशान करते हैं। बड़े, जब जैसा वक्त हो, प्यार और नफरत दोनों करते है। फिर भी वह अपने वर्ग के सभी लोगों से भाईचारा रखता है। उनके लिए मंदिर की चौपाल पर सुर बाँधकर गाता है। वह मेहनतकश वर्ग का आदमी है-जाति का चमार। राजनैतिक स्तर पर उसकी लड़ाई पूँजीवादी गणतंत्र के पोषकों से होती और खूब होती है। अर्थात सूरदास के वर्गशत्रु हैं पूँजीवादी जानसेवक और सामंतवादी राजा महेन्द्र कुमार। दोनों ही अंग्रेजों के उपनिवेशवादी शोषण का पक्ष लेते हैं। कभी-कभी राष्ट्रीय हित की मुँहदेखी बात कर देते हैं, पर मूलत: वे स्वार्थी और अपने वर्गीय हितों के पोषक हैं। इन्हीं के विरुद्ध सूरदास नीति और धर्म की लड़ाई लड़ता है। बहुतों को सूरदास के प्रतिरोधात्मक संघर्ष से एतराज नहीं है, लेकिन उसकी नैतिकता और धर्म-भावना पर आपत्ति है।

सूरदास जमीन के साथ अपनी जान देने के लिए उतारू है, इस मामले को महज उद्योगीकरण का विरोध नहीं मानना चाहिए। यह जनजीवन के व्यापक मूल्यों की रक्षा का प्रश्न है। प्रेमचंद ने कृषि और छोटे उद्योगोंवाली समाज-व्यवस्था की परिकल्पना की थी। वह गरीबों को अमीरों की जरूरतें पूरी करने भर के लिए निर्धारित करना नहीं चाहते थे। बड़े उद्योगों की उत्पादन पद्धति गरीबों की पहुँच से परे हो जाती है। विकसित प्रौद्योगिकी में प्रभुसेवक जैसे विशेषज्ञों का महत्व बढ़ जाता है। सामान्य मजदूर की औकात घट जाती है। वह अपनी ही निर्मित वस्तुओं से विच्छिन्नता और बेगानेपन का अनुभव करने लगता है। गरीबों की संकुचित क्रयशक्ति के संदर्भ में भी भारी आधुनिक उद्योगों तथा इनमें बननेवाली महँगी वस्तुओं का कोई औचित्य नहीं है। जितना पूँजीनिवेश होता है, उतनी बेरोजगारी नहीं मिटती। प्रेमचंद ऐसे उद्योगों के सख्त विरोधी थे, जो अन्न का उत्पादन रोककर तंबाकू जैसी नशीली चीजों का उत्पादन बढ़ाते हों। इसमें अर्थ और स्वास्थ्य-दोनों की हानि थी। जानसेवक का कारखाना विकसित प्रौद्योगिकी का

नतीजा था, यह भारतीय अर्थव्यवस्था ही नहीं, सांस्कृतिक स्वास्थ्य के भी प्रतिकूल था। सूरदास की नैतिकता और धर्म-भावना सांस्कृतिक स्वास्थ्य के संदर्भ में ज्यादा जागृत होती है, जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जायेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगीं, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजदूरी की लालच में दौड़ेंगे। दिहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी।'' सूरदास पूँजीवादी अप-संस्कृति के प्रति चिंता प्रकट करता है और सांकेतिक स्तर पर बतलाना चाहता है कि कृषि-व्यवस्था को विकसित करने के स्थान पर पूँजीवाद के नाम पर बड़े आधुनिक उद्योगों एवं विकसित टेक्नालाजी की वकालत करना प्रगतिशीलता नहीं है। सूरदास सामंतवादी अर्थव्यवस्था का कायल नहीं है। वह पूँजीवाद का विरोध करता है, एक मानवीय और जनवादी समाज-व्यवस्था की रचना के उद्देश्य से। वह मजदूरों का नहीं, विलगाव एवं अपसंस्कृति उत्पन्न करने वाली बृहद् औद्योगिक व्यवस्था का विरोधी है, क्योंकि यह गरीब कृषकों की लूट के माल से स्थापित होती है। सूरदास की नैतिकता विकसित प्रौद्योगिकी की विरोधी, और जनवादी कृषि-सभ्यता की पक्षधर है। ढोर चराने की जमीन, जो एक की नहीं-सबकी है, इसका प्रतीक है।

जीवन-संघर्षों में अंधा सूरदास कई बार अकेला पड़ जाता है एवं अपने लाचार गुस्से में तमतमा उठता है। एक बालक मिठुआ के चिढ़ाने पर जब भैरो उसे पीटने लगता है, अपनी लाठी की मूठ मजबूती से पकड़कर सूरदास खुद अपनी जुबान से रट लगाता है, "भैरो भैरो ताड़ी बेच, या बीबी की साड़ी बेच'' और उसे ललकारता है। जब भैरो सहित बाकी लोग भी सूरदास के इस क्रोध पर हँस पड़ते हैं, उसे अपनी दीनता और बेकसी का निर्मम बोध होता है। उसकी दुनिया में उजाला नहीं है, यह उसकी सबसे बड़ी निर्बलता है। लेकिन उसकी आत्मा में अशेष रोशनी भरी हुई है। उसका नैतिक बल ही उसका आत्मबल है। उसमें यह ताकत किसी आध यात्मिक राह से नहीं आयी, बल्कि भौतिक परिस्थितियों से जूझते हुए उसने खुद से अपने अंदर तक अप्रतिम नैतिक शक्ति विकसित की। वह शरीर से कमजोर नहीं है, "सूरदास था तो दुबला-पतला, पर उसकी हड्डियाँ लोहे की थीं। बादल-बूँदी, सरदी-गरमी झेलते-झेलते उसके अंग ठोस हो गये थे।'' वह जगधर को पछाड़ देता है। भैरो की मार के भय से सुभागी उसके झोंपड़े में शरण लेती है

और भैरो गुस्से में सूरदास को धक्का देकर गिरा देता है। सूरदास उठता है और भैरों की कमर पकड़कर कहता है, "अब चुपके से चले जाओ, नहीं तो अच्छा न होगा।'' भैरो को लगा था कि मानो कोई लोहे का शिकंजा है!

सूरदास की बस्ती में फूट है, राजनैतिक चेतना का अभाव है। सभी स्वार्थवश एक दूसरे के शत्रु बन गये हैं। वर्ग एकता का कहीं पता नहीं है। सूरदास सबमें साथी-भाव का विकास करना चाहता है। वह किसी से बैर नहीं रखता। फिर भी भैरो उसकी झोंपड़ी में आग लगा देता है। उसका सब कुछ जल जाता है। वह नैराश्य, ग्लानि, चिंता और क्षोभ में पागल होने लगता है, तभी बच्चों की बातें सुनायी पड़ती है-'खेल में रोते हो।' सूरदास संभल जाता है। उसकी सोयी नैतिक ताकत जाग उठती है। प्रेमचंद दिखलाना चाहते थे कि इंसान जब सब कुछ से वंचित हो जाय, तब भी उसमें एक ऐसी ताकत होती है जिसके बल पर वह खड़ा हो सकता है। निम्नलिखित वार्त्तालाप सर्वहारा वर्ग की आस्था का एक महान प्रतीक है-

मिठुआ ने पूछा :'दादा, अब हम रहेंगे कहाँ?'

सूरदास : 'दूसरा घर बनायेंगे।'

मिठुआ : 'और जो कोई फिर आग लगा दे?'

सूरदास : 'तो फिर बनायेंगे।'

मिठुआ : 'और फिर आग लगा दे?'

सूरदास: 'तो हम भी फिर बनायेंगे।'

मिठुआ: 'और जो कोई हजार बार लगा दे?'

सूरदास: 'तो हम हजार बार बनायेंगे। '

प्रेमचंद लोगों के बीच से फूट, वैमनस्य और सांप्रदायिकता मिटाना चाहते थे। उनका स्वप्न एक ऐसे समाज की रचना का था, जिसमें "प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही लिए नहीं, दूसरों के लिए भी है। वह अब अपने प्रतिद्वंद्वियों से घिरा हुआ नहीं, मित्रों और सहयोगियों से घिरा हुआ समझता है।'' जसवंतनगर में विनय एवं इंद्रदत्त के सेवकदल के प्रयासों से अभूतपूर्व जनजागरण एवं आत्मनिर्भर सामूहिक जीवन का पुनरुद्धार होता है। कथाकार इस जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं

सका। विनय भी अपने मार्ग से भटक कर सत्ता का मददगार बन गया। अपनी दुविधाग्रस्त मानसिकता की वजह से वह उत्तेजित भीड़ की आलोचना बर्दाश्त न करने के कारण आत्महत्या कर लेता है। वह अहंकारी माता जान्हवी के प्रभुत्ववादी व्यक्तित्व के पहिये से अंततः कुचला जाता है। उसकी प्रेमिका सोफिया अपनी माता मिसेज जानसेवक से विद्रोह करती है, वह उदयपुर के विद्रोहियों का साथ देती है, लेकिन रंगभूमि के निर्णायक संघर्ष की घड़ी में बचना चाहती है वह विनय के मरने के बाद खुद भी आत्महत्या कर लेती है। उसका भाई प्रभुसेवक भी पलायनवादी है। वह कविता की वायवीय दुनिया में जीता है और संघर्ष से भाग जाता है। राजा महेन्द्र कुमार की सहानुभूति अंग्रेज सरकार से है। उनकी पत्नी इंदु में तीव्र आभिजात्यबोध है, फिर भी वह अपेक्षाकृत अधिक मजबूत ढंग से सूरदास की मदद करती है। कुँअर भरत सिंह जातीय सेवा-कार्यों में उत्साह से योग देते हैं, लेकिन इन कार्यों में राष्ट्रवादी चेतना के उभरते ही अपने को सेवकदल से पृथक कर लेते हैं, जानसेवक का साथ देते हैं और अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए अपने पुत्र विनय तक की परवाह नहीं करते। गांगुली को कौंसिल से मोह है, लेकिन रईस वर्ग की राष्ट्रीय भावना पर व्यंग्य करते हुए वह एक अच्छी बात कहता है, "जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बाँधकर चले, वह कभी नहीं लड़ सकता।" प्रेमचंद ने उन सभी वर्गों तथा समुदायों का वर्ग चरित्र उघाड़ा है, जो नया समाज बनाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलनों में हिस्सा ले रहे थे और इशारा किया है कि सच्चा संघर्ष सूरदास कर रहा था, जिसका वर्ग-चरित्र अलग है।

सूरदास की अति नैतिकता के कारण बस्तीवासी कभी-कभी भड़क जाते हैं, लेकिन उसका उत्साह, संघर्ष और दर्द देखकर फिर इकट्ठा हो जाते हैं। सूरदास मरते दम भी ताहिर अली के लिए चिंतित रहता है। हिंदू और मुसलमान बच्चों की लड़ाई बढ़कर सांप्रदायिक रूप ले लेती, अगर सूरदास आत्मोत्सर्ग की धमकी देकर दोनों पक्षों को संभाल नहीं लेता।

निःसंदेह भारत के किसी भी आम आदमी की तरह सूरदास भगवान में विश्वास करता है। सिर्फ इसी वजह से उसे प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता, जनता प्रतिक्रियावादी नहीं होती। गांधी सत्याग्रही के मन को मजबूत करने के लिए उसमें ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास भरना चाहते थे। सूरदास भी पूर्व जन्म की कमाई और भगवान की लीला की बात करता है, लेकिन उसका मूल विश्वास मानवीय

क्षमता पर है। उसका मनुष्य पर अटूट विश्वास है। वह जीवन-संघर्षों को भौतिक खेल मानता है, ईश्वरीय लीला नहीं। वह मनुष्य की उस आत्मशक्ति की ओर संकेत करता है, जो उसे कुरूप व्यवस्था से जूझने और सच्चाई की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

सूरदास की 'धर्म-भावना' सांप्रदायिक नहीं है। ईश्वर के प्रति उसकी आस्था उसके आत्मविश्वास का ही एक रूप है। उसकी धर्म की लड़ाई ईश्वर के लिए नहीं, मनुष्य की विजय के लिए है। वह कहता है, 'मेरा धरम तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाये, तो उसका हाथ पकड़ लूँ। वह लड़े तो लड़ूँ और चीज के लिए प्रान तक दे दूँ। चीज मेरे हाथ आयेगी, इससे मुझे मतलब नहीं, मेरा काम लड़ना है।'' वह चीज के लिए अनासक्त नहीं है, बढ़े हुए काले हाथों और अपनी चीज दोनों को पहचानता है। वह आप्राण संघर्ष करना चाहता है, लेकिन अनैतिक रास्ते से नहीं। क्योंकि तब वह चीज, चाहे मुक्ति ही क्यों न हो, मिलकर भी वस्तुत: बिछुड़ जायेगी।

निश्चय ही कुछ स्थलों पर सूरदास की सत्यवादिता का अतिरेक हो जाता है। नायकराम प्रभुसेवक से अपनी बेइज्जती का बदला लेने की योजना बनाता है। सूरदास उसे धमकी देता है कि जाकर साहब से सारा माजरा कह देगा। सुभागी अपने घर से सूरदास के रुपयों की थैली चुराकर उसे वापस कर देती है। सूरदास इसे ले जाकर न केवल भैरो को दे देता है, बल्कि सुभागी का नाम भी बता देता है। भैरो जब सुभागी को मारने के लिए पिल पड़ता है, सूरदास की बुद्धि खुलती है, "मैंने ऐसे कमीने आदमी से ऐसी बात बतायी ही क्यों। मैंने तो समझा था, साफ-साफ कह देने से इसका दिल साफ हो जायेगा।'' सूरदास दुश्मन के घर में अपने वर्ग की खबर पहुँचाने का काम भी करता है। वह जानसेवक को मिठुआ के प्रति सावधान कर देता है, क्योंकि उसने पुतलीबाई में आग लगाने की घोषणा की थी। मिठुआ ने यह कहकर चौंका दिया था कि वह बम बनाना जानता है और अपना हक लेकर रहेगा। यह नयी पीढ़ी का विद्रोह है, जो सूरदास की पीढ़ी की पराजय के परिणामस्वरूप फूट पड़ा था। शांतिपूर्ण संघर्ष के रास्ते में जब असफलता और हताशा मिलती है, मन स्वाभाविक रूप हिंसक हो जाता है। मिठुआ अपने बचकाने मर्ज की वजह से वर्गहित नहीं. निजी हित लेकर चिंतित था और मत्यशैया

मिठुआ की शिकायत करके अच्छा नहीं किया। वह भी जानसेवक से, जिससे वह अनवरत संघर्ष करता रहा। इन बिंदुओं पर प्रेमचंद ने सूरदास की सत्यवादिता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है और इसका स्वरूप थोड़ा विकृत कर दिया है। उन्होंने धार्मिक भावना का चित्र सूरदास के चरित्र में सजीवता लाने के लिए खींचा, क्योंकि आज भी साधारण जन धर्मप्राण है। इस संदर्भ में हंसराज रहबर ने लिखा है कि प्रेमचंद जन-भावनाओं को "एक आस्तिक श्रद्धा के साथ अंकित करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि शोषित जनता के पास एक धर्म ही तो है, जो उसे भीषण दरिद्रता में जीने का बल प्रदान करता है। यदि उनसे यह विश्वास भी छीन लिया जाये, तो उनके पास और कौन सा सहारा रह जायेगा।'' गांधी भी सत्याग्रह के साथ धर्म पर जोर देते थे। लेकिन प्रेमचंद ने गांधी के इस अंधविश्वास के प्रचार का विरोध किया कि बिहार का भूकंप हिंदुओं द्वारा अछूतों के प्रति दुर्व्यवहार के फलस्वरूप, दैवी प्रकोप के रूप में आया है। लोगों को इस तरह डराकर सुधारने का तरीका उन्हें पसंद नहीं था। ऐसी प्राकृतिक घटनाओं को वह पाप-पुण्य से जोड़ने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इससे अंततः रूढ़िवाद मजबूत होता है।

गाँव के किशोर विद्याधर और घीसू ने सुभागी को महज चंचलतावश छेड़ा था। इनके माता-पिता लज्जित थे। बाकी गाँववाले भी बार-बार अनुरोध कर रहे थे। लेकिन सूरदास ने उन किशोरों को पुलिस के हवाले करा दिया। सूरदास खुद मानता था कि बनिया सूद खाकर, हाकिम घूस लेकर और गवाह झूठ बोलकर भी सम्मानित है। ऐसी न्यायरहित समाज-व्यवस्था में उन किशोरों को सजा दिलाकर सूरदास को क्या मिला? सुभागी जैसी औरतों को आबरू पर प्रधान खतरा सामाजिक वर्जनाओं एवं विषमताओं के भार से दबे किशोरों की ओर से थे या पांडेपुर के दरवाजे पर दस्तक दे रही औद्योगिक व्यवस्था द्वारा फैलनेवाली अप-संस्कृति की ओर से? इन बिंदुओं पर सूरदास की नैतिकता अतिरेकपूर्ण आदर्शवाद में बदल जाती है और प्रतिगामी रुख का परिचय देती है। अपना मिठुआ होता तब भी सूरदास नहीं छोड़ता। वक्त आने पर उसने छोड़ा भी नहीं। किंतु सच बोलनेवाले को यह भी सोचना होता है कि इसका नतीजा किसके पक्ष में जायेगा - शोषक वर्ग के पक्ष में या शोषित वर्ग के पक्ष में।

पांडेपुर के लोग सूरदास की इज्जत करते थे, अर्थात उसकी सच्चाई की इज्जत करते **थे। लेकिन सच्चाई के भी उस रूप की, जिसमें एक दर्द निहित हों, एक परोपकार**

छुपा हो अथवा कोई संघर्ष खड़ा हो रहा हो। उसके चरित्र की अनमोल विशेषता थी कि वह जो कुछ बोलता था, करता भी था। आज के युग में बोलने और करने के बीच बहुत अधिक फासला है। इसीलिए सूरदास का चरित्र एक आदर्श की तरह लगता है, यथार्थ की तरह नहीं। बारीकी से गौर करने पर हम देखेंगे कि सूरदास उस युग का पात्र है, अब जनता का राजनैतिक स्वाधीनता-संग्राम तीव्र हो रहा था और उसका आदर्श उन हजारों-लाखों लोगों के जीवन में एक हकीकत था, जो अपने मुल्क में एक नया समाज बनाने का स्वप्न देख रहे थे। सूरदास धरती की मिट्टी से उगा पात्र है, आसमान से उतरा पात्र नहीं और इस तरह का सकारात्मक आदर्श हर बार उगता है, जब लड़ाई तेज होती है।

सूरदास में नैतिक हिम्मत थी तभी उसने सुभागी को अपने झोंपड़े में आश्रय दिया। सुभागी ने झोंपड़े को घर का रूप दिया और सूरदास में भी भावना जगी कि "काश, यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनंद से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रख लूँ तो इसमें कौन-सी बुराई है। मैं अंधा हूँ तो क्या आदमी नहीं हूँ? किंतु गृहस्थी के पचड़े देखकर उसका मन स्वत: बदल गया। उसने सुभागी को बहन की तरह रखा। लेकिन इस घटना के बाद मान-प्रतिष्ठा गायब हो गयी, जबकि उसने सुभागी को पुतलीघर की व्यवस्था के हाथों पड़ने से बचाया था। भैरो ने राजा के यहाँ फरियाद की। राजा सूरदास को मजा चखाना चाहते थे, क्योंकि उसने गली-गली घूमकर उनका मुखौटा उतारा था-जनवाद के भीतर उनके छिपे पूँजीवाद को नंगा कर दिया था। बस्ती से गवाह नहीं मिले, लेकिन भैरो ने ताड़ी का लालच देकर पुतलीघर के मजदूरों से झूठी गवाही दिलायी। राजा महेन्द्र कुमार ने जुर्माना भी सुना दिया। इन विपरीत स्थितियों के बावजूद सूरदास ने भरी अदालत में अपना ऐसा मर्मस्पर्शी विक्षोभ प्रदर्शित किया, दर्शक चकित रह गये। जनता में एक नयी लहर उठ गयी। इंद्रदत्त ने कहा, "अदालत नहीं है, दीनों की बलबेदी है।" कई हजार कंठों से प्रतिध्वनि निकली, "अमीरों के हाथों में अत्याचार का यंत्र है।" सूरदास के एकाकी विक्षोभ ने लोगों में हलचल पैदा कर दी, एक चेतना ला दी।

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था एवं प्रशासन के भ्रष्टाचार का स्थान-स्थान पर यथार्थवादी अनावरण किया है। इससे उन लोगों का भ्रम दूर हो जाता है जो अंग्रेजों के शासन काल को अच्छा मानते थे। सामंतों, राजाओं

पूँजीपतियों और नौकरशाहों की आड़ में अंग्रेज भारतीय जनता को दोनों हाथों से लूट रहे थे। एक विद्रोही चरित्र वीरपाल कहता है, "चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आपसे नहीं बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े खून कीजिए पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे।" इसी प्रशासनिक व्यवस्था का विकास स्वतंत्र भारत में हुआ। प्रेमचंद ने दिखाने की चेष्टा की कि वीरपाल सिंह जैसे हिंसक विद्रोही किस सामाजिक-आर्थिक असंतोष की उपज हैं। उन्होंने अहिंसा की राजनीति के विश्वासी इंद्रदत्त तथा हिंसक वीरपाल के बीच तालमेल भी पैदा किया है। उनकी नजर में मुख्य बात है। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष। लक्ष्य एक होने पर अगर रास्ते अलग भी हों, दो राहगीरों के बीच संवाद की स्थिति कायम हो सकती है। वीरपाल और विनय के बीच कोई संबंध नहीं बनता, क्योंकि विनय में भटकाव की संभावनाएँ थीं। प्रेमचंद का कहना है, "मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है। क्रांति ज्यादा समझदार उपायों की असफलता का नाम है। मेरा आदर्श समाज वह है, जिसमें सबको समान अवसर मिले। ....कहना संदेहास्पद है कि क्रांति से हम कहाँ पहुँचेगे। यह हो सकता है कि हम उसके जरिये और भी बुरी डिक्टेटरशिप पर पहुँचे, जिसमें रंचमात्र व्यक्तिगत स्वाधीनता न हो। मैं रंग-ढंग सब, बदल देना चाहता हूँ पर ध्वंस नहीं करना चाहता।" यहाँ क्रांति से आशय हिंसक क्रांति से है और ध्वंस का अभिप्राय तोड़फोड़ तथा व्यक्ति-हत्या से है। जनता स्वयं उत्तेजित होकर जब शासन के दमन के खिलाफ हिंसा करती है या राष्ट्र को युद्ध में उतरना पड़ता है, हिंसा निरर्थक वस्तु नहीं रह जाती। लेकिन छिटपुट हिंसा व्यवस्था को और मजबूत करती है। बिना व्यापक जनमानस तैयार किये अभी हाल में जो नक्सलवादी प्रयोग हुए, वे असफल रहे। प्रेमचंद ने दिसंबर 1931 के 'हंस' में लिखा, "दो-चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपने को विजयी समझ ले, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका अनुमान करना कठिन है।" प्रेमचंद ने सरकारी कर्मचारियों-पुलिसों की हत्या का विरोध किया। इन्हें वह वर्ग शत्रु नहीं मानते थे। सोफिया का वीरपाल के संगठन में शामिल होकर भी उसे त्याग देना, फिर रेलगाड़ी में एक वृद्धा से मिलकर उसके कर्मचारी बेटे की हत्या की खबर सुनकर उसका द्रवित होना इसका प्रमाण है कि कथाकार ऐसी हत्याओं

प्रेमचंद ने यह भी दिखाया कि स्पष्ट जुल्म देखकर पुलिस ने सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया, उसने अपने अधिकारी ब्राउन की आज्ञा नहीं मानी। नौकरशाही अपने में स्वतंत्र व्यवस्था नहीं है, बल्कि यह सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था की ही उपज है। पुलिस जनता का हिस्सा है। अत: जब-जब उसे यह बोध होता है, वह क्रूर शासन के आदेशों को ठुकरा कर जनता पर जुल्म करने से इन्कार कर देती है। प्रेमचंद ने पुलिस को एक नया पथ दिखलाया। महात्मा गांधी ने इस पथ पर चलनेवाली पेशावर की गढ़वाली पुलिस की भर्त्सना की थी, क्योंकि उसने मुस्लिम भाइयों पर गोली चलाने से इन्कार करके सत्ता की हुक्मअदूली की थी। गांध ी ने कहा था कि सिपाही का काम आदेश का पालन करना है, कल राजसत्ता में आने पर उन्हें भी सिपाहियों को आदेश देना होगा और तब इस किस्म की हुक्मअदूली वे पसंद नहीं कर सकेंगे। एक लंबे काल के बाद तानाशाही विरोधी संघर्ष के दौरान जयप्रकाश ने गांधी के विपरीत अपना मत व्यक्त किया, यह एक सर्वविदित तथ्य है। एक रचनाकार के रूप में प्रेमचंद ने बहुत पहले यह कहा था कि पुलिस जनविरोधी हुक्म न माने।

प्रेमचंद की राजनैतिक पहचान बड़ी सटीक है। उन्होंने ऐसे लोगों को फटकारा, जो मानते थे कि अंग्रेजों ने भारत का उद्धार किया। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की आलोचना की, क्योंकि यह मनुष्य को स्वार्थ का पुतला बनाती है, रेल, तार, जहाज, डाक जैसी वस्तुएँ "अंग्रेजों के बगैर भी आ सकती थीं और अगर ये आयीं भी हैं तो अधिकतर अंग्रेजों के ही लाभ के लिए।" प्रेमचंद अंग्रेजों की प्रगतिशील भूमिका निर्धारित करनेवाले बुद्धिमानों में ही नहीं थे।

सूरदास पूरी व्यवस्था से टकराता है। टिड्डी है, पर आँधी को रोकने की चेष्टा करता है। वह शासक-शोषक वर्ग में भी अंतर्विरोध पैदा कर देता है। वह राजा महेन्द्र कुमार और जानसेवक को दुश्मन नहीं कहता, पर उनके वर्गचरित्र को वह अच्छी तरह समझता है। उनसे लड़ता है और तनिक भी समझौता नहीं करता। वह जीवन को रंगभूमि मानता है। इस पर अपना खेल खेलता है। संघर्ष में हर बार हारता है, पर उसकी निगाह उतनी ही बार सिर्फ जीत पर रहती है। इसीलिए वह दुबारा लड़ने की ताकत भी जुटा लेता है। उसमें कहीं आत्मप्रतिष्ठा का लोभ नहीं है। वह सुभागी को भैरो के घर की देवी बनाना चाहता है। वह भैरो से कोई

बैर रखना नहीं चाहता, क्योंकि वह उसके अपने वर्ग का आदमी है। ताड़ी की दुकान चलाने के कारण ही उसका व्यवहार दूषित था। जेल से छूटने के बाद सूरदास इंद्रदत्त से मिले रुपये ले जाकर भैरो को दे देता है, ताकि वह अपना झोंपड़ा बना ले, जिसे मिठुआ ने प्रतिशोध में जला दिया था। वह भैरो को दूसरा रोजगार करने की सलाह देता है और अपनी फिक्र नहीं करता। भैरो के मन से भी सूरदास के प्रति सारा मैल मिट जाता है और उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। यह सर्वहारा वर्ग की आपसी फूट मिटने का लक्षण है, क्योंकि भैरो और सूरदास के बीच झगड़े का कोई वास्तविक आधार नहीं था।

सूरदास ऐसी-वैसी जमीन नहीं, उस धरती के लिए लड़ रहा था, जिस पर उसकी सत्तर पीढ़ियाँ (अर्थात कम से कम 1400 वर्ष) बीत चुकी हैं, 'कितना अंधेर है कि हम, जो सत्तर पीढ़ियों से यहाँ आबाद हैं, निकाल दिये जायें और दूसरे यहाँ आकर बस जायें। यह हमारा घर है, किसी के कहने से नहीं छोड़ सकते।'' यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि यह लड़ाई कितनी अहम है और इसका राष्ट्रवादी आधार सामाजिक-आर्थिक स्तर पर कितना व्यापक है। यह पूरे देश की बात है सिर्फ दस बीघा की नहीं। जमीन के तखमीने के अवसर पर नायकराम पंडा जैसे लोग घूस खिलाकर अपनी पौ-बारह कर लेते हैं। सूरदास के झोंपड़े का मुआवजा निर्धारित होता है 1 रुपया। वह नागरिक अवज्ञा आंदोलन छेड़ देता है और जब तक गोली नहीं लग जाती पूरी धरती वापस लेने के लिए मैदान में डटा रहता है। अंतिम समय वह अपने युग का समूचा राजनैतिक चित्र स्पष्ट करते हुए कहता है, "तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस इतना ही फरक है। ....हम हारे तो क्या मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।'' उसकी एक जीत होती है, जब मरने के बाद बनी उसकी प्रतिमा के नीचे दबकर एक सामंती शोषक महेन्द्र कुमार दम तोड देते हैं।

क्या 'रंगभूमि' पराजय का उपन्यास है? लेनिन ने कहा था, "जोर के साथ लड़ाई के बाद जो पराजय होती है, वह उतने ही महत्व का तथ्य है, जितना कि आसानी से प्राप्त जीत।'' सूरदास की पराजय में मानवीय विजय का संदेश निहित है। आमने-सामने की दो पारियों का संघर्ष तब तक चलेगा, जब तक शोषित मनुष्यों को उनकी धरती वापस नहीं मिल जाती। क्लार्क को भी स्वीकार करना पड़ता है, 'एक सेना का मुकाबला करना इतना कठिन नहीं, जितना ऐसे गिने-गिनाये व्रतधारियों का, जिन्हें संसार में कोई भय नहीं है।'' सूरदास की निर्भयता जुल्म की हर लपट से ऊँची थी। वह अपने संघर्ष में सफल नहीं हुआ। जानसेवक का जीवन सफल हो गया, लेकिन यह "सफल जीवन पर्याय है खुशामद, अत्याचार और धूर्त्तता का।'' सूरदास का अनोखा संघर्ष पाठकों के मन पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। यह कहना फतवेबाजी होगी कि उसकी टक्कर का सकारात्मक पात्र हिंदी के अन्य किसी उपन्यास में नहीं है, लेकिन बिना संदेह यह स्थापना दी जा सकती है कि सूरदास भारतीय कृषक सर्वहारा का एक ऐसा सामान्य, परंतु गौरवपूर्ण चरित्र है जो सदियों तक हमारे जीवन-संघर्षों को किसी-न-किसी प्रकार प्रेरित करता रहेगा। हार-हारकर भी वह हर बार जीत का खेल खेलेगा।

15. गबन : मध्य वर्ग का अंतर्विरोध

शंभुनाथ

पुराने सामंती समाज में मध्यवर्ग सीमित था। व्यक्ति समुदाय पर निर्भर था। उसके जीवन में अधिक हलचल नहीं थी। वह जहाँ पैदा होता था, वहीं उसकी मृत्यु होती थी। शहरों और उद्योग-धंधों के विकास, ब्रिटिश नौकरशाही के विस्तार तथा शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप समाज में मध्यवर्ग का आकार बड़ा हुआ। इसने रूढ़िवाद को छोड़कर बौद्धिक-जनतांत्रिक धारणाओं को अंगीकार करना शुरू किया। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था ने नयी तकनीक, नये सामाजिक संगठन तथा नये विचारों की नींव स्थापित कर दी थी। इसलिए पुराने पेशे टूटने और नये पेशे बनने लगे। प्रारंभिक अवस्था से ही उपनिवेशवादी शासन को सस्ते कर्मचारियों, छोटे वणिकों, आधुनिक शिक्षकों तथा अन्य बुद्धिजीवियों की जरूरत थी, इसलिए भारतीय मध्य वर्ग के विकास में तीव्रता आयी। नये पेशे, नयी जीवन-दृष्टि तथा नयी जीवन-पद्धति लेकर जो मध्य वर्ग अपने व्यापक अस्तित्व में आया, उसका संपूर्ण जीवन अंतर्विरोध ों और विडंबनाओं से भरा था, क्योंकि एक तरफ वह आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था, दूसरी तरफ रूढ़िवाद से मुक्त नहीं हुआ था। वह संपन्नता की ओर लालायित होकर बढ़ना चाहता था, लेकिन उसका आर्थिक आधार खोखला था। वह विपरीतताओं में फँस जाता था, जिनकी परिणति त्रासदी में होती थी।

प्रेमचंद ने उपर्युक्त मध्य वर्ग को निकट से जाना एवं उसकी लालसाओं को बहुत बारीकी से पहचाना था। वह समझते थे कि औपनिवेशिक सामंती शोषण की छाया में विकसित भारतीय मध्य वर्ग संभावनाओं से भरा होकर भी भीतर से कितना पोला है। खास कर पश्चिमी सभ्यता के असर में जैसे-जैसे वह अपनी जड़ों से कटता जा रहा है, अधिक पोला होता जा रहा है। चूँकि भारतीय मध्य वर्ग को आगामी दिनों एक महान बदलाव का नेतृत्व करना था, इसलिए प्रेमचंद उसकी विडंबनापूर्ण दशा से चिंतित थे। वह चाहते थे कि मध्य वर्ग अपने अंतर्विरोधों से यथासंभव उबरे तथा अपनी ऐतिहासिक भूमिका पहचाने। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'गबन' की रचना की तथा रमानाथ का चरित्र खड़ा किया। बहुत स्पष्ट ढंग से उन्होंने आरंभ में ही बता दिया कि रमानाथ पढ़ा-लिखा एक ऐसा नवयुवक है, जिसकी शौकीन तबीयत पर अंग्रेजियत का जादू चढ़ा हुआ है।

'गबन' के नायक रमानाथ के पश्चिमी रंग-ढंग का परिचय कई बातों से मिलता है। वह अपने घर पर वकील साहब का स्वागत अंग्रेजी पद्धति से टी-पार्टी देकर करना चाहता है। कमरे में कुर्सी-मेज लगवाता है, इसे ड्राइंग रूम बना देता है। एक जगह आईना रखने की बात जब चलती है, परंपरागत दृष्टिकोण के संरक्षक दयानाथ को बर्दाश्त नहीं होता। वह मिलावटी संस्कृति से चिढ़कर कहते हैं, "हिंदुस्तानी रईसों के कमरे में मेजें-कुर्सियाँ नहीं होतीं, फर्श होता है। आपने कुर्सी-मेज लगाकर इसे अंग्रेजी ढंग का तो बना दिया, अब आइने के लिए हिंदुस्तानियों की मिसाल दे रहे हैं। या तो हिंदुस्तानी रखिये या अंग्रेजी। यह क्या कि आधा तीतर आधा बटेर।" रमानाथ के पिता का इशारा मध्यवर्गीय जीवन के अंतर्विरोधों की ओर ही नहीं, राष्ट्रीय जीवन के उस गहरे सांस्कृतिक संकट की ओर भी है, जो गुलामी की राजनीति के कारण पैदा हुआ था। नयी शिक्षा और अर्थव्यवस्था के विकास के साथ यह संकट निरंतर गहरा रहा था। अंग्रेजों की नकल या उनकी मुसाहिबी से राजनैतिक संस्कृति का एक ऐसा भेजाल रूप विकसित हो रहा था कि भारतीय मनुष्य की आत्मपहचान पर संकट बढ़ गया। एक ओर सामंतवादी जीवन-मूल्य थे, दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता के मूल्य। इनके भेजाल से 'मारजिनल मैन' की शक्ल किस हद तक बिगड़ सकती है, प्रेमचंद ने गबन' में स्पष्ट किया। 'मारजिनल मैन' अर्थात सीमांत मनुष्य रूढ़िवाद तथा आधुनिकता के बीच सीमा पर रहने वाला एक ऐसा मनुष्य है जो आधुनिकता की मार पड़ने पर रूढ़िवाद की शरण लेता है, रूढ़िवाद द्वारा सताये जाने पर आधुनिकता की तरफ भागता है-वह दोनों के बीच सीमा पर रहकर देखता है कि सुविधा किधर है।

बड़ी धूमधाम से रमानाथ का विवाह जालपा से होता है। पहले उसके पिता दयानाथ को यह विवाह अधर्म लगा था, क्योंकि रमानाथ को अपने पेट की कुछ फिक्र न थी। वह सारा दिन सैर-सपाटे और शतरंज में व्यतीत करता था। हर परंपरागत भारतीय माँ की तरह जागेश्वरी को विश्वास था कि जब बहू आयेगी, रमानाथ की आँखें खुल जायेंगी। अत: उमंग में काफी फिजूलखर्ची भी हो गयी। आर्थिक शक्ति के बाहर जाकर ढेर सारे गहने उधार बना लिए गए। फिर भी जालपा उदास थी, क्योंकि चंद्रहार न था। उसे आभूषणों से बड़ा प्रेम था। रमानाथ अपनी वास्तविक आर्थिक दशा बतलाकर अपनी पत्नी की नजरों में छोटा बनना नहीं चाहता था। उसने लंबी डींग मारी, "जमींदारी है, उससे कई हजार का नफा है। बैंक में रुपये

हैं, उनका सूद आता है। घर का किराया पाँच रुपया था, रमानाथ ने पंद्रह बतलाये थे। लड़कों की शिक्षा पर मुश्किल से दस रुपये खर्च था, रमानाथ ने चालीस बतलाये थे।'' इन बातों से जालपा को और पीड़ा होती कि फिर वे चंद्रहार क्यों नहीं बनवाते। सुनार का उधार जब न चुकाया जा सका, बाप-बेटे ने मिलकर अपने घर में साजिश की। उन्होंने चोरी का हल्ला किया और सारे आभूषण ले जाकर बेच दिये। जालपा की पीड़ा और बढ़ गयी, क्योंकि आभूषण के बिना न नारी-समाज में उसका कोई सम्मान था और न ही उसके सौंदर्य का कोई अर्थ था। फिर भी उसमें आत्मसम्मान की भावना थी, इसलिए उसने आभूषण के लिए जिद नहीं की। अपनी माँ का भेजा हुआ चंद्रहार भी उसने लौटा दिया। वह भीख नहीं चाहती थी। पर वह निरंतर उदासी और अकेलेपन का बोध करने लगी, रमानाथ से भी जी उचट गया।

सामंती समाज की नारियों के मन में स्वर्णाभूषण के प्रति बहुत आकर्षण रहता है। यही उनकी एकमात्र निजी संपत्ति होती है और इस अधिकार से वंचित हो जाने पर उन्हें अपना जीवन खोखला प्रतीत होता है। जालपा को अपने जीवन के खोखलेपन से जो वेदना हुई, वह इतनी तीव्र इसलिए थी कि उसे मध्यवर्गीय परिवार की असली हालत का पता नहीं था। एक मामूली कर्मचारी के घर कितना पैसा हो सकता था। आडंबरप्रिय रमानाथ ने भी मानसिक द्वंद्व के बावजूद बार-बार अपने को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया। इससे हर बार जालपा की विलासवृत्ति और तीव्र हो जाती। प्रेमचंद ने भारतीय औरतों की आभूषणप्रियता के माध्यम से यह संकेत भी दिया है कि सामंती रीतियों से जकड़ी होने के कारण उनमें आभूषण की इतनी ललक होती है कि अपने बुनियादी अधिकारों से अनभिज्ञ होकर वे स्वयं भी एक आभूषण - एक संपत्ति बन जाती हैं। वे पुरुष वर्ग की विलास-सामग्री में ढल जाती हैं।

आभूषण नारी के सौंदर्य को बढ़ाते हैं-इस धारणा को बदलकर प्रेमचंद ने स्थापित किया कि ये नारी की गुलामी के चिह्न हैं। आज भी भारतीय औरतों में अपनी-अपनी औकात के अनुसार आभूषण बनवाने की इच्छा रहती है। जिनके पास अधिक धन नहीं होता, वे चाँदी अथवा ताँबे के गहने पहनती हैं। गरीब से गरीब औरत के मन में भी ललक होती है कि उसके पास एक छोटा आभूषण हो। गाँव की खेत मजदूरिनें कुछ न मिलने पर अपना शरीर गोदवा लेती हैं। आदिवासी औरतों के शरीर पर अन्य कुछ न होने पर भी ताँबा, लोहा या लकड़ी के गहने

लदे रहते हैं। संभ्रांत महिलायें हीरे-जवाहरात पहनती हैं। आभूषण जिस किसी धातु के हों और जैसे भी हों, नारी की जंजीरों के सूचक हैं। इन आभूषणों के आकार-प्रकार का ऐतिहासिक विकास देखें तो पता चलेगा कि किसी काल में ये नारी की पराधीनता-सूचक भारी जंजीरें रही होंगी। ये इतनी भारी रही होंगी कि औरतें कष्ट होने पर भी घर से भाग नहीं सकें। आधुनिक समाज में लड़कियों के नाक-कान छेदे जाते हैं। ये सूचित करते हैं कि नारी को यंत्रणा देने तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से दासता का अहसास कराने के ये तरीके कभी बहुत कठोर रहे होंगे। आज कई पहाड़ी एवं आदिम कबीलों में गोद-छेदकर औरतों की शक्ल बिगाड़ दी जाती है, ताकि शहरी बाबू इन पर आकर्षित न हो सकें, लकड़ी, पत्थर और ताँबे के आभूषण ही उनकी आधी नग्नता ढँकते हैं।

प्रेमचंद ने आभूषणों का समाजशास्त्र समझ लिया था। वह इन्हें नारी की गुलामी की जड़ मानते थे। उनके नाटक 'प्रेम की वेदी' में जेनी उमा के कंगन को गुलामी की हथकड़ी और हीरों से जड़े हार को गुलामी का तौक कहती है। औरत के संपति-रूप को विश्लेषित करते हुए उसका विद्रोही स्वर इस रूप में फूटता है, "कन्या विजेताओं के घर में कैद कर दी जाती थी। उसके हाथों में हथकड़ियाँ डाल दी जाती थीं, पैरों में बेड़ियाँ, गले में तौक और उस संग्राम के स्मृति-स्वरूप उसके माथे पर रक्त का टीका लगा दिया जाता होगा, जिससे कन्या समझती रहे कि उसने कभी भागने का प्रयत्न किया, तो उसकी भी वही दशा होगी, जो उसके घर वालों की हुई है। कन्या को कभी घर वालों की याद न आये, वह इन नये स्वामियों को ही अपना सर्वस्व समझने लगे, इसलिए कन्या को उपदेश दिया जाता था कि पति ही तेरा स्वामी है, तेरा देवता है, उसको प्रसन्न रखकर ही तू स्वर्ग जायेगी। यह है इन निशानियों (आभूषणों) का तथ्य।''

परंतु गबन में सिर्फ आभूषण की समस्या नहीं है। ऊपर से यही दिखता है कि जालपा के आभूषण-प्रेम के परिणामस्वरूप पूरा परिवार तबाह हो गया। वह जब यह मोह त्याग देती है, बिखरा संसार फिर बस जाता है। 'गबन' की औपन्यासिक भूमि इससे व्यापक है। इसमें मूलरूप से नारी-मुक्ति की समस्या है, जो आगे चलकर मध्य वर्ग की राजनैतिक-आर्थिक मुक्ति की समस्याओं से जुड़ जाती है। प्रेमचंद ने स्पष्ट कर दिया कि समस्या का मुख्य आधार वर्गगत है। जालपा मध्यवर्गीय नारी के रूप में ही अपनी मुक्ति की तलाश करती है। उसका अपने वर्ग से भिन्न अस्तित्व नहीं है। मध्य वर्ग की सामान्य विशेषता है कि इसके लोगों के

मन में एक और जुबान पर नितांत दूसरी बात होती है। जालपा के मन में आभूषण की गहरी लालसा है, पर यह तथ्य वह जुबान से प्रकट नहीं करती। पर रमानाथ जब सुनार के यहाँ से उधार गहने लाता है, वह खुशी से फूली नहीं समाती।

अपने आर्थिक जीवन के खोखलेपन की पीड़ा मार्मिक स्तर पर झेलते हुए भी रमानाथ बाहरी चमक प्रदर्शित करने मे कोई कमी नहीं करता। उसका जीवन अंतर्विरोधों से भरा है। वह अपवी पत्नी के गहने चोरी करना नहीं चाहता, फिर भी चोरी करता है। खुद खूब ताश और शतरंज खेलता है, पर भाइयों को खेलते देखकर उसके हाथ में खुजली होने लगती है। वह दिखावा और कपट-व्यवहार करता है, पर उसे ग्लानि होती है, अपनी कायरता का अहसास भी होता है। नौकरी मजबूरी में करनी पड़ी, बहुत कम वेतन पर; लेकिन उसने अपनी पत्नी से बतलाया कि दिलबहलाव के लिए जाते हैं और रोब डालने के लिए उसने वेतन भी अधिक कहा।

गहने हो जाने के बाद जालपा पास-पड़ोस की औरतों के पास जाने लगी और उनकी पुतलियों पर बैठ गयी। आभूषण के श्रृंगार के बिना यह सम्मान नहीं मिलता, क्योंकि बुरी सामाजिक अवस्थाओं के कारण औरतें उसे ही खुशनसीब समझती हैं, जिन्हें पति का प्रेम मिला हो। आभूषण पति के प्रेम का बैरोमीटर है। जालपा को आभूषण मिले, यानी उसके पर निकल आये। शहर में रहने और अंग्रेजी पढ़ने की ओर झुकाव के कारण अब उसे पर्दा असह्य हो गया, "आखिर एक दिन उसने समाज के सामने ताल ठोककर खड़े जाने का निश्चय कर ही लिया।'' सिनेमाघर में जनानीसीट के बदले अपने पति के बगल में बैठी। संध्या समय पार्क में साथ-साथ टहलने लगी। सामंती सीमाओं से मुक्त होकर "दस ही पाँच दिन में जालपा ने नये महिला समाज में अपना रंग जमा लिया।'' शहर के सुप्रसिद्ध वकील की पत्नी रतन से मित्रता हो गयी। हाथ में कंगन के साथ घड़ी भी बँध गयी। टी-पार्टियाँ होने लगीं। म्युनिसिपेलिटी में रिश्वतखोरी के परिणाम-स्वरूप रमानाथ की डावाँडोल आर्थिक हालत कुछ संभल गयी थी, जालपा के स्वच्छंद विचरण पर इसी नयी आर्थिक स्थिति का प्रभाव था। रमानाथ एक क्लर्क था, लेकिन वह समाज में हैसियत से अधिक अपना महत्व दिखलाना चाहता था। उसकी मध्यवर्गीय त्रासदी के मूल में यही बात थी।

भारत में अंग्रेजी राज ब्रिटिश नौकरशाही का ही एक अंग था। रमानाथ इसका एक मामूली पुर्जा था। उसकी नौकरी उसके दोस्त तथा नगरपालिका के हेडक्लर्क रमेश बाबू की सिफारिश पर लगी थी। बिना सिफारिश के नौकरी कहाँ मिलती। रमानाथ बेहिचक रिश्वत लेता। शहरी जीवन का उन्नत स्तर देखकर उसे भी प्रलोभन होता। उसकी अभावग्रस्त आर्थिक स्थिति उसमें आत्महीनता पैदा करती। अपनी पत्नी को खुश करने और अभावग्रस्त जिंदगी के अपमानों से निकलकर संपन्न बनने की इच्छा के कारण ही वह धड़ल्ले से, परंतु रोब के साथ घूस लेता था। घूसखोरी विषमतामूलक समाज की एक मुख्य विशेषता है। दयानाथ चाहते थे कि उनका लड़का ईमानदारी से काम करे, धर्म न त्यागे। लेकिन समाज के पूँजीवादी रूपांतरण की प्रक्रिया कुछ ऐसी थी कि भ्रष्टाचार मध्य वर्ग की नैतिकता का अनिवार्य अंग बन गया था। दस्तूर न लेना ही अनैतिक समझा जाने लगा था। रमानाथ अपने पिता की ईमानदारी का नतीजा भोग चुका था। अब वह गलती करना नहीं चाहता था। इसलिए रिश्वत के लालच में वह दफ्तर जल्दी पहुंच जाता। उसकी दृष्टि वेतन पर कम, रिश्वत पर अधिक थी, क्योंकि उसका समूचा जीवन ही झूठ पर टिका था।

बड़े समाज में, खास तौर पर जहाँ सभ्यता का विकास हो रहा हो, व्यवस्था को चलाने के लिए नौकरशाही का विकास होता है। उसी प्रकार लोगों के अभावग्रस्त जीवन में जब व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ उदित हो रही हों, नौकरशाही में भ्रष्टाचार का बोलबाला भी बढ़ जाता है। यह जनता की जरूरतें पूरी करने के लिए स्थापित होती है, लेकिन जनता का इस पर कोई नियंत्रण नहीं होता। रमानाथ जिस नौकरशाही का पुर्जा था, उसका लक्ष्य मानवीय जरूरतों को पूरा करना नहीं, बल्कि भारतीय जनता के उपनिवेशवादी शोषण का मंच बनना था। स्वतंत्र भारत की नौकरशाही में भ्रष्टाचार की गंगोत्री वहीं से फूटी अवश्य। तब इतनी बेशर्मी न थी। सम्मान बचाकर रिश्वत दी-ली जाती थी। 'गबन' में चुंगी के संदर्भ में ब्रिटिशकालीन रिश्वतखोरी का अच्छा चित्र खींचा गया है। इसके बावजूद रमानाथ की आर्थिक समस्या दूर नहीं होती, क्योंकि रुपये एक राह से आते और दूसरी राह से खर्च हो जाते।

रमानाथ सुनार का बकाया नहीं चुका सका था। इसलिए रतन ने कंगन बनाने के लिए रूपये दिये तो सुनार ने बकाया में वसूल कर लिया। रतन द्वारा बार-बार

रुपये लौटाने के तगाजों से घबड़ाकर रमानाथ को चुंगी के रुपयों का गबन करना पड़ा, क्योंकि उसे कहीं से सहायता नहीं मिल पायी थी। तनावपूर्ण ग्लानि से उसकी मानसिक स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि उसे घर से कलकत्ता भाग जाना पड़ा। जिस झूठ और आडंबर में वह जी रहा था, रिश्वतखोरी से भी उसका समाधान नहीं निकला। संकोच ने उसके जीवन का सारा खेल बिगाड़ दिया और वह अपने ही बनाये फंदे में फँस गया, मकड़े की तरह।

उसका मध्यवर्गीय अहंबोध अब खंडित हो चला था। रेल के डिब्बे में उसके पास टिकट नहीं थी। टिकट चेकर आया। डिब्बे में अन्य मुसाफिर भी थे। प्रेमचंद ने यहाँ बहुत संक्षेप में दिखाया कि भारत में निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के बीच कैसा संबंध है, "तीसरा दरजा था, अधिकांश मजदूर बैठे हुए थे, जो मजदूरी की टोह में पूरब जा रहे थे। वे एक बाबू जाति के प्राणी को अपमानित होते देखकर आनंद पा रहे थे। शायद टिकट बाबू ने रमानाथ को धक्के देकर उतार दिया होता, तो और भी खुश होते।'' स्पष्ट है कि देश के गरीब मजदूर मध्यवर्गीय बाबुओं को नफरत की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि ये अंग्रेजों का होकर उन्हें लूटते थे। रमानाथ को इस अवसर पर बड़ी झेंप हुई। उसका खोखलापन उजागर हो गया। मगर एक सीधे-सादे आदमी देवीदीन ने उसकी इज्जत बचा ली। उसकी टिकट के पैसे दिये। रमानाथ उसी के घर जाकर रहने लगा। वह खटिक था। घर पर ही सब्जियों की दुकान थी। दुकान का सारा काम बुढ़िया देखती थी। रमानाथ हिसाब देखता था और पुलिस से हमेशा संशकित रहता था।

मध्यवर्गीय परिवारों में नारी विलासिता की वस्तु समझी जाती है। उसे आम तौर पर आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता। वह शोभा की वस्तु होती है। जालपा पति के व्यवहार से ही असंतुष्ट नहीं थी उसके मन में परंपरागत नारी-स्थिति के प्रति विद्रोह का भाव भी जन्म ले रहा था, "मैं विलासिनी हूँ, इसी रूप में तो तुम मुझे देखते हो। मेरा काम है-विहार करना, विलास करना, आनंद करना। मुझे तुम्हारी चिन्ताओं से क्या मतलब।'' पुरुष वर्ग नारी के रूप-लावण्य पर मोहित होकर बार-बार उसे अहसास कराता है कि श्रृंगार करके विलासवृत्ति को संतुष्ट करने के अलावा उसकी कोई सामाजिक भूमिका नहीं है। वह नारी को बाहर श्रम करने या राष्ट्रीय-सामाजिक कार्यों में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित नहीं करना, क्योंकि इस वजह से उसका एकाधिकारवाद खंडित हो जायेगा। जालपा को

जब अपनी सही स्थिति का बोध होता है, वह सारा श्रृंगारिक मायाजाल गंगा में डुबा आती है। वह एक नयी मुक्ति-यात्रा पर निकल पड़ती है, अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ जाती है। एक कर्मठ युवती के रूप में उसके जीवन में नया मोड़ आता है। वह समझ जाती है कि सारी दुर्गति की जड़ विलासिता है। प्रेमचंद ने 'गबन' के माध्यम से बतलाया है कि सामंती बंधनों के प्रतीक के रूप में सिर्फ आभूषण ही नहीं, बल्कि विलायती शराब, मोटर, कीमती बरतन तथा अन्य पूंजीवादी उपभोग-सामग्रियाँ भी हमारे राष्ट्रीय सामाजिक जीवन को बिगाड़ रही हैं। इनसे आर्थिक शोषण होता है और धन विदेश जाता है। देशवासी कच्चे माल के स्रोत और विदेशी वस्तुओं के बाजार बन जाते हैं।

जालपा ने अपने आभूषण बेचकर रमानाथ को जुर्म से बचा लिया। वह उसे ढूँढ़ने के लिए कलकत्ता चल पड़ी, क्योंकि शतरंज के एक हल से, जो अखबार में छपा था, उसे पता चल गया था कि वह वहीं है। कलकत्ता में देवीदीन के यहाँ आकर उसे ज्ञात हुआ कि रमानाथ पुलिस के कब्जे में हैं और गिरफ्तार होने के बाद सरकारी मुखबिर बन गया है। यह एक नयी रामकथा थी, जिसमें सीता ही राम की मुक्ति के लिए कठोर संघर्ष करती है।

रमानाथ अपने मध्यवर्गीय संस्कारों का कैदी था। देवीदीन के घर रहते हुए उसमें राष्ट्रीय और प्रगतिशील भावनाओं का उदय हुआ। वह स्वदेशी आंदोलन में देवीदीन के दो बेटों के बलिदान और बुढ़िया की मातृत्व-आपूरित करुणा से प्रभावित था। उसने पाया कि देवीदीन की आँखों में बेटों की मृत्यु का शोक नहीं बल्कि स्वाधीन राष्ट्र का समाजवादी स्वप्न है, "सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से क्या कल्याण होगा।'' देवीदीन के मुँह से जो सवाल निकले है, वे प्रेमचंद के हैं और आज भी उतने ही सच हैं। देवीदीन के घर में रहते हुए रमानाथ भी सोचता था, "कुंजी बहुमत के हाथों में रहेगी और अभी दस-पाँच बरस चाहे न हो, लेकिन आगे चलकर बहुमत किसानों और मजूरों का हो जायेगा।'' यहाँ जनतांत्रिक विप्लव की ओर संकेत है। मध्यवर्ग ऊँच-नीच और जाति-मर्यादा का बहुत ध्यान रखता है। लेकिन राष्ट्रवादी आंदोलन तथा देवीदीन के घर पर मिले स्नेह के कारण रमानाथ के मन से भेदभाव दूर हो रहे

थे। उसके चरित्र का यह परिवर्तन बाहरी था, क्योंकि प्रलोभनों के सामने पड़कर उसके पुरातन संस्कार पुन: उस पर हावी हो गये और स्वार्थवश वह अपनी आत्मा तक बेच देने के लिए तैयार हो गया। वह डरपोक था। अत: दारोगा ने उसे सहजता से फाँस लिया। यह ट्रैजडी सिर्फ रमानाथ की नहीं थी और न यह अंतर्विरोध रमानाथ का खास अपना था। यह कथा पूरे मध्य वर्ग की थी। इसका एक बड़ा हिस्सा अंग्रेज सरकार का मुसाहिब था जिसका सामंती-पूँजीवादी सिद्धांतों से कोई वास्तविक विरोध नहीं था।

भारतीय मध्य वर्ग का सामाजिक विश्लेषण करें तो देखेंगे कि उच्च मध्य वर्ग का व्यक्तिगत लक्ष्य था-स्वतंत्रता। स्वाधीनता-आंदोलन के बड़े नेता इसी श्रेणी से उभरे थे। निम्न मध्य वर्ग का लक्ष्य सम्मान प्राप्त करना था। दस आदमी उसकी कदर करें, इस वर्ग के लोग इतना ही चाहते थे। बीच के मध्यवर्गीय लोगों का लक्ष्य था अपना व्यक्तिगत भविष्य निर्मित करना। रमानाथ पहले तो सिर्फ सम्मान का भूखा था, लेकिन उसने सरकारी मुखबिर बनना स्वीकार किया, अपना सुंदर भविष्य बनाने के लिए। वह एक पर्त ऊपर उठा। उसने जीवन में कष्ट झेला था और मजा भी लिया था। अत: सामने सुखी जीवन की संभावनाएँ देखकर, कष्टों का वरण करने की नैतिकता उसमें पैदा न हो सकी। रमानाथ के मन में देवीदीन, बुढ़िया और जालपा के प्रति जितनी भी सहानुभूति हो, स्वतंत्रता सेनानियों के खिलाफ झूठे मुकदमे में गवाही देकर उसे जो सरकारी कृपा मिलती, उससे वंचित होने की वह कल्पना नहीं कर सकता था। इस मुकदमे पर मेरठ षड्यन्त्र केस का प्रभाव कहा जाता है। अंग्रेज सरकार स्वाधीनता-सेनानियों को तंग करने के लिए उन पर डकैती के मुकदमे लाद देती थी और प्रलोभन देकर इनके खिलाफ झूठी गवाहियाँ भी इकट्ठी कर लेती थी। आतंककारी पुलिस अपना दमन-चक्र तीव्र करने के लिए कुछ लालची नागरिकों को तमगा पुरस्कार और अच्छी नौकरियाँ उसी प्रकार दे देती थी, जिस प्रकार नेपोलियन या हिटलर ने अपने सैनिकों का आर्थिक स्तर ऊँचा कर देने के साथ-साथ अपने नागरिकों को भी ढेर सारे प्रलोभन दिये थे या पूँजीवादी सरकारें आज भी उपाधियाँ वितरण करती हैं। प्रेमचंद ने पुलिस विभाग के भ्रष्टाचार को खोलकर रख दिया, जो उस समय एक साहसिक कदम था। रमानाथ ऐसे प्रलोभनों में घिरकर सुविधावादी हो जाता है। कभी जालपा को आभूषणों का मोह था, अब रमानाथ आपादमस्तक अंग्रेजी रागरंग में डूब गया था। दोनों जिंदगियों के बीच एक नयी दीवार खडी हो गयी थी।

रमानाथ को अपनी राष्ट्रवादी-विरोधी भूमिका का बोध था। वह पुलिस विभाग के प्रलोभनों में फँसकर विलासिता में लिप्त था एवं अद्‌भुत रईसी का जीवन बिता रहा था। फिर भी वह अपने इस मानसिक अंतर्द्वंद्व से कभी मुक्त नहीं हो सका कि उसकी गवाही से कई बेगुनाहों को भारी सजा मिलेगी। जालपा के खत ने उसका अंतर्द्वंद्व और तीव्र कर दिया। उसे इसका भी पता चला कि उस पर गबन का कोई मुकदमा नहीं है, उसे पुलिस ने धोखा दिया है। जालपा उसे झूठी गवाही देने से रोकना चाहती थी, क्योंकि इससे अपयश होता। मुलाकात होने पर वह और दबाव के साथ बयान बदलने का आग्रह करती है। जालपा के व्यक्तित्व में राष्ट्रवादी उभार आता है, उसमें सम्मानित जिंदगी जीने की अभिलाषा प्रबल हो उठती है। वस्तुत: मध्य वर्ग का एक दूसरा हिस्सा भी था, जो राष्ट्रवादी आंदोलनों में शरीक था। उसमें कष्ट सहकर भी सेवा, राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावनाओं का प्रसार करने का गहरा माद्दा था। रमानाथ की दृष्टि भिन्न थी, "जिस मुँह से एक बात कही, उसी मुँह से मुकर जाऊँ, यह तो मुझसे न होगा। फिर मुझे कोई अच्छी जगह मिल जायेगी। आराम से जिंदगी बसर होगी। मुझमें गली-गली ठोकर खाने का बूता नहीं है।........दुनिया में सभी थोड़े ही आदर्श पर चलते हैं। मुझे क्यों उस ऊँचाई पर चढ़ाना चाहती हो, जहाँ पहुँचने की शक्ति मुझमें नहीं हैं।" इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि प्रेमचंद जिस युग में लिख रहे थे, उसमें स्त्रियाँ ही पुरुषों को मार्ग दिखा रही थीं। पुरुष स्खलित होते थे, नारी उन्हें सही मार्ग पर लाती थी।

'गबन' की जालपा 'सेवासदन' की सुमन अथवा 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा की तुलना में अधिक मुखर ही नहीं है, अपने राष्ट्रीय-सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यधिक जागरूक भी है। सुपरिटेंडेंट साहब से सारा भंडाफोड़ करने के लिए वह स्वयं तैयार होती है और सम्मानित जीवन के लिए पति के विरुद्ध जाने का निर्णय भी कर लेती है। वह जज साहब से सारा वृत्तांत कह देना चाहती है, बिना परवाह किये कि जज झूठी गवाही का इल्जाम लगाकर उसके पति की सजा भी कर सकता है। उसके चरित्र में उदात्तता और त्याग की भावना आ गयी थी। निरपराध व्यक्तियों को सजा मिलने पर जालपा सर्पिणी की भाँति फुंफकार कर कहती है, "जाओ, शौक से जिंदगी के सुख लूटो। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं है। मैंने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम

भी समझ लो, मैं मर गयी। बस, जाओ। मैं औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे न मार सँकू, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी।'' वह अपने स्वार्थी पति को धिक्कारती है। दिनेश को फाँसी की सजा मिल जाने पर वह उसके दुखी परिवार की सेवा में जुट जाती है। वह अपने कर्तव्य-भाव में अपनी वेदना डुबो देती है। अंग्रेजों के प्रलोभनों में फँसने के स्थान पर स्वराज्यवादियों के साथ काम करती है।

प्रेमचंद ने देखा कि भारत की नारी में मुक्ति की तड़प भी है। उसमें बेजोड़ मानवीय गुण हैं। अपने जीवन के मंसूबे बाँधते हुए जालपा ने खेतीबारी को ही अपने जीवन की सही दिशा माना, जबकि रमानाथ को शहर में चाय की दुकान खोलना अच्छा लगता था। इससे मध्य वर्ग के भीतर दो तरह की मनोवृत्तियों के संकेत मिलते हैं। जालपा सच्चाई की साधना की ओर बढ़ती है, जबकि रमानाथ की सौंदर्य-उपासना उसे एक वेश्या जोहरा की गोद में ला पटकती है। जालपा के जीवन में कठोर संघर्ष है, रमानाथ में विलासिता की भावना है। दोनों को महसूस होता है कि उनकी ज़िंदगियाँ समानांतर लकीरों की तरह हैं।

फिर भी रमानाथ की उद्विग्नता समाप्त नहीं हुई। विलासिता में वह जितना अधिक डूबा, थोड़े काल बाद उतना ही इससे विराग हो गया। गलत जीवन के चलते उसे बहुत कुछ खो देना पड़ा था। वह अपने जीवन में अकेलेपन का गहरा अनुभव करने लगा। जोहरा को भी उससे सचमुच लगाव हो गया था। उसने रमानाथ को जालपा की खबर दी। उसे बतलाया कि जालपा त्याग और सेवा की मूर्ति है। आजकल वह दिनेश के घर की देखभाल करती है। रमानाथ की वर्गीय बेचैनी बढ़ गयी। वह अंग्रेज सरकार की सारी सुविधाओं को लात मारने की सोचने लगा। उसे अपने पाप का बोध हो रहा था। उसे त्याग, सादगीपूर्ण जीवन और राष्ट्रीय सेवा के भावों से आपूरित जालपा के नारी-व्यक्तित्व में एक रोशनी झलक रही थी। वेश्या होने के बावजूद जोहरा के प्रेम से एक करुण निश्छलता फूट रही थी। देवीदीन की सहनशीलता और बुढ़िया का मातृत्व उसे रुला रहा था। उसने जज के सामने बयान बदलकर पाशा पलट दिया। सभी अभियुक्त मुक्त कर दिये गये। प्रेमचंद ने मध्य वर्ग की नयी सामाजिक भूमिका की ओर इशारा किया, "अब रमानाथ के जीवन में एक नया परिवर्तन होता है, ऐसा परिवर्तन जो एक विलासप्रिय पदलोलुप युवक को धर्मनिष्ठ और कर्तव्यशील बना देता है।''

रमानाथ को अब जाकर जीवन से सच्चा अनुराग हुआ। देवीदीन ने गाँव पर जमीन् ली, खेती जमायी, गाय-भैसें खरीदीं। रमानाथ भी उसके साथ कृषक का जीवन व्यतीत करने लगा। रतन बीमारी के बाद चल बसी थी और जोहरा अकेली रह गयी थी। एक दिन् नदी किनारे जालपा और जोहरा के साथ रमानाथ भी खड़ा था कि अचानक एक नाव उलट गयी। लोग डूबने लगे। जोहरा ने देखा कि एक स्त्री डूब रही है। उसके साथ बच्चा भी है। रमानाथ अभी पैंतरा ही भर रहा था कि सेवा-भावना से प्रेरित जोहरा नदी में कूद पड़ी। लहरों का वेग तेज हो गया और वह स्वयं डूबने लगी। पुरुष होकर भी रमानाथ कुछ न कर सका। वह दुविधा की स्थिति में था। जान को जोखिम में डालने की शक्ति उसमें नहीं थी। उसके संस्कार भिन्न थे। जोहरा डूब गयी। कर्त्तव्य की बलिवेदी पर उसका अंत हो गया। प्रेमचंद ने सीमांत मनुष्य की यह हालत भी दिखायी, ''रमानाथ की जबान आत्मधिक्कार ने बंद रखी थी और जालपा की शोक और लज्जा ने।'' प्रेमचंद जोहरा के चरित्र का निर्वाह नहीं कर सके, क्योंकि वह एक वेश्या थी। 'सेवासदन' में उन्होंने सुमन को आश्रम में भेज दिया और 'गबन' में जोहरा को नदी में डुबो दिया, लेकिन यह अवश्य बतलाया कि वेश्या में भी मनुष्यता होती है।

प्रेमचंद ने 'गबन' में मध्यवर्गीय जीवन की बुरी दशा का चित्र खींचा, इस वर्ग की अनैतिकता और स्वार्थपरता की ओर संकेत किया। लेकिन उनका मूल उद्देश्य इस वर्ग के जीवन में परिवर्तन की संभावनाओं का पता लगाना था। मध्य वर्ग अपने हित को सर्वोपरि महत्व देता है। पर इसमें एक ऐसी प्रेरणा शक्ति भी है, जो उसे सामाजिक परिवर्तन में हिस्सेदार बनाती है। इस वर्ग की नारियों की स्थिति सबसे अधिक दीन-हीन है। उपन्यास में विधवा रतन मणिभूषण के आगे कितनी लाचार है, स्पष्ट है। निम्न वर्ग की नारियाँ मेहनतकश होती हैं, इसलिए वे इतनी लाचार नहीं होती। देवीदीन की पत्नी सब्जी बेचती है, उसकी आवाज देवीदीन जितनी ही ऊँची है। कथाकार ने मध्यवर्गीय नारियों की विडंबनापूर्ण स्थिति के संदर्भ में जालपा का एक नया उदाहरण रखा है और दिखाया है कि मध्य वर्ग में अनंत संभावनाएँ हैं। जिस तरह जालपा ने अपने स्वत्व को पहचाना, रमानाथ का मध्यवर्गीय भटकाव दूर किया तथा राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया, विडंबनाओं और अंतर्विरोधों से घिरे मध्य वर्ग के दूसरे लोग भी अपना सही स्वत्व पहचान सकते हैं, भटकाव से मुक्त हो सकते हैं तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में अपने महान दायित्व का संपादन कर सकते हैं।

16. 'गबन'

कृष्णचन्द्र लाल

सामान्यतया आलोचकों ने 'गबन' को स्त्री की आभूषणप्रियता की ट्रेजडी माना है किन्तु पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद यह धारणा खण्डित हो जाती है। यद्यपि यह सच है कि इस उपन्यास की कथा इसकी नायिका जालपा के आभूषण-प्रेम से आरम्भ होती है और बराबर उसी से गति पाती रहती है किन्तु उपन्यास का मूल उद्देश्य यह बताना कतई नहीं है कि एक स्त्री के आभूषण प्रेम का कितना भीषण दुष्परिणांम होता है। यदि यह दिखाना प्रेमचन्द जी का उद्देश्य होता तो वे रमानाथ के चरित्र को इस तरह पतित रूप में प्रस्तुत नहीं करते। रमानाथ जिन विकट परिस्थितियों के भँवर-जाल में पड़ता है वे जालपा के आभूषण प्रेम से उतना उद्भूत नहीं है जितना कि स्वयं उसकी चारित्रिक कमजोरी की उपज है। ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि प्रेमचन्दजी बार-बार यह एहसास कराते रहते हैं कि रमानाथ परिस्थितियों के जो थपेड़े खा रहा है वे उसी की निर्मिति हैं। ज़ालपा की नहीं, चाहे वह उसका उधार चन्द्रहार लाना हो या उधार पाटने के लिए उसके आभूषणों की चोरी करना हो या रतन के रुपयों से अपने उधार को पाटने की धांधली हो या म्यूनिसिपैलिटी के रुपयों को घर लेकर आने की चालाकी हो या रुपया न दे पाने पर घर छोड़ कर भाग जाना हो। इन सभी घटनाओं के मूल में स्वयं रमानाथ और उसकी कमजोरियाँ हैं जालपा या जालपा का आभूषण-प्रेम नहीं। उसका आभूषण-प्रेम तो आग में घी का काम करता है क्योंकि रमानाथ को जलाकर राख कर देने वाली आग, जिसे उसका मध्यवर्गीय चरित्र कहना चाहिए, पहले से ही मौजूद थी।

प्रेमचन्द जी ने जालपा को जितना ही आभूषण की प्रेमिका चित्रित किया है उतना ही उससे निस्पृह भी। वह यदि यह प्रण करती है कि जब तक चन्द्रहार नहीं आ जायेगा कोई दूसरा गहना न पहनूँगी तो इसलिए कि रमानाथ ने अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाकर झूठी शान बघारी और धनपति होने का बोध कराया। यदि घर में आते ही उसे यह पता चल जाता कि यहाँ जीने-खाने की ही किल्लत है तो वह शायद गहनों के लिए जिद करने को कौन कहे, उनके नाम तक न लेती। यह विश्वास करने के लिए समय-समय पर व्यक्त किये गये उसके विचार ध्यातव्य हैं। जब जालपा के गहने चोरी चले गये तो रमानाथ की कृत्रिम सहानुभूति के उत्तर

में उसने कहा–"तो मैं तुमसे गहनों के लिये रोती तो नहीं हूँ। भाग्य में जो लिखा था वह हुआ × × × जो औरतें गहना नहीं पहनतीं, क्या उनके दिन नहीं कटते?''

जालपा के ये वाक्य उसके चरित्र की उदात्तता का परिचय देते हैं उस निम्नता का नहीं जो पति को पतित करती है या उसे दुष्कर्म के लिए बाध्य करती है। प्रेमचन्दजी ने निरन्तर जालपा के चरित्र को आभा-मण्डित किया है। यही इस बात का सबूत है कि वे उसकी आभूषण-प्रियता को उतना निन्द्य नहीं मानते हैं जितना कि रमानाथ की प्रदर्शन-भावना, झूठीमूठी शान, और मिथ्या गौरव की भावना को। उन्होंने अनेक प्रसंगों में यह दिखाया है कि जालपा ने एक आदर्श स्त्री का प्रमाण दिया है और रमानाथ ने एक प्रवंचक एवं मिथ्यावादी पति का। जब रमानाथ ने उससे गहनों को उधार लाने की बात कही थी तो जालपा ने बड़ी दृढ़ता से कहा था–"नहीं! मेरे लिए कर्ज ले की जरूरत नहीं। मैं वेश्या नहीं हूँ कि तुम्हें नोच खसोट कर अपना रास्ता लूँ। मुझे तुम्हारे साथ मरना और जीना है। अगर मुझे सारी उम्र बे-गहनों के रहना पड़े तो भी मैं कर्ज लेने को न कहूँगी।''

अपनी दुष्परिणति के लिए रमानाथ स्वयं जिम्मेदार है, यह तथ्य उसे भी ज्ञात था। एक स्थान पर उसके पश्चाताप का चित्रण करते हुए प्रेमचन्दजी लिखते हैं–"जालपा से अपनी असली हालत छिपाकर उसने कितनी भारी भूल की। वह समझदार औरत है। अगर उसे मालूम हो जाता कि मेरे घर भूंजी भांग नहीं है तो वह मुझे कभी उधार गहने न लेने देती। उसने तो कभी अपने मुंह से कुछ नहीं कहा। मैं ही अपनी शान जताने के लिए मरा जा रहा था।'' जब सुनार का प्यादा तकादे के लिए आया तो ढोल की सारी पोल खुल गयी। उसके चले जाने के बाद जालपा ने रमानाथ को समझाते हुए कहा–"जब तुम्हारी आमदनी इतनी कम थी तो गहने लिए ही क्यों? मैंने तो कभी जिद न की थी और मान लो, मैं दो-चार बार कहती भी तो तुम्हें समझ-बूझकर काम करना चाहिए था।'' रमानाथ के पास यह समझ-बूझ ही न थी। उसकी समझ को उसके मिथ्या गौरव और प्रदर्शन की भावना ने खा लिया था जिसके कारण वह अपनी पत्नी से ही पर्दा रखने लगा था। पति-पत्नी के बीच जब इस तरह प्रवंचनापूर्ण सम्बन्ध होगा तो उसका वही आत्मघाती परिणाम होगा जो रमानाथ का हुआ।

इसी उपन्यास में-रतन और देवीदीन की बुढ़िया-दो और स्त्रियाँ हैं जिन्हें गहनों से विशेष लगाव है किन्तु रतन जहाँ एक धनी परिवार की और अपने पति की लाड़ली पत्नी है, वहाँ बुढ़िया उद्योगशील एवं कर्मठ; वह अपने पति के बूते पर गहनों का शौक नहीं पूरा करती। इसलिए हमें इन दोनों स्त्रियों की आभूषण-प्रियता खलती नहीं किन्तु जालपा की खलती है तो इसलिए वह एक छद्मपूर्ण परिस्थिति में जाती है। यदि जालपा को अपनी वास्तविक आर्थिक दशा का परिज्ञान होता (जैसा कि लेखक ने बार-बार इस पर बल दिया है कि उसे वस्तुस्थिति से परिचित होने का कभी मौका नहीं दिया गया और यदि ऐसा समय आया भी तो बड़े खूबसूरत तरीके से उसे ढांप दिया गया) तो वह आभूषणों की जरा सी भी लालसा न व्यक्त करती। और तब उसकी आभूषण-प्रियता रतन या बुढ़िया की आभूषण-प्रियता के समक्ष एकदम नगण्य साबित होती। हाँ, जालपा का आभूषण-प्रेम इस उपन्यास का मूल कथ्य तब हो सकता था यदि वह उनके लिए किसी प्रकार की कृतघ्नता या अविवेकपूर्ण व्यवहार का परिचय देती जैसा कि उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'गोखरू' कहानी की नायिका ने किया है। उसे अपने गोखरूओं से इतना प्रेम था कि उन्हें उसने अपनी मृत लड़की के हाथ से निकाल लिया।

जालपा तो ऐसी स्त्री है जो परिस्थिति के अनुसार जीना जानती है। यदि परिस्थिति भोग-विलास की है तो वह भोग-विलास कर सकती है यदि स्थिति फांके मारने की है तो वह बिना आह भरे कई दिनों तक भूखी रह सकती है। वह पति के सुख के कम किन्तु दुख के दिनों की 'साथिन' अधिक है। अपने इस चरित्र का पूरा प्रमाण उसने दिया है। उसके जिन गहनों को चुरा कर रमानाथ ने अपना कर्ज अदा किया या जिन्हें उधार खरीदा और आर्थिक-दयनीयता प्रकट न हो सके इसके लिए एक के बाद एक छल किया, उन गहनों को जालपा ने बड़ी सरलता के साथ बेचकर म्यूनिसपैलिटी के रुपयों को जमा कर दिया और ऐसा करने में उसे रंचमात्र भी क्लेश नहीं हुआ, बल्कि बड़े गौरव की अनुभूति हुई–"जिस हार को उसने इतने चाव से खरीदा था, जिसकी लालसा उसे बाल्यकाल ही में उत्पन्न हो गयी थी, उसे आधे दामों में बेचकर उसे जरा भी दुख नहीं हुआ बल्कि गर्वमय हर्ष का अनुभव हो रहा था।" उपन्यास की ये पंक्तियाँ जालपा के गौरवशाली चरित्र को उद्घाटित करती हैं जिसका आगे हम भव्य विकास देखते हैं। कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि प्रेमचन्दजी ने उपन्यास के उत्तरार्द्ध में जालपा के जिस

भव्य एवं गौरवशाली चरित्र को चित्रित किया है वह अस्वाभाविक एवं मूलहीन आदर्श की सृष्टि है। मेरे विचार से ऐसे आलोचकों की दृष्टि जालपा के आभूषण-प्रेम में फँस जाने के कारण वास्तविकता से दूर रह गयी है। वे उसके प्रारम्भिक चरित्र में गहरे पैठी हुई आदर्श, त्याग और कर्त्तव्य की भावना को लक्षित नहीं कर सके हैं। जालपा के हृदय में गहनों के प्रति अगाध प्रेम अवश्य है किन्तु इसके साथ ही उसमें उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय का विवेक भी है। वह एक स्थान पर कहती है–"क्या मैं इतना भी नहीं जानती कि संसार में अमीर-गरीब दोनों ही होते हैं? क्या सभी स्त्रियाँ गहनों से लदी रहती हैं? गहना न पहनना क्या कोई पाप है? जब जरूरी काम से रुपये बचते हैं तो गहने भी बन जाते हैं। पेट और तन काटकर, चोरी या बेईमानी करके तो गहने नहीं पहने जाते। क्या उन्होंने मुझे ऐसी गयी-गुजरी समझ लिया?'' जिस स्त्री में इतना विवेक हो, जिसके पास जीने के लिए इस तरह का व्यावहारिक दर्शन हो उसे आभूषणों की कठपुतली कहना सरासर अन्याय है। अतः 'गबन' उपन्यास की ट्रेजडी को स्त्री के आभूषण-प्रेम की ट्रेजडी कहना गलत है।

वास्तव में यह मध्यवर्गीय मनुष्य के आत्म प्रवंचनापूर्ण चरित्र की करुण गाथा है जिसे प्रेमचन्द जी ने मनोवैज्ञानिक सच्चाई के साथ चित्रित किया है। इस दृष्टि से यह उपन्यास मनोवैज्ञानिक यथार्थ का उपन्यास बन गया है। रमानाथ जिस मध्यवर्गीय मनोवृत्ति से ग्रस्त है वह है प्रदर्शन और मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति। मध्यवर्ग जाहिर है, अमीर और गरीब के बीच की चक्की में जीता है। वह न तो अमीर जैसा जीवन जी सकता है और न अपनी वास्तविकता में जीकर निम्नवर्ग के आस-पास रह सकता है क्योंकि वह एक ओर अपने को निम्नवर्ग से विशिष्ट एवं उच्च रखना चाहता है तो दूसरी ओर अमीर के समानान्तर बैठना चाहता है। उसकी यह मनोवृत्ति उसे एक झूठे संसार में जीने के लिए मजबूर कर देती है। रमानाथ इसी वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र है जिसकी जीवन गाथा को पढ़कर यह सत्य भलीभांति हृदयंगम हो जाता है कि इस वर्ग का चरित्र आत्मघाती एवं प्रवंचनापूर्ण है। कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि दयानाथ जैसे यथार्थ-जीवी, सत्यप्रिय एवं चरित्रवान पिता का पुत्र होते हुए भी रमानाथ, घूसखोर, आत्मछली, प्रदर्शन-प्रिय और मिथ्याहंकारी कैसे हो गया? जो लोग इस प्रश्न से टकरायेंगे वे ही इस उपन्यास की मूल चेतना ही तह तक जा पायेंगे। दरअसल दयानाथ और रमानाथ के बीच

एक पीढ़ी का अन्तर है। यह अन्तर कालगत उतना नहीं है जितना कि प्रवृत्तिगत है। दयानाथ उस भारतीय आदर्श के प्रतीक हैं जो विश्वास, सत्य और सच्चरित्रता को अपनी पूँजी मानकर जीता है जिसके लिए घूस लेना-देना पाप है। उनके लिए जिन्दगी की अपेक्षा उनकी 'आबरू' प्यारी है। वे जिन्दगी की कीमत पर भी अपनी इज्जत बचाना धर्म समझते हैं। जब उन्हें पता चला है कि रमानाथ गहने उधार लाया है और उसकी कीमत चुकाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है तो उन्होंने उसे बहुत फटकारा - "क्यों बेशर्मी की बात करते हो जी, जब गिरह में रुपये न थे चीज लाये ही क्यों? और जब लाये हो तो जैसे बने वैसे रुपये अदा करो। कह दिया नालिश कर दो। नालिश कर देगा तो कितनी आबरू रह जायेगी। सारे शहर में उंगलियाँ उठेंगी।'' 'शहर में उंगालियाँ उठने' की चिन्ता तो रमानाथ में भी थी किन्तु वह समस्या का सामना उस यथार्थ रूप में नहीं करता जिस ढंग से दयानाथ करते हैं या चाहते हैं। उपन्यास में दयानाथ का चरित्र आरंभ से ही यथार्थजीवी के रूप में चित्रित किया गया है। वे मध्यवर्ग की उस जिन्दगी के कतई कायल नहीं है जिसकी ढोल में पोल ही पोल होती है जो भीतर से एकदम खोखला किन्तु बाहर से चमकदार और हरा भरा होता है। अपनी यथार्थ चेतना के कारण ही वे पहले बारात की टीम-टाम का विरोध करते हैं और जब शादी में उधार लिये गये रुपयों के भुगतान की बात आती है तो चाहते हैं कि जालपा से गहने लेकर वापस कर दिये जाएँ क्योंकि वे उनकी कीमत अदा करने में असमर्थ हैं। कहना न होगा कि उपन्यास की असली ट्रेजडी यहीं से शुरू होती है और रमानाथ की दिखावे एवं मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति अपना रंग दिखाना शुरू करती है। रमानाथ को यह प्रवृत्ति अपनी परम्परा से नहीं मिली बल्कि (उपन्यासकार की दृष्टि में भी) यह उस समय की नयी तालीम (अंग्रेजी शिक्षा) की देन है। मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय युवकों को उनके महान चारित्रिक आदर्शों से गिराकर पथभ्रष्ट एवं चरित्रहीन कर दिया। रमानाथ जैसे युवक उसके प्रथम प्रभाव की कड़ियाँ हैं। इस शिक्षा ने युवकों को विलायती चमक-दमक की ओर ऐसा उत्प्रेरित किया कि वे अपने गरिमामय जीवन-दर्शन को ताक पर धर बैठे । भारतीय जीवन दर्शन के मुताबिक चलना आग में तपकर सोना बनना था और विलायती जीवन दर्शन को अपना कर जल कर राख होना था। इस सत्य को प्रेमचन्द जी ने 'रमानाथ' के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है।

'रमानाथ' उस घर का युवक था जिसमें 'पाँच आदमियों का पालन बड़ी मुश्किल होता था। लड़के अच्छे कपड़ों को तरसते, स्त्री गहने को तरसती।' किन्तु इस घर की मजबूरियों से रमानाथ का कोई वास्ता न था। वह कालेज पढ़ रहा था जहाँ चक-दक को बोलबाला था। फलत: पढ़-लिखकर अपनी गिरी हालत ठीक करने की भावना से उद्वेलित होने के बजाय वह एक झूठी दुनिया की ओर आकृष्ट हो गया। उसकी उस झूठी दुनिया के सपनों को पूरा करने में उसके दोस्तों ने बड़ी मदद की। "वह शतरंज खेलता, सैर-सपाटे करता और माँ और छोटे भाइयों पर रौब जमाता। दोस्तों को बदौलत शौक पूरा होता था। किसी का चेस्टर मांग लिया और शाम को हवा खाने निकल गये। किसी का पंप-शू पहन लिया; किसी की घड़ी कलाई पर बांध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रो ने एक एक कपड़ा बनवा लिया तो बस सूट बदलने का साधन हो गया।" यही कारण है कि विवाह में औकात से ज्यादा खर्च करने में रमानाथ को कोई संकोच नहीं हुआ क्योंकि वह अपने उन मित्रों से परिचालित था जो रईसजादा थे फलस्वरूप "उसके मित्र ही इस समय (विवाह के समय) हर एक काम में अग्रसर हो रहे थे। जो काम करते दिल खोलकर। आतिशबाजियाँ बनवायीं तो अव्वल दर्जे की। नाच ठीक किया तो अव्वल दर्जे का, गाजे बाजे भी अव्वल दर्जे के। दोयम या सोयम का वहाँ जिक्र ही न था।" अव्वल दर्जे की भावना को भड़काने वाले युवामित्रों से घिरा रमानाथ इतना प्रदर्शनप्रिय और मिथ्याभिमानी हो गया कि आगे चलकर उसने इसकी आग में अपने और जालपा के जीवन को 'होम' कर दिया। उसकी प्रदर्शन भावना का चरम रूप हमें तब देखने को मिलता है जब रतन पहली बार उसके घर आती है।

रतन जब जालपा से घर आने के लिए कह देती है तो जालपा को जैसे अपनी यथार्थ स्थिति का थोड़ा-सा बोध होता है और वह रमानाथ से कहती है कि यह तो बहुत बुरा हुआ क्योंकि एक तो उसके घर जाने के लिए उसके पास कीमती कपड़े और गहने नहीं हैं दूसरे उसे भी अपने घर बुलाना पड़ेगा जहाँ किसी प्रकार की साज-सजावट नहीं है किन्तु रमानाथ अपनी ही तरह उसे फिर एक छलपूर्ण संसार में जीने के लिए उत्सुक कर देता है। वह कहता है - "विपत्ति कुछ नहीं है, सिर्फ यही ख्याल है कि मेरा मकान इस काम के लायक नहीं। मेज, कुर्सियां, चाय के सेट रमेश के यहाँ से माँग लाऊँगा।" लोगों की पड़ोस से माँगकर काम

चलाने की वह मनोवृत्ति कितनी व्यापक को गयी है यह आज का हर आदमी जानता है। दूसरों के सामान लाकर अपनी शान बना लेना लोग अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगे हैं। रतन के आने पर रमानाथ ने यही किया - माँगकर लायी हुई चीजों से घर को सजा दिया। रमानाथ के मित्र रमेश बाबू की "पहुँच अच्छे-अच्छे घरों में थी। सजावट की अच्छी-अच्छी चीजें बटोर लाये। सारा घर जगमगा उठा।'' घर को सजाते समय आईने के रखने को लेकर दयानाथ और रमेश में जो वाद-विवाद हुआ है वह भी यह दिखाने के लिए कि भारतीयों में अंग्रेजियत किस तरह सतही ढंग से घुस गयी है। रमेश ने बड़े मार्के की बात की है - "यह तो आपने हमारे बिगड़े हुए बाबुओं की सी बात कही, जो पहनावे में, कमरे की सजावट में, बोली में, चाय और शराब में, चीनी की प्याली में - गरज दिखावे की सभी बातों में तो अंग्रेजों का मुंह चिढ़ाते हैं। लेकिन जिन बातों ने अंग्रेजों को अंग्रेज बना दिया है और जिनकी बदौलत वे दुनिया पर राज्य करते हैं, उसकी हवा तक नहीं छू गयी है।'' कहना न होगा कि रमानाथ उन्हीं 'बिगड़े हुए बाबुओं' का प्रतीक है जिनके घर में भूंजी भांग भी नहीं है किन्तु सपने छप्पन प्रकार के व्यंजनों का देखते रहते हैं और किसी के घर से नमक, किसी से मिर्च और किसी से तेल मांगकर अपना काम चलाते हैं। रमानाथ की झूठी शान और प्रदर्शन की भावना ने पहले तो उसे उधार गहने लेने के लिए मजबूर किया, बाद में कर्ज मांगने के लिए भी बाध्य कर दिया। जो लोग कर्ज पर जीते हैं उन्हें रमानाथ के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए और रमेश बाबू के इन वाक्यों को गठिया कर रखना चाहिए - 'कर्ज से बड़ा दूसरा पाप नहीं। न इससे बड़ी दूसरी विपत्ति है। भविष्य के भरोसे पर चाहे जो काम करो, लेकिन कर्ज कभी मत लो।' किन्तु जो लोग झूठी शान जीने के आदी हो जाते हैं, जो फीस भी दे पाने की सामर्थ्य न रखते हुए भी अमीरों की होड़ में बच्चों को अंग्रेज स्कूल में पढ़ने भेजते हैं, रोटी तक की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ पत्नी के लिए गहने-साड़ी खरीदने में गर्व करते हैं और झूठी शान-शौकत में मग्न रहते हैं उनके सामने कर्ज लेने और गबन करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता है। वे ही रमानाथ की तरह प्रतिपल आत्महत्या या घर से भाग जाने की बात सोचते रहते हैं, पत्नी-बच्चों के साथ छलपूर्ण व्यवहार करते रहते हैं और जब नहीं जीते बनता तो किसी देवीदीन खटिक के घर में जाकर छुप जाते हैं और दिन को कौन कहे रात में भी लोगों को मुंह दिखाने से डरते हैं। प्रेमचन्द जी ने 'गबन' के माध्यम से इस सत्य को

हृदयंगम कराना चाहा है। इसीलिए इस उपन्यास का नाम 'गबन' रखा है क्योंकि रमानाथ पर असली विपत्ति 'गबन' करने के बाद आती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अपने इस उद्देश्य में प्रेमचन्द जी कहाँ तक सफल रहे हैं और उससे कृति के औपन्यासिक ढाँचे में कितनी कलात्मकता आयी है या क्षतिग्रस्त हुई है? इस संदर्भ में यह उल्लेख्य है कि 'गबन' उपन्यास की कथा दो खण्डों में विभक्त हो गयी है। फलस्वरूप उसके उद्देश्य की एकतानता टूट गयी है अत: वह अंत तक एक नहीं रह सका है। आरंभ से रमानाथ के म्यूनिसिपैलिटी में गबन करने तक की कथा एक पारिवारिक-सामाजिक समस्या को केन्द्र में रखकर चलती है। जालपा का आभूषण-प्रेम, रमानाथ की प्रदर्शन भावना और मिथ्या गौरव की प्रवृत्ति, कर्ज़खोरी और गबन इस समाज के ऐसे रोग हैं जो उसे निरन्तर खोखला एवं प्राणहीन कर रहे हैं। यह सत्य उपन्यास के पूर्वार्द्ध की कथा में बड़ी तल्खी के साथ महसूस होता है किन्तु जब रमानाथ रुपये न दे पाने की स्थिति में घर से भागकर देवीदीन के साथ कलकत्ता चला जाता है तो उपन्यास की कथा एक नया मोड़ ले लेती है और पूर्वकथा में व्यक्त मध्यवर्गीय समाज के यथार्थ का दंश हल्का किंवा समाप्त हो जाता है। कलकत्ता आकर रमानाथ कुछ दिन तक तो देवीदीन के घर से निकलता तक नहीं और जब एक दिन सकपकाता हुआ निकलता है तो पुलिस के द्वारा संदेह में पकड़ लिया जाता है। बाद में वे उसे क्रान्तिकारियों के खिलाफ गवाही देने के लिए मजबूर कर देते हैं। यहीं से उपन्यास की कथा राजनीतिक रंग ले लेती है और अमृतराय के शब्दों मे 'सामाजिक उपन्यास राजनीतिक उपन्यास बन जाता है।' उत्तरार्द्ध में प्रेमचन्दजी ने उस समय के (सन् 1930 के आस-पास) क्रान्तिकारियों के साथ हो रहे अन्याय का चित्रण किया है। किस तरह सरकार उनपर झूठे मुकदमे चलाकर उन्हें परेशान करती थी और किस प्रकार उन मुकदमों को चलाने के लिए लोगों पर दबाव डालकर, प्रलोभन देकर झूठी गवाही दिलाती थी। इस सबका बड़ा ही मार्मिक एवं यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। रमानाथ को एक डकैती के संदर्भ में क्रान्तिकारियों के खिलाफ गवाही देने के लिए पुलिस के द्वारा बाध्य किये जाने के बाद उपन्यास का पहला उद्देश्य - मध्यवर्गीय समाज की आत्मघाती मनोवृत्ति का चित्रण पीछे छूट जाता है और पुलिस के काले कारनामों और अत्याचारों का चित्रण प्रधान हो जाता है। ऐसा क्यों हुआ? प्रेमचन्द जी ने उपन्यास के सामाजिक स्वरूप को राजनीतिक रंग क्यों दे दिया? इसका उत्तर अमृतरायजी ने 'कलम का सिपाही' में दिया है। उन्होंने लिखा है कि

प्रेमचन्द जी जब इस उपन्यास को लिख रहे थे उस समय एक महत्वपूर्ण घटना हुई। 20 मार्च 1929 के आस-पास देश भर में जो तलाशियाँ और लोगों की धर-पकड़ हुई, लोगों पर झूठे मुकदमें चलाये गये, क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ बढ़ीं इन सबनें प्रेमचन्द जी को प्रभावित किया। अत: एक जागरूक साहित्यकार होने के नाते प्रेमचन्दजी ने उस युग चेतना और स्थिति को जो कि उस समय एक ज्वलन्त प्रश्न के रूप में उपस्थित थी, उपन्यास की उत्तरार्द्ध वाली कथा का केन्द्र बिन्दु बना लिया। वे लिखते हैं - ''ताज्जुब की बात होती अगर मुंशीजी का लिखना इस जबरदस्त हलचल का असर न लेता और उसने लिया, आनन-फानन लिया। एक अच्छे शिल्पी के सधे हाथों का काम है, इसलिए जोड़ का पता नहीं चलता, मगर गौर से देखो तो 'गबन' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में जोड़ है। दोनों का रंग, दोनों की हवा, दोनों की बू-बास सब कुछ अलग-अलग है।'' नंददुलारे वाजपेयी ने दोनों कथाओं के इस जोड़ को कमजोर बताते हुए लिखा है - ''यद्यपि इन दोनों कहानियों को प्रेमचन्द जी ने एक स्वाभाविक क्रम से जोड़ने की चेष्टा की है परन्तु उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से वे कथा की एकात्मकता की रक्षा नहीं कर सके हैं। यदि पूरा उपन्यास प्रयाग की घटनाओं से ही संबद्ध रहता तो उसमें रचना संबंधी पूर्णता आ जाती। उसका प्रभाव भी अधिक तीव्र होता और कदाचित मध्यवर्ग की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर तीव्र प्रकाश पड़ता।'' इसीलिए उन्होंने इस उपन्यास में दो उपन्यास की स्थिति स्वीकार की है एक सामाजिक उपन्यास की जिसकी कथा इलाहाबाद की घटनाओं से सम्बद्ध है और दूसरी राजनीतिक उपन्यास की जिसका सम्बन्ध कलकत्ते की घटनाओं से है। वाजपेयी जी की इस स्थापना से असहमत होने के लिए कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता किन्तु इतना मानना पड़ेगा कि प्रेमचन्द जी ने जिस कौशल के साथ सामाजिक उपन्यास में राजनीति संदर्भ जोड़ दिया है वह प्रशंसनीय है। यह प्रमाणित करता है कि वे ऐसे साहित्यकार थे जो किसी कीमत पर युग-संदर्भ से कटकर नहीं रह सकते थे। भले ही 'गबन' का उत्तरार्द्ध राजनीतिक हो गया हो, उद्देश्य की एकात्मकता खत्म हो गयी हो किन्तु इससे उनके पात्रों और कथा की विश्वसनीयता प्रभावित नहीं हुई है। जालपा जिसमें आरंभ में आभूषण-प्रेम ही प्रमुख रूप से दिखायी पड़ता है वह उत्तरार्द्ध में त्याग, बलिदान, साहस, राष्ट्रीय गौरव और कर्त्तव्यपरायणता की प्रतिमूर्ति बन जाती है। वह रमानाथ को हर कीमत पर क्रान्तिकारियों के खिलाफ गवाही देने से रोकती है और जब वह नहीं मानता है

तो उसके रास्ते से हट जाती है यहाँ तक कि उसके इस अपराध के फलस्वरूप फांसी की सजा पा जाने वाले दिनेश के बाल-बच्चों की जाकर परवरिश करने लगती है। भले ही लोगों को इसमें प्रेमचन्द की आदर्श भावना नजर आये किन्तु जालपा का यह चरित्र परिस्थितियों की उपज होने के कारण और उसके नारी हृदय की पहचान होने के कारण परम विश्वसनीय है। जो लोग 'गबन' के मूल उद्देश्य को एक स्त्री का आभूषण-प्रेम मानते हैं उन्हें सोचना चाहिए कि उपन्यास के उत्तरार्द्ध में वह आभूषण-प्रेमिका क्यों लुप्त हो गयी और उसकी जगह पर एक क्रान्तिकारी, राष्ट्रप्रेमिका का रूप क्यों प्रधान हो गया? रमानाथ के साथ ऐसा नहीं हुआ। उसमें जो मध्यवर्गीय कमजोरियाँ (संकोच, झूठी शान, प्रदर्शन आदि) थीं वे ही उसे निरन्तर पतित करती गयीं। उन्हीं के कारण वह पुलिस के प्रलोभन में आकर क्रान्तिकारियों के खिलाफ गवाही देने के लिए तैयार हुआ। उपन्यास के अन्त में उसने जो अपना बयान बदला है वह प्रेमचन्दजी की आदर्श भावना की देन है इसलिए इतना करने के बावजूद वह जालपा की सी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। इसी तरह रतन और जोहरा में भी जो परिवर्तन होता है वह स्वाभाविक न होकर आरोपित है। इन आदर्शवादी परिवर्तनों से कथा की मार्मिकता क्षतिग्रस्त हुई है और 'गबन' एक यथार्थवादी उपन्यास होते-होते रह गया है फिर भी यह 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' जैसा आदर्शवादी भी नहीं जहाँ सुधारवाद और हृदय परिवर्तन की भावना अपनी पूरी व्यापकता में मौजूद है। उनकी अपेक्षा 'गबन' में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक यथार्थ की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

NOTES